राजनीतिक भारत

(१६४०-५१)

लेखक

कन्हैयालाल वर्मा एम. ए

राजनीति-विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय,

बनारस

प्रकाशक—

नंदकिशोर ऐण्ड ब्रदर्स

बनारस।

प्रथम बार] १९५१ [मूल्य ४॥)

लेखक की अन्य पुस्तकें

भारतीय राजनीति और शासन-पद्धति (१८५८-१९३५)
(उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत)

भारतीय नागरिकता की भूमिका

संयुक्त-राज्य अमरीका का संविधान

भारतीय शासन

हाई स्कूल नागरिक शास्त्र

लोकनीति और राष्ट्रीयता

नाजी जर्मनी

प्रो० हीरालाल सिंह के सहयोग से—

नागरिक शास्त्र के मूल तत्व

भारत-राष्ट्र

के

निर्माताओं को

प्रस्तावना

सन् १९४० से सन् १९५१ तक के ग्यारह वर्ष भारत के राजनीतिक इतिहास में बड़े महत्व के हैं। इस काल के आरंभ में संसार, द्वितीय महासमर के पंजे में था। जापान के युद्ध में सम्मिलित होने के कारण भारत के द्वार पर ही युद्ध हो रहा था, किंतु भारतीय कांग्रेस लोकतंत्र के साथ सहानुभूति रखते हुए भी इस युद्ध में ग्रेट ब्रिटेन और मित्र-राष्ट्रों की सहायता करने में असमर्थ थी। स्वयं भारत को उस स्वतंत्रता से वंचित रखा जा रहा था, जिसके लिए मित्र-राष्ट्र लड़ रहे तथा उसकी सहायता माँग रहे थे। अतएव कांग्रेस ने युद्धकार्य में सहायता न देकर उस सहयोग की भी इतिश्री कर दी, जिसके अनुसार आठ भारतीय प्रांतों का शासन कांग्रेसी मंत्रिमंडल कर रहे थे। देश संवैधानिक संकट से आच्छादित हो गया और तनातनी का वातावरण क्रमश: बढ़ने लगा। यह परिस्थिति युद्ध के सफल संचालन के अनुकूल न थी। अतएव ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका और चीन, भारतीय समस्या को सुलझा हुआ देखना चाहते थे और भारतीय कांग्रेस स्वयं सम्मानपूर्ण समझौते के लिए प्रयत्नशील थी। फलस्वरूप सन् १९४० से १९४६ तक भारतीय संवैधानिक संकट के दूर करने के लिए कई प्रयत्न किये गये।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में इन्हीं प्रयत्नों का संक्षिप्त विवरण है। दूसरे में भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट सन् १९४७ और तीसरे में भारतीय डोमीनियन के संविधान का विश्लेषणात्मक विवरण दिया गया है। चौथे में भारत के नये संविधान के निर्माण तथा पांचवें से बारहवें परिच्छेदों में उसके महत्वपूर्ण अंशों का सारांश दिया गया है। तेरहवें

और चौदहवें परिच्छेदों में स्वतंत्रता के पश्चात भारत की आंतरिक व्यवस्था और पर-राष्ट्र-संबंध संचालन का आलोचनात्मक समीक्षा की गयी है।

मेरी जानकारी में अभी तक हिंदी में कोई ऐसी पुस्तक नहीं निकली है जिसमें सन् १९४० से सन् १९४८ के आठ बरसों की राजनीतिक बातों तथा स्वतंत्रता के पश्चात भारत के आंतरिक शासन और पर-राष्ट्र-संबंध संचालन पर यथोचित प्रकाश डाला गया हो। साधारण जनता और विद्यार्थियों दोनों के लिए एक ऐसी सुपाठ्य पुस्तक की बड़ी आवश्यकता थी। इस पुस्तक को मैंने इसी आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से लिखा है। मुझे आशा है कि पुस्तक सर्व साधारण और विद्यार्थियों दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

राजनीति विभाग
हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस
१–५–५१

कन्हैयालाल वर्मा

विषय-सूची

राजनीतिक भारत

पहला परिच्छेद

राजनीतिक वातावरण

सन् १६३५ से १६४७ तक

सन् १६३५ के संविधान पर कार्यारंभ—कांग्रेसी प्रांतों का शासन—गैर-कांग्रेसी प्रांतों का शासन—८ अगस्त सन् १६४० की सरकारी घोषणा—युद्ध-कालीन मंत्रिमंडल की या क्रिप्स की योजना—अगस्त सन् १९४२ की क्रांति—पाकिस्तान की मांग—सन् १६४२ से १६४४ तक—लॉर्ड वैवेल की योजना—शिमला सम्मेलन—कैबीनेट प्रतिनिधि-मण्डल के आने पूर्व—कैबीनेट प्रतिनिधि-मण्डल के भेजे जाने की घोषणा—प्रधान मन्त्री की घोषणा पर कांग्रेस का मत—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का आगमन और कार्यारंभ—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना पर भारतीय लोकमत—अंतःकालीन सरकार का निर्माण—मुस्लिम लीग का अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित होना—लंदन का सम्मेलन—संविधान-सभा और २० फरवरी की घोषणा—लॉर्ड माउंटबैटेन का आगमन—३ जून सन् १९४७ की घोषणा—३ जून की घोषणा और भारतीय लोकमत—अन्तिम निर्णय ।

सन् १६३५ के संविधान पर कार्यारंभ—भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ का ऐक्ट तीन गोलमेज़ परिषदों तथा संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी के विचार के पश्चात् ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा

स्वीकृत हुआ था। इसके द्वारा निर्मित संविधान समस्त भारत का संघ-संविधान था। केंद्र में संरक्षणों सहित उत्तरदायी शासन तथा प्रांतों में गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्वों तथा असाधारण अधिकारों के अतिरिक्त, प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था की गयी थी। किंतु इसमें राष्ट्रीय आधार का अभाव था और ब्रिटिश सरकार का निरीक्षण पूर्ववत बना हुआ था। साथ ही गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों के असाधारण अधिकार इतने अधिक थे कि इस ऐक्ट के द्वारा भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता का एक अंश भी मिलना असंभव समझा जाता था। फलस्वरूप भारत के सभी राजनीतिक दल, ऐक्ट से असंतुष्ट थे। कांग्रेस संपूर्ण ऐक्ट की विरोधिनी थी। मुस्लिम लीग को उसका सांप्रदायिक निर्णय तथा प्रांतीय स्वराज्य का अंश मान्य था, पर वह संघ-सरकार का विरोध कांग्रेस के समान ही कर रही थी।[1]

फिर भी यह ऐक्ट कार्यरूप में परिणत किया गया। होम गवर्मेंट की संस्थाओं, विशेषतया भारत-मंत्री की कौंसिल तथा स्वयं भारत-मंत्री की स्थिति में आपेक्षित परिवर्तन कर दिये गये। भारत का संघीय न्यायालय स्थापित हो गया और संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन अपने काम में लग गया। संविधान के संघीय अंश की तैयारियाँ होने लगीं और प्रांतीय स्वराज्य की स्थापना के लिए, संविधान के अनुसार प्रांतीय विधान-मंडलों तथा विधान-

---

१ फरवरी सन् १९३५ को, भारतीय असेंबली में अपने प्रस्ताव द्वारा, कांग्रेस ने ऐक्ट की संपूर्ण योजना का विरोध किया था। पर यह स्वीकृत न हो सका। उसके स्थान पर मुस्लिम लीग का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। यह योजना की सांप्रदायिक व्यवस्था और प्रांतीय अंश के पक्ष में था और संघीय अंश के विरुद्ध।

सभाओं का निर्वाचन हुआ। संविधान के विरुद्ध होते हुए भी कांग्रेस ने निर्वाचन संबंधी सारी कार्रवाई की और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आदेशानुसार निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, उसने निर्वाचनों में भी भाग लिया। फलस्वरूप पाँच प्रांतों में कांग्रेसवादियों का बहुमत हो गया। बंबई के ४९ प्रतिशत स्थान उसके हाथ आये, आसाम और सीमांत प्रदेश में कांग्रेसी सदस्य सबसे अधिक संख्या में पहुँचे। मुस्लिम लीग के अभ्यर्थी किसी भी प्रांत में बहुमत में न थे। पर दूसरे दलों से मिलकर वे गैर-कांग्रेसी प्रांतों में अपना बहुमत स्थापित कर सकते थे। अतएव प्रांतीय विधान-सभाओं के बहुसंख्यक दलों के नेता संविधानांतर्गत मंत्रि-परिषद् बनाने के लिए आमंत्रित किये गये; किंतु गवर्नरों के विशेषाधिकारों के प्रयोग के संबंध में संतोषपूर्वक आश्वासन प्राप्त किये बिना, कांग्रेसी नेताओं ने मंत्रि-परिषद् बनाने से इनकार कर दिया। अतएव सरकार और कांग्रेस दोनों की ओर से संवैधानिक स्पष्टीकरण हुआ जिसके परिणाम-स्वरूप कांग्रेसी बहुमत प्रांतों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई और अन्य प्रांतों में संयुक्त सरकारों की।

कांग्रेसी प्रांतों का शासन—जुलाई सन् १९३७ से अक्टूबर सन् १९३९ तक के लगभग सवा दो बरसों में संवैधानिक गुत्थियों के कारण कांग्रेसी प्रांतों में राजनीतिक परिस्थिति ने कभी-कभी संदिग्धमय रूप धारण किया। इसका मुख्य कारण यह था कि गवर्नरों और सिविल सर्विस के सदस्यों की मनोवृत्ति पहले जैसी बनी हुई थी और कांग्रेसी मंत्रि-परिषद् मर्यादापूर्वक शासन करना चाहते थे। सबसे पहले राजनीतिक बंदियों की रिहाई के संबंध में मतभेद उत्पन्न हुआ। कांग्रेस उनकी रिहाई का कार्यक्रम अपना चुकी थी। अतएव बिहार और संयुक्त-प्रांत के

मंत्रिपरिषदों और गवर्नरों में मतभेद हुआ जिसके कारण यहाँ के मंत्रिपरिषदों ने अपना त्यागपत्र दे दिया। देश का वातावरण पुनः निराशामय हो गया, पर गांधीजी और वाइसराय की दूरदर्शिता के कारण परिस्थिति बिगड़ने के पूर्व ही संभाल ली गयी और कांग्रेसी मंत्रिपरिषद् पुनः अपने रचनात्मक कार्यक्रम में लग गये। तत्पश्चात् उड़ीसा में मंत्रिपरिषद् के अधीनस्थ अधिकारी के स्थानापन्न गवर्नर बनाये जाने तथा मध्यप्रांत में गवर्नर द्वारा तीन मंत्रियों के बरखास्त किये जाने के कारण, संवैधानिक संकट की आशंका हुई; पर इसमें भी परिस्थिति बिगड़ने के पूर्व, संभाल ली गयी। राजकोट के संबंध में गांधीजी द्वारा आमरण उपवास के कारण भारत के राजनीतिक आकाश में पुनः काले बादल मंडराने लगे, पर वाइसराय के हस्तक्षेप और आश्वासन से संतुष्ट होकर उन्होंने अपना उपवास तोड़ दिया और इस कारण परिस्थिति पुनः बिगड़ने से बचा ली गयी।

किंतु ३ सितंबर सन् १९३९ को देश के सम्मुख ऐसी परिस्थिति आयी, जिसे संभालने में कांग्रेसी नेता और सरकारी अधिकारी असमर्थ रहे। उस दिन सम्राट की सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की और वाइसराय ने शिमला रेडियो स्टेशन से "पाशविक बल के प्रतिकूल मानव-स्वतंत्रता की रक्षा के लिए भारत से महान और प्राचीन संस्कृतियों वाले राष्ट्रों के योग्य, सहायता में विश्वास प्रकट किया।" कांग्रेस की सहानुभूति स्वतंत्रता और लोकतंत्र के साथ थी। "पर वह उस लड़ाई में भाग लेने में असमर्थ थी जो लोकतंत्रात्मक स्वतंत्रता के लिए लड़ी जा रही थी, जब उसे (भारत को) स्वयं ऐसी स्वतंत्रता से वंचित रखा गया था।" १७ अक्टूबर सन् १९३९ को, सम्राट की सरकार से अधिकार पाकर वाइसराय ने निम्नलिखित आशय का वक्तव्य निकाला—"सम्राट की सरकार

ने मुझे यह घोषित करने का अधिकार दिया है कि युद्ध के समाप्त होने पर भारत की विभिन्न जातियों, राजनीतिक दलों, विशेष हितों और भारतीय नरेशों के प्रतिनिधियों के परामर्श से संविधान में आवश्यक संशोधन करने के लिए, उनकी सहायता और सहकारिता प्राप्त करने को सम्राट की सरकार तैयार रहेगी।" इस घोषणा से भारत के राष्ट्रवादियों को लेशमात्र भी संतोष न हुआ। अतएव २२ अक्टूबर को कांग्रेस कार्य-समिति ने मंत्रिपरिषदों को त्यागपत्र देने का आदेश दिया। फलस्वरूप एक के पश्चात दूसरे कांग्रेसी मंत्रिपरिषदों ने अपना त्यागपत्र दे दिया और गवर्नरों ने संविधान को निलंबित करके, परामर्शदाताओं की सहायता से शासन का भार अपने ऊपर लिया।

गैर-कांग्रेसी प्रांतों का शासन—जिन दिनों कांग्रेसी बहुमत प्रांतों में, परामर्शदाताओं की सहायता से गवर्नर प्रांतीय शासन कर रहे थे, उन्हीं दिनों गैर-कांग्रेसी प्रांतों के मंत्रिपरिषद अपने-अपने प्रांतों का शासन भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अंतर्गत कर रहे थे। इनमें से प्रायः सभी मंत्रिपरिषद कांग्रेसी मंत्रिपरिषदों से इस बात में भिन्न थे कि वे एक-दलीय न होकर संयुक्त थे और उन पर कांग्रेस हाईकमांड की भाँति किसी संस्था का आधिपत्य न था। मुस्लिम लीग का आधिपत्य सन् १९४२ के पूर्व नहीं के बराबर था। अतएव इन प्रांतों का शासन उत्तरदायी सरकार के सिद्धांतों के अनुसार होता रहा। कूपलैंड (Coupland)[1] के मतानुकूल "मंत्रिपरिषद अपने विधान-मंडलों के अतिरिक्त किसी दूसरे के प्रति उत्तरदायी न थे। यदि वे अपने

१. Coupland: Indian Politics 1936-42 Part II pp 26-75.

विधान-मंडलों का विश्वास खो देते थे तो त्यागपत्र देकर अपने पद से अलग हो जाते थे"। उनका कार्यक्रम न्यूनाधिक वही था जो कांग्रेसी प्रांतों का, पर विरोधी होने पर भी वे संविधान के कार्यान्वित करने के पक्ष में थे, कांग्रेसी प्रांतों की भाँति उसके संहार के पक्ष में नहीं। अतएव उनमें और गवर्नरों में उस प्रकार के मतभेद का अभाव था, जो कांग्रेसी प्रांतों में पाया गया और जिसके कारण कांग्रेसी मंत्रिपरिषदों ने कई बार संवैधानिक संकट का सहारा पकड़ा। अपने संयुक्त संगठन के कारण गैर-कांग्रेसी मंत्रिपरिषद् किसी समस्या के विषय में वैसा कड़ा रुख न अख्तियार कर सकते थे, जैसा कांग्रेसी मंत्रिपरिषद् एक-दलीय होने के कारण अख्तियार कर सके। पंजाब, सिंध, बंगाल और आसाम के प्रांत इस प्रकार के मुख्य प्रांत थे। लोकमत में परिवर्तन के कारण उड़ीसा और उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत का शासन क्रमानुगत सन् १९४१ और सन् १९४३ से भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार हो रहा था। सन् १९४५ में भारत के ग्यारह प्रांतों में से छः में संवैधानिक संकट था और शेष में सन् १९३५ के संविधान के अनुसार शासन।

८ अगस्त सन् १९४० की सरकारी घोषणा—महासमर आरंभ होने के कुछ ही दिनों पश्चात् युरोपीय परिस्थिति भयंकर हो गयी। हॉलैंड और बेलजियम के पतन तथा फ्रांस की पराजय के कारण, भारत के कुछ कांग्रेसवादियों में ब्रिटेन के प्रति सहानुभूति का पुनरोदय हुआ और पूना के अधिवेशन में गांधी जी के विरोधात्मक विचारों के होते हुए भी, कांग्रेस कार्य-समिति ने देश की रक्षा के लिए अपनी सारी शक्तियाँ इस शर्त पर लगा देने का वचन दिया कि ब्रिटिश सरकार भारत की पूर्ण स्वतंत्रता की माँग को स्वीकार कर ले और तदनुकूल अविलंब केंद्र में राष्ट्रीय

सरकार को स्थापित करे।[1] फलस्वरूप ८ अगस्त सन् १९४० को, सम्राट की सरकार की अनुमति से, वाइसराय ने एक नयी घोषणा की जिसके महत्वपूर्ण अंशों का भावार्थ इस प्रकार है[2]—

(१) गवर्नर जनरल की इक्जीक्यूटिव कौंसिल बढ़ायी जायगी और उसमें कुछ प्रतिनिधि-भारतीय सम्मिलित किये जायँगे।

(२) एक युद्ध-परामर्श-दात्री कौंसिल स्थापित की जायगी। इसमें भारतीय रियासतों और देश के अन्य अंगों के भी प्रतिनिधि होंगे और निश्चित समय पर इसके अधिवेशन हुआ करेंगे।

(३) युद्ध-काल में ब्रिटिश सरकार भारतीय शांति और व्यवस्था का उत्तरदायित्व किसी ऐसी सरकार के हाथ में देने में असमर्थ थी जिसकी सत्ता भारतीय जनता के महत्वपूर्ण अंश मानने को तैयार न थे और वह यह भी न चाहती थी कि इन अंशों से जबरदस्ती ऐसी सत्ता स्वीकार करायी जाय।

(४) युद्ध के पश्चात, सम्राट की सरकार, कम से कम समय में, भारतीय राष्ट्रीय जीवन के प्रधान अंगों के प्रतिनिधियों की एक ऐसी सभा बुलाने की अनुमति देगी, जिसका काम भारत के लिए नया संविधान बनाना होगा और यथाशक्ति उसके शीघ्रातिशीघ्र निर्णय करने में सहायता पहुँचावेगी।

इस योजना में कांग्रेस की मांग ठुकरायी गयी थी। फलस्वरूप उसने इसे अस्वीकार कर दिया[3]। गांधी जी को पुनः व्यक्ति-

---

१. Indian Year Book 1947, pp 862-63.

२. Indian Year Book. 1947, p. 863.

३. कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आज़ाद के विचारानुकूल घोषणा में कोई भी ऐसी बात न थी जिसके आधार पर कांग्रेस और सरकार

गत् सविनय अवज्ञा का अधिकार दिया गया। उन्होंने इस सम्बन्ध में वाइसराय से भेंट की। पर कुछ परिणाम न निकला। फलस्वरूप आचार्य विनोबा भावे से व्यक्तिगत् सत्याग्रह आरंभ हुआ। वे गिरफ्तार कर लिये गये। लगभग ३०००० सत्याग्रही जेलों में बन्द हो गये और उनसे छः लाख रुपया जुर्माने की भाँति लिया गया[१]। किंतु कुछ दिनों के पश्चात् वे इस कारण छोड़ दिये गये कि उनका सत्याग्रह केवल सांकेतिक था[२]। फलस्वरूप देश में पुनः पूर्ण स्वराज्य की मांग तथा धुरी राष्ट्रों के विरोध की चर्चा होने लगी।

युद्ध-कालीन मंत्रिमंडल की या क्रिप्स की योजना— इन दिनों सामरिक परिस्थिति बड़ी भयंकर हो गयी थी। जापान ने युद्ध में प्रविष्ट होकर एक ही वार में बर्मा स्थित ब्रिटिश सेना को पराजित किया था और ऐसा विदित होने लगा था कि भारत पर भी बहुत ही शीघ्र आक्रमण होगा। अमरीका और चीन इस खतरे के निवारण के लिए, भारतीय समस्या को शीघ्रातिशीघ्र सुलझा हुआ देखना चाहते थे। अनेक ब्रिटिश समाचार-पत्र भी

एक दूसरे के निकट आ सकते। वर्धा में १८ अगस्त के अधिवेशन में कांग्रेस कार्य-समिति का निर्णय भी इसी प्रकार था। निकाले गये वक्तव्य, ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिपादित लोकतंत्र के सिद्धान्तों के ही विरुद्ध न थे वरन् भारतीय हितों के भी विरोधी थे।

१. Ganpat Rai : Congress Struggle P. 27.

२. श्री एन० एम० जोशी ने केंद्रीय असेम्बली में राजनीतिक बंदियों की रिहाई के संबंध में स्थगन-प्रस्ताव रखा था और गृह-सचिव ने इस प्रश्न पर सहानुभूति के साथ विचार करने का वचन दिया था।

इसी दिशा में प्रयत्नशील थे। भारतीय परिस्थिति भी, जापान की आश्चर्यजनक विजय के कारण, कुछ नाजुक सी थी। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने सितंबर सन् १९४० में युद्ध संबंधी जो प्रस्ताव पास किया था उसमें अहिंसा के आधार पर युद्ध में भाग लेना निषिद्ध न था। गांधी जी को पहले यह बात ज्ञात न थी। किंतु उन्होंने स्वयं प्रस्ताव की उक्त व्याख्या को स्वीकार करके अपने को अहिंसा में पूर्ण विश्वास रखने के कारण, कांग्रेस के नेतृत्व से अलग कर लिया और कांग्रेस कार्य-समिति ने उनके निर्णय को स्वीकार कर लिया। फल-स्वरूप अब भारत युद्ध के प्रयत्नों में भाग ले सकता था। किंतु ऐसी परिस्थिति का उत्पन्न करना ब्रिटिश सरकार के हाथ में था। खतरों के होते हुए भी ब्रिटिश सरकार अपनी मंद गति को बदलने को तैयार न थी। अगस्त सन् १९४० की घोषणा के लगभग दो बरस पश्चात उसने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को 'उचित और अंतिम' हल के प्रस्तावों को देकर भारत को भेजा। उन्होंने भारत में आकर २९ मार्च सन् १९४२ को निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया[1]—

इस देश (इंगलैंड) और भारत में, भारत को उसके भविष्यत् संबंधी दिये गये वचनों की पूर्ति की चिंता के कारण, सम्राट की सरकार ने स्पष्ट और निश्चित शब्दों में, वे तरीके निर्धारित किये हैं जिनको वह शीघ्रातिशीघ्र भारत द्वारा स्वशासन प्राप्ति के लिए अपनाना चाहती है। इनका ध्येय एक नयी भारतीय यूनियन का बनाना है, जो एक डोमीनियन होगी और जो यूनाइटेड किंगडम और दूसरी डोमीनियन से सम्राट के प्रति राजभक्ति के कारण संबंधित होगी, प्रत्येक बात में उसके समकक्ष होगी और भीतरी

---

१. Indian Year Book 1947. pp. 864-65.

तथा बाहरी किसी प्रकार की बातों में किसी के अधीन न होगी। अतएव सम्राट की सरकार ने निम्नलिखित घोषणा का निश्चय किया है—

१—युद्ध समाप्त होने के पश्चात् शीघ्रातिशीघ्र एक ऐसी निर्वाचित सभा स्थापित की जायगी जिसका काम भारत के लिए नये संविधान का निर्माण करना होगा।

२—इस सभा में भारतीय रियासतों के भाग लेने की व्यवस्था की जायगी।

३—निम्नलिखित शर्तों पर सम्राट की सरकार शीघ्रातिशीघ्र नव-निर्मित संविधान को स्वीकार तथा कार्यान्वित करने का वचन देती है—

(अ) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रांत नये संविधान को अपनाने के लिए तैयार न होगा तो उसे अपनी मौजूदा संवैधानिक स्थिति बनाये रखने का अधिकार होगा और उसके भविष्य में सम्मिलित करने की व्यवस्था की जायगी, यदि वह इसके पक्ष में निर्णय करे। सम्मिलित न होने वाले प्रांतों को, यदि वे चाहें, तो सम्राट की सरकार एक नया संविधान देने के लिए तैयार रहेगी जिसके अनुसार उन्हें भारतीय यूनियन का सा दर्जा मिल जायगा और उसके प्राप्त करने का वही मार्ग होगा जिसकी व्यवस्था की जाय।

(ब) सम्राट की सरकार और संविधान-सभा में एक संधि होगी। इसमें उन सब बातों का उल्लेख होगा जो अंगरेजों से भारतीयों के हाथ में उत्तरदायित्व देने के संबंध में होंगी। सम्राट की सरकार द्वारा दिये गये वचनों के अनुसार इसमें जातीय और धार्मिक अल्प-

संख्यकों की रक्षा की व्यवस्था होगी, लेकिन भारतीय यूनियन के उस अधिकार पर कोई बंधन न लगाया जायगा जिसके आधार पर वह ब्रिटिश-राष्ट्र-समूह के अन्य सदस्यों के साथ अपना भविष्य संबंध निर्धारित कर सके।

अमुक भारतीय रियासत संविधान में सम्मिलित होगी अथवा नहीं इसके कारण नवीन परिस्थिति के अनुरूप उसकी संधि-जनित व्यवस्था का दोहराना आवश्यक होगा।

४—लड़ाई के अंत के पूर्व जब तक प्रमुख भारतीय वर्गों के नेता कोई दूसरा समझौता न कर लें, संविधान-सभा की रचना निम्नलिखित ढंग से की जायगी—

प्रांतीय निर्वाचनों (जिनका किया जाना लड़ाई के अंत के पश्चात् आवश्यक होगा) के नतीजे के मालूम होने के पश्चात् प्रांतीय विधान-मंडलों की छोटी सभाओं का एक निर्वाचन-संघ बनेगा और यह अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार संविधान-सभा को चुनेगा। इसके सदस्यों की संख्या निर्वाचन-संघ की १/१० होगी। भारतीय रियासतें अपने प्रतिनिधियों को मनोनीत करने के लिए आमंत्रित की जायँगी। उनके सदस्यों की संख्या का उनकी समस्त जनसंख्या के साथ वही अनुपात होगा, जो समस्त ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का वहाँ की जन-संख्या के साथ होगा और उनके अधिकार भी ब्रिटिश भारतीय सदस्यों के समान होंगे।

५—वर्तमान संकटमय परिस्थिति में और जब तक नया संविधान तैयार न हो जाय, सम्राट की सरकार को भारत की रक्षा

का उत्तरदायित्व तथा उसका नियंत्रण और संचालन अपने हाथ में, तत्संबंधी संसार-व्यापी प्रयत्न के साथ-साथ रखना होगा, किंतु भारतीय सैनिक, नैतिक, तथा अन्य साधनों के पूर्ण रूप से संगठित करने का उत्तरदायित्व, भारतीय जनता के सहयोग के साथ-साथ भारत-सरकार का होगा। सम्राट की इच्छा है और वह भारतीय जनता के प्रभावशाली वर्गों के नेताओं को आमंत्रित करती है कि वे अपने देश, राष्ट्र-समूह और संयुक्त-राष्ट्रों के विचारों में शीघ्रातिशीघ्र प्रभावशाली भाग लें। इस प्रकार उन्हें उस काम के पूरा करने में सक्रिय तथा रचनात्मक सहायता देने का अवसर मिलेगा जो उनके देश की भावी स्वतंत्रता के लिए महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है।

इस योजना को प्रकाशित करते समय सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि वह केवल ऐसे प्रस्तावों के रूप में थी जिन्हें युद्ध-कालीन मंत्रिमंडल ने भारतीय जनता के नेताओं के समक्ष विचारार्थ उपस्थित किया था। उसका प्रकाशित किया जाना सम्राट की सरकार की किसी सरकारी घोषणा के समान न था। लेकिन यदि भारतीय जनता के विभिन्न वर्ग साधारणतया उसके अनुकूल होंगे तो वह इस प्रकार की सरकारी घोषणा करने के लिए तैयार थी।

इस घोषणा को चरितार्थ करने के लिए, सर स्टेफर्ड-क्रिप्स ने भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों के नेताओं से मुलाकात की। रूस में सफलता प्राप्त करने के कारण अंतर्राष्ट्रीय जगत् में उनका यश फैल चुका था। भारत में आने के पश्चात्, उन्होंने इस देश में भी अपनी प्रतिभा

का प्रदर्शन आरंभ किया। ऐसा विदित होता था कि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में अवश्य सफल होंगे, किंतु कुछ ही दिनों के पश्चात्, न जाने किन कारणों से, उनके उत्साह में कमी दिखलायी पड़ने लगी।[1] भारत की प्रमुख संस्थाओं ने उनकी योजना को अस्वीकार किया। कांग्रेस के अस्वीकार करने के कारण निम्नलिखित थे—

(क) घोषणा का संबंध युद्ध के अंत के पश्चात भविष्यत् से था।

(ख) संविधान-सभा के लिए कुछ ऐसे अंशों की व्यवस्था थी जो किसी के प्रतिनिधि न थे।

(ग) भारतीय रियासतों की जनता के हित पर बिल्कुल ध्यान न दिया गया था।

(घ) न सम्मिलित होने वाले प्रांतों की व्यवस्था भारत की एकता को खंडित करने का एक नया तरीका था।

(ङ) भारत की रक्षा का काम ब्रिटिश नियंत्रण में था।

हिंदू महासभा ने योजना का विरोध इस लिए किया था कि इसमें भारत के विभाजन की व्यवस्था थी, यद्यपि इस बात की

---

१. इसका कारण कुछ लोगों की दृष्टि में ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप था। असफलता के कारण कुछ लोग यह संदेह करने लगे थे कि क्या बेचारे क्रिप्स की पीठ में ब्रिटिश सरकार ने छूरा भोंक दिया था अथवा डीक्वेंसी (De Quiency) के शब्दों में चालाक क्रिप्स 'महज धोखेबाजी, छल-कपट, विश्वासघात और दोहरी चालों से काम ले रहे थे और उन्हें इस पर जरा भी पश्चाताप न था।" पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास खंड २, पृष्ठ ३८४।

बड़ी अस्पष्ट-सी संभावना थी। मुस्लिम लीग पाकिस्तान की अस्पष्ट स्वीकृति के लिए कृतज्ञ थी, पर चूँकि उसमें संशोधन की गुंजाइश न थी, अतएव योजना अपने मौजूदा रूप में मुस्लिम लीग को अमान्य थी। दलित वर्ग का विरोध इस लिए था कि उन्हें पर्याप्त संरक्षण न दिया गया था। गांधीजी ने योजना के संबंध में क्रिप्स से कहा था "अगर आपके वे ही प्रस्ताव थे तो आपने यहाँ स्वयं आने का कष्ट क्यों किया? अगर भारत के संबंध में आपकी यही योजना है तो मैं आपको सलाह दूँगा कि आप अगले ही हवाई जहाज से ब्रिटेन लौट जाइये।" उक्त विरोध के कारण क्रिप्स के नाम से संबंधित ब्रिटिश सरकार की घोषणा वापस कर ली गयी[1] और भारत की राजनीतिक परिस्थिति न्यूनाधिक वही हो गयी जो घोषणा के पूर्व थी।

अगस्त सन् १९४२ की क्रांति—क्रिप्स की विफलता के पश्चात भारतीय परिस्थिति पुनः भयंकर हो गयी। कई महत्वपूर्ण बातें हुई जिनमें से सर्वप्रथम मद्रास विधान-मंडल की कांग्रेस पार्टी का वह प्रस्ताव था जिसमें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से यह प्रार्थना की गयी थी कि यदि मुस्लिम लीग अड़ी रहे, तो उसका भारत से अलग होने का (पाकिस्तान संबंधी) दावा भावी संविधान के निर्माण के अवसर पर स्वीकार कर लिया जाय। भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इस प्रार्थना को १५ के विरुद्ध १२० मतों से अस्वीकार किया। दूसरी महत्वपूर्ण बात थी 'भारत छोड़ो' विचार का विकास।

१. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सर स्टेफर्ड क्रिप्स का ऐसा रुख 'कि या तो इस योजना को स्वीकार कीजिये अथवा ठुकरा दीजिये' और असफलता के पश्चात उसे वापस लेना खतरनाक और घातक था—प्रोफेसर लास्की।

गांधीजी को क्रमशः यह स्पष्ट हो गया था कि भारतीय समस्याओं के जटिल होने का मुख्य कारण देश में अंगरेजों का अस्तित्व था। अतएव उन्हें भारत को छोड़ देना चाहिये। "भारत और ब्रिटेन की रक्षा इसी में है कि अंगरेज ठीक समय में अनुशासित ढंग से भारत से हट जायँ।" "अभी तक शासक लोग यह पूछा करते थे कि भारत छोड़ने के समय वे शासन सत्ता किसको दें? मेरा (गांधीजी का) उत्तर है ईश्वर को दो और यदि यह अत्यधिक हो तो उसे अराजकता को दे दो।" १ गांधी जी के 'भारत छोड़ो' संबंधी विचार क्रमशः पुष्ट होते गये और जुलाई में वर्धा के अधिवेशन में कांग्रेस कार्य-समिति ने भी उन्हें स्वीकार कर लिया[२]। फलस्वरूप एक नये अहिंसात्मक आंदोलन की चर्चा होने लगी। भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बंबई के अधिवेशन में इस आंदोलन को अपना लिया[3]। गांधीजी ने अपने भाषण को इस प्रकार समाप्त किया—

१. Indian Year Book 1947. P. 867

२. कार्य-समिति के प्रस्ताव के महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार थे—"जो घटनाएं प्रति दिन घट रही हैं और भारतवासियों को जो-जो अनुभव हो रहे हैं, उनसे कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की यह धारणा पुष्ट होती जा रही है कि भारत में ब्रिटिश शासन का अंत अति शीघ्र होना चाहिये।···भारत की स्वतंत्रता न केवल भारत के हित में आवश्यक है, बल्कि संसार की सुरक्षा के लिए और नाजीवाद, फासिस्टवाद, सैनिकवाद और अन्य प्रकार के साम्राज्यवादों एवं एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के आक्रमण का अंत करने के लिए भी।···" पट्टाभि सीता-रामय्या—कांग्रेस का इतिहास, खंड २, पृष्ठ ३९५।

३. कमेटी ने अपने प्रस्ताव में कार्य-समिति के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए, आंदोलन संबंधी निम्नलिखित व्यवस्था की थी···"कमेटी भारत

"प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसात्मक होकर, हड़ताल, कामबंदी तथा अन्य अहिंसात्मक साधनों द्वारा अधिक से अधिक दूरी तक जाने की स्वतंत्रता है। सत्याग्रहियों को मरने के लिए, जीवित रहने के लिए नहीं, आगे बढ़ना चाहिये। जब व्यक्ति इस प्रकार मृत्यु की खोज तथा उसका सामना करने के लिए तैयार हो जायँगे तभी वे राष्ट्र को सजीव बना सकेंगे।" सरकार पर इस प्रस्ताव का स्वाभाविक असर पड़ा। उसने दमन के साधनों का प्रयोग पुनः आरंभ किया। कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये और किसी अज्ञात स्थान को भेज दिये गये। कांग्रेसवादी पुनः जेल की दीवारों के अंदर बंद हो गये। जनता नेता-विहीन हो गयी और वह आंदोलन जो अहिंसात्मक रूप में सोचा गया था, इस परिस्थिति के कारण, क्रमशः हिंसात्मक हो गया। तार काटे गये, रेल की पटरियाँ उखाड़ी गयीं, थानों में आग लगायी गयी, सरकारी अफ़सरों पर आक्रमण किये गये और रेलों के स्टेशन तथा डाकखाने लूटे गये। कई स्थानों पर समानांतर सरकारी संस्थाएँ

की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के अविच्छेद्य अधिकार का समर्थन करने के उद्देश्य से अहिंसात्मक प्रणाली से और अधिक से अधिक विस्तृत परिमाण पर एक विशाल संग्राम चालू करने की स्वीकृति देने का निश्चय करती है, जिससे गत २२ वर्षों के शांतिपूर्ण संग्राम में संचित की गयी समस्त अहिंसात्मक शक्ति का प्रयोग कर सके। यह संग्राम निश्चय ही गांधी जी के नेतृत्व में होगा और कमेटी उनसे नेतृत्व करने और प्रस्तावित कार्रवाइयों में राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन करने का निवेदन करती है।" पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास खंड २, पृष्ठ ४०२।

तक स्थापित की गयीं। सरकार ने भी अंधाधुंध दमन-चक्र चलाया। जनता पर भयंकर अत्याचार हुए। उनकी बर्बरता के सम्मुख सन् १८५७ की बर्बरता भी फीकी थी। किंतु दमन का स्थायी प्रभाव भारत की अंगरेजी सरकार और ब्रिटिश राष्ट्र के पक्ष में न होकर भारतीय राष्ट्र के पक्ष में हुआ। ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता की दृढ़ता का पता चल गया और कालांतर में उसे वही करना पड़ा जो गांधी जी, कांग्रेस कार्य-समिति और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी चाहती थी।

पाकिस्तान की माँग—भारतीय समस्या की सबसे बड़ी कठिनाई कांग्रेस और मुस्लिम लीग का मतभेद था। कांग्रेस और हिंदू महासभा अखंड भारत के पक्ष में थी और मुस्लिम लीग भारत को खंडित करके पाकिस्तान की स्थापना के पक्ष में। पाकिस्तान के जन्म का श्रेय सर मुहम्मद इकबाल को है। आदर्शवादी होने के कारण वह मनुष्य के व्यवहार को समझने में असमर्थ थे।[1] सन् १९३० में मुस्लिम लीग के इलाहाबाद के अधिवेशन में उन्होंने परोक्ष रीति से पाकिस्तान की नींव डाली। वह चाहते थे कि प्रांतों के पुनर्संगठन के समय मुस्लिम प्रांतों को भारतीय संघ के अंतर्गत स्वायत्त शासन का पूर्ण अधिकार मिले। तीन बरस पश्चात कैंब्रिज विश्वविद्यालय के चार मुसलमान छात्रों ने, जिनके नाम मुहम्मद आलम खाँ, रहमत अली, शेख मुहम्मद सादिक और इनायतउल्ला खाँ थे, "अब या कभी भी नहीं" नामक चार पृष्ठों की एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें मुसलमानों की सांस्कृतिक पृथकता पर जोर देते हुए उन्होंने यह सुझाव पेश किया कि भारत का बँटवारा करके मुस्लिम राष्ट्र का

---

१. Smith : Modern Islam in India p 129

एक[1] पृथक् राज्य स्थापित किया जाय। उस समय मुस्लिम लीग के वयोवृद्ध नेता इस बात को 'काल्पनिक', अव्यावहारिक तथा कुछ लड़कों की योजना कहते थे। किंतु पाँच बरस पश्चात् इस अव्यावहारिक कल्पना ने वैज्ञानिक क्षेत्र में पदार्पण किया। उस्मानियाँ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डाक्टर अब्दुल लतीफ ने यह दलील पेश की कि भारत एक अविभाज्य राष्ट्र न था। अतएव उसे १५ सांस्कृतिक क्षेत्रों में बाँट देना चाहिये जिनमें से चार मुसलमानों के हों और ग्यारह हिंदुओं के और प्रत्येक क्षेत्र को अपने स्वतंत्र शासन के निर्धारित करने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। किंतु डाक्टर अब्दुल लतीफ संभवतः देश को दो स्वतंत्र भागों में बँटवाने के पक्ष में न थे। कालांतर में सर मुहम्मद नवाज खाँ और सर सिकंदर हय्यात खाँ ने भी इसी प्रकार के विचार प्रगट किये। सन् १९३८ में सिंध के प्रांतीय मुस्लिम सम्मेलन ने, मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना के सभापतित्व में यह माँग पेश की कि भारतीय महाद्वीप में स्थायी शांति बनाये रखने, उसके हिंदू और मुसलमान राष्ट्रों को सांस्कृतिक विकास का अवसर देने तथा उन्हें आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता की ओर अग्रसर करने के उद्देश्य से भारत दो संघ-राज्यों में बाँट दिया जाय जिनमें से एक मुस्लिम प्रांतों का संघ हो और दूसरा हिंदू प्रांतों का। कुछ

---

१. इस प्रकार भारत में दो राष्ट्रों के होने का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया। राजनीतिक दृष्टि से धर्म के आधार पर राष्ट्र की कल्पना करना ठीक न था। पर ब्रिटिश समर्थन पर आधारित मुस्लिम सांप्रदायिकता, इस बात पर ध्यान न देकर, धर्म आधारित राष्ट्र के निर्माण पर तुल गयी थी।

दिनों के पश्चात् अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की कार्य-समिति ने इस विचार को अपना लिया और सन् १९४० में, लाहौर के अधिवेशन में, अखिल भारतीय मुस्लिम-लीग ने भी उसके पक्ष में एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव का भावार्थ इस प्रकार है[1]—कोई ऐसी संवैधानिक योजना इस देश में कार्यान्वित नहीं हो सकती और न मुसलमानों को ग्राह्य हो सकती है जिसका निर्माण निम्नलिखित आधारभूत सिद्धांतों के अनुसार न हो—

"भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे के समीप-स्थित इकाइयों के ऐसे क्षेत्र निश्चित किये जायँ जिनमें आवश्यक प्रादेशिक रद्दोबदल के पश्चात् जहाँ मुसलमानों का बहुमत है, (जैसा भारत के उत्तरी-पश्चिमी और पूर्वी भागों में है) वहाँ उनको मिलाकर एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की जाय और उनमें सम्मिलित इकाइयाँ भी स्वशासन भोगी तथा प्रभुता-युक्त रहें।"

प्रस्ताव में अल्प-संख्यकों के सांस्कृतिक रक्षण की संवैधानिक व्यवस्था पर भी जोर दिया गया था। दूसरे साल मद्रास के अधिवेशन में यह प्रस्ताव पुनः दोहराया गया और मुस्लिम लीग के उद्देश्यों में भी तदनुकूल परिवर्तन किये गये[2]। मुसलमानों की उक्त माँग को ब्रिटिश सरकार स्पष्ट रूप से मानने को तैयार न थी। फलस्वरूप घुमा-फिरा कर इसकी व्यवस्था की जाती थी जिसके कारण संवैधानिक संकट-निवारण की योजनाएँ न तो कांग्रेस को मान्य होती थीं और न मुस्लिम लीग को।

---

१. Indian Year Book. 1947. pp. 924-25.

२. सन् १९३९ में मुस्लिम लीग का ध्येय भारत की स्वतंत्रता का प्राप्त करना निश्चित हुआ। मद्रास के अधिवेशन में पाकिस्तान की प्राप्ति मुस्लिम लीग का ध्येय हो गया।

सन् १९४२ से १९४४ तक—सन् १९४२ से १९४४ तक एक ओर मिस्टर जिन्ना की अध्यक्षता में मुस्लिम लीग की देश के बँटवारे की माँग जोर पकड़ रही थी और दूसरी ओर देश भयंकर संकटों का सामना कर रहा था। कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी के पश्चात्, सरकार ने गाँधीजी और उनके अनुयायियों के विरुद्ध भांति-भांति के आरोप लगाये। उन्हें झूठा कहा गया, और उनके संबंध में यह भी कहा गया कि वे छिपे-छिपे आंदोलन की अनैतिक तैयारियाँ कर रहे थे। सत्य-प्रिय गांधीजी को ये बातें असह्य थी और वे उनका खंडन करना चाहते थे। पर कारावास में बंद होने के कारण उन्हें इस काम की पूर्ण स्वतंत्रता न थी। अतएव सरकार के अनुचित प्रतिबंधों के कारण, ६ फरवरी सन् १९४३ को गांधीजी ने तीन सप्ताह का उपवास आरंभ किया। सारा देश इस दुखदायी समाचार के कारण अशुभ आशंकाओं से काँप उठा। गांधीजी के बिना शर्त छोड़े जाने की चर्चा होने लगी। किंतु लॉर्ड लिनलिथगो की सरकार टस से मस न हुई और गांधीजी को अपने उपवास का समस्त काल कारावास में ही व्यतीत करना पड़ा। ३ मार्च सन् १९४३ को उपवास सफलतापूर्वक समाप्त हो गया। डा० विधानचंद्र राय के मतानुकूल "इस बार, गांधी जी मृत्यु के सन्निकट पहुँच गये थे।" उपवास की समाप्ति पर गांधी जी ने कहा "मैं नहीं कह सकता कि विधाता ने किस प्रयोजन से मुझे इस अवसर पर बचा लिया है। संभवतः वे मुझसे कोई और काम पूरा कराना चाहते हैं।"[1] इन्हीं दिनों बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। संभवतः इस समय तक महायुद्ध में सम्मिलित किसी भी देश के इतने मनुष्य रणक्षेत्र में हताहत

---

१. पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास खंड २, पृष्ठ १५।

न हुए थे जितने इस भयंकर दुर्भिक्ष के कारण केवल बंगाल में मौत के घाट उतरे। पुरुष अपनी स्त्रियों को छोड़कर भाग गये, माताओं ने अपने बच्चों को छोड़ दिया और बड़े नगरों की सड़कों और पटरियों पर पेड़ की सूखी पत्तियों की भाँति मनुष्य गिरते तथा मरते हुए दिखायी पड़े। व्यापारी लोग मुनाफा कमाने में संलग्न थे, बंगाल सरकार वास्तविक परिस्थिति से अनभिज्ञ थी और उसके जानने की कोशिश तक न कर रही थी। लॉर्ड लिनलिथगो ने, मृत्यु के इस नग्न नृत्य के होते हुए भी बंगाल का दौरा न किया। महामारियों ने भी अपना भाग चुकाया।[1] अक्टूबर सन् १९४३ में लॉर्ड लिनलिथगो भारत से विदा हुए और उनके स्थान पर लॉर्ड वैवेल भारत के गवर्नर जनरल और वाइसराय नियुक्त हुए। नियुक्ति के कुछ ही दिनों पश्चात् इन्होंने बंगाल का दौरा किया और तत्पश्चात् सैनिक अधिकारियों को यह आदेश दिया कि वे खाद्य-पदार्थों के वितरण और बिना घरबार के लोगों को कलकत्ते से हटाने में बंगाल-सरकार की सहायता करें। उन्होंने बंगाल के कष्ट-निवारण के लिए एक फंड भी खोला। अप्रैल सन् १९४४ में गांधीजी मलेरिया ज्वर से पीड़ित हुए। उनकी अवस्था उत्तरोत्तर इतनी बिगड़ गयी कि प्राण-संकट तक की आशंका हुई। फलस्वरूप लॉर्ड वैवेल ने उन्हें बिना शर्त मुक्त कर दिया। बाहर आकर गांधीजी अच्छे हो गये। उन्होंने लॉर्ड वैवेल से कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों से मिलने की आज्ञा माँगी और यदि यह संभव न हो, तो स्वयं उनसे मिलने की। किंतु लॉर्ड वैवेल ने उनकी एक भी बात स्वीकार न की।

---

१. Menon : The Story of the Wavell Plan pp. 25-28.

इसी बीच में गांधीजी ने सांप्रदायिक समस्या को भी सुलझाना चाहा। इस संबंध में श्री राजगोपालाचारी का सुझाव विशेषतया उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि इसे गांधीजी ने भी मान लिया था। सुझाव का भावार्थ इस प्रकार है[1]—

१—स्वतंत्र-भारत की संविधान-संबंधी निम्नलिखित शर्तों के अंतर्गत मुस्लिम-लीग भारतीय स्वतंत्रता की माँग को स्वीकार करती है। वह संक्रमण काल के लिए एक अंतःकालीन सरकार के निर्माण में कांग्रेस के साथ सहयोग करेगी।

२—लड़ाई के अंत के पश्चात, भारत के उत्तरी-पश्चिमी तथा पूर्वी भागों के ऐसे समीपस्थित प्रदेशों के निश्चित करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया जायगा जहाँ मुसलमानों की जनसंख्या समस्त जनसंख्या की आधी से अधिक है। इन प्रदेशों में वयस्क या किसी दूसरे व्यावहारिक मताधिकार पर भारत से पृथक् होने के विषय में समस्त जनसंख्या का मत-संग्रह किया जायगा। यदि बहुमत, भारत से पृथक् एक स्वतंत्र प्रभु-राज्य के पक्ष में होगा तो इस प्रकार का निर्णय कार्यान्वित किया जायगा, पर सीमा-स्थित किसी क्षेत्र के, एक या दूसरे राज्य के साथ मिलने में किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाया जायगा।

(३) प्रत्येक पार्टी को जनमत-संग्रह के पूर्व अपने विचारों को स्पष्ट करने का अधिकार होगा।

(४) यदि निर्णय पृथक्करण के पक्ष में हुआ तो रक्षा, व्यापार, यातायात के साधनों तथा अन्य आवश्यक विषयों की देख-भाल के लिए परस्पर समझौता होगा।

---

१. Indian Year Book. 1945-46. pp. 871-72.

(५) निवासियों का परिवर्तन केवल उनकी ही स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर करेगा।

(६) यह समझौता तभी लागू होगा जब ब्रिटेन भारत को स्वशासन संबंधी समस्त उत्तरदायित्व और अधिकारों को हस्तांतरित कर दे।

मिस्टर जिन्ना को यह सुझाव न तो मान्य था और न अमान्य था। फल-स्वरूप सांप्रदायिक समस्या सुलझाने का यह प्रयत्न भी विफल रहा[1]।

सांप्रदायिक हल में विफल होने के पश्चात्, गांधीजी ने वैधानिक संकट के निवारण-हेतु एक दूसरा संकेत किया। ब्रिटिश पत्रकार मिस्टर स्टुअर्ट गिल्डर से उन्होंने यह कहा[2] कि वे स्वयं "यह स्वीकार करने तथा कांग्रेस को यह

---

१. हिंदू महासभा के भूतपूर्व सक्रेटरी राजा महेश्वर दयाल सेठ के मतानुकूल राजगोपालाचारी का सुझाव मिस्टर जिन्ना की उस माँग पर आधारित था जो उन्होंने सन् १९४० में पेश की थी। सन् १९४२ में उन्होंने स्वयं मिस्टर जिन्ना से उसके संबंध में बातचीत की थी। पर देश के विभाजन की व्यवस्था के कारण हिंदू सभा उसे स्वीकार करने में असमर्थ थी। दिसंबर सन् १९४२ में, सर तेजबहादुर सप्रू के घर पर एक सम्मेलन हुआ। वहाँ पर राजा महेश्वर दयाल सेठ ने मुस्लिम लीग के प्रस्तावों को पढ़ा और उनकी एक प्रति श्रीराजगोपालाचारी को दी। उसी के आधार पर राजगोपालाचारी का सुझाव पेश किया गया। पर अब वह मिस्टर जिन्ना को न तो मान्य था और न अमान्य। इससे यह स्पष्ट था कि मिस्टर जिन्ना किसी प्रकार का समझौता न करना चाहते थे।

२. Indian Year Book 1945-46. pp. 872-73.

सलाह देने के लिए तैयार थे कि वह, युद्ध-काल के लिए ब्रिटिश और भारतीय सेनाओं के अतिरिक्त, जिनका पूर्ण नियंत्रण वाइसराय और प्रधान सेनापति के हाथ में होगा, सिविल शासन-संबंधी पूर्ण अधिकार-युक्त राष्ट्रीय सरकार के निर्माण में भाग ले। (ब्रिटिश सरकार से) यह आशा की जायगी कि वह इस प्रकार की सरकार की स्थापना के साथ ही साथ युद्ध के अंत के पश्चात् भारत को स्वतंत्रता की गारंटी दे।" गांधीजी ने श्री राजगोपालाचारी के सांप्रदायिक हल संबंधी सुझाव को स्वीकार किया और यह भी कहा कि उनका इरादा उस समय सविनय अवज्ञा के पक्ष में न था। "मैं देश को सन् १९४२ की ओर वापस नहीं ले जा सकता। इतिहास अपने को दोहराता नहीं। कांग्रेस से अधिकार पाये बिना, जनता पर अपने कथित प्रभाव के बल पर, यदि मैं चाहता तो सविनय अवज्ञा आरंभ कर देता। किंतु ऐसा करके मैं ब्रिटिश सरकार को केवल परेशान ही करता। मेरा यह उद्देश्य नहीं हो सकता।" तत्पश्चात गांधीजी और वाइसराय में संवैधानिक हल के संबंध में पत्र-व्यवहार हुआ। किंतु कुछ परिणाम न निकला। फलस्वरूप गांधीजी पुनः अपने रचनात्मक कार्य में लग गये।

१९४४-४५ के जाड़े में सांप्रदायिक समस्या के सुलझाने का एक और प्रयत्न किया गया। इसे साधारण बोलचाल में देसाई-लियाकत अली पैक्ट कहते हैं। इसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—[1]

१—कांग्रेस और लीग दोनों इस बात पर सहमत हैं कि वे मिलकर केंद्रीय अंतःकालीन सरकार का निर्माण करेंगी। इस सरकार की रचना निम्नलिखित प्रकार की होगी—

१. Indian Year Book. 1945-46. pp. 876-78.

(अ) केंद्रीय कार्यपालिका में कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा बराबर सदस्यों का मनोनीत किया जाना। इन सदस्यों के लिए केंद्रीय विधान-मंडल का सदस्य होना अनिवार्य न होगा।

(ब) अल्प-संख्यकों, विशेषतया सिक्खों और परिगणित जातियों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था।

(स) प्रधान सेनापति।

२—इस सरकार की नियुक्ति और कार्य-संचालन मौजूदा भारतीय शासन संबंधी ऐक्ट (सन् १९३५ का) के अंतर्गत होगा। किंतु यदि मंत्रि-परिषद किसी प्रस्ताव को लेजिस्लेटिव असेंबली द्वारा पास कराने में असमर्थ रहेगा, तो वह गवर्नर जनरल के विशेष अधिकारों के प्रयोग द्वारा जबरदस्ती कार्यान्वित न किया जायगा। इस प्रकार विधान-मंडल को गवर्नर जनरल के हस्तक्षेप से मुक्ति मिल जायगी।

३—कांग्रेस और लीग यह स्वीकार करती हैं कि इस प्रकार की अंतःकालीन सरकार, यदि बनी, तो वह सब से पहले कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों की रिहाई के संबंध में कार्रवाई करेगी।

सांप्रदायिक समस्या के हल का यह प्रयत्न भी निष्फल गया।

मार्च सन् १९४५ में लॉर्ड वैवेल अनायास लंदन के लिए रवाना हुए। वे वहाँ एक या दो सप्ताह ठहरने वाले थे किंतु उन्हें लगभग छः सप्ताह ठहरना पड़ा। इंडिया ऑफिस में बैठकर उन्होंने भारतीय परिस्थिति को सुलझाने के लिए कठिन परिश्रम किया। कई बार ब्रिटिश प्रधान मंत्री तथा भारत-मंत्री से गुप्त बात-चीत भी हुई। आखिरकार ५ जून सन् १९४५ को वे भारत को लौटे। १४ जून को उन्होंने शिमला रेडियो स्टेशन

से भारतीय जनता के सम्मुख एक नयी योजना रखी। इसे वैवेल-योजना का नाम दिया गया है।

लॉर्ड-वैवेल की योजना—रेडियो स्टेशन से सर्वसाधारण के सम्मुख रखी गयी लॉर्ड वैवेल की योजना का भावार्थ इस प्रकार है[१]—

सम्राट की सरकार ने मुझे कुछ ऐसे सुझाव पेश करने का अधिकार दिया है जिनका उद्देश्य मौजूदा भारतीय राजनीतिक परिस्थिति का सुलझाना तथा भारत को पूर्ण स्वशासन प्राप्त करने के मार्ग पर अग्रसर करना है। इसके द्वारा भारत के साथ कोई संवैधानिक समझौता करने या उस पर संवैधानिक समझौता लादने का प्रयत्न नहीं किया गया है। सम्राट की सरकार को आशा थी कि भारतीय पार्टियाँ सांप्रदायिक समस्या को जो एक बहुत बड़ी रुकावट के समान है, स्वयं हल कर सकेंगी। किंतु यह आशा पूरी न हुई.........इस लिए सम्राट की सरकार की पूर्ण अनुमति से मैं भारत के केंद्रीय तथा प्रांतीय नेताओं का, एक ऐसी इक्जीक्यूटिव कौंसिल के निर्माण के संबंध में परामर्श लूँगा जो संगठित राजनीतिक मतों का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व कर सके। प्रस्तावित नयी कौंसिल में भारत के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि होंगे जिनमें से पाँच सजातीय हिंदू होंगे और पाँच मुसलमान। वाइसराय और प्रधान सेनापति के अतिरिक्त इस कौंसिल के सब सदस्य भारतीय होंगे। प्रधान सेनापति पूर्ववत् युद्ध-सदस्य बने रहेंगे किंतु ब्रिटिश भारत का पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन एक भारतीय सदस्य के हाथ

१ R. L. Khipple: The Simla Conference pp. 10-19.

में आ जायगा। भारत के लिए अन्य डोमीनियनों की भाँति एक ब्रिटिश हाई कमिश्नर की नियुक्ति होगी। इक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल के सदस्यों का चुनाव राजनीतिक नेताओं के परामर्श से होगा, पर उनकी नियुक्ति सम्राट की अनुमति पर निर्भर करेगी। कौंसिल अपना काम मौजूदा संविधान के अंतर्गत करेगी। गवर्नर जनरल द्वारा संवैधानिक नियंत्रण के अधिकार के प्रयोग न होने की रज़ामंदी के प्रश्न का उठाना ठीक नहीं किंतु इस प्रकार का नियंत्रण अविवेकयुक्त न होगा। इस अंतःकालीन सरकार की स्थापना का अंतिम संविधान के निर्माण पर कोई कुप्रभाव न पड़ेगा। भारत की नव-निर्मित सरकार के तीन मुख्य काम होंगे—(अ) जापान की पराजय तक जापान के प्रतिकूल उत्साहपूर्वक युद्ध करना। (ब) ब्रिटिश भारत का शासन-संचालन जब तक नया स्थायी संविधान न बन जाय और वह कार्यान्वित न किया जाय। (स) जब सरकार के सदस्य उपयुक्त समझें तब उन साधनों पर विचार करना, जिनके द्वारा संवैधानिक समझौता हो सके। इस उद्देश्य से मैं भारत के कुछ नेताओं को एक सम्मेलन में आमंत्रित करूँगा। मुझे आशा है कि वे सम्मेलन में भाग लेंगे और मुझे अपनी सहायता प्रदान करेंगे। भारत के भविष्यत् के विषय में इस नये प्रयत्न द्वारा कितनी सफलता मिलेगी, इसका उत्तरदायित्व उन पर और मुझ पर है। मुझे यह भी आशा है कि सम्मेलन अपने काम में सफल होगा और उन प्रांतों में जिनका शासन आजकल धारा ९३ के अनुसार हो रहा है, प्रांतीय मंत्रिपरिषद पुनः अपना शासन-कार्य आरंभ कर देंगे और ये मंत्रिपरिषद संयुक्त मंत्रि-परिषद होंगे। यदि सम्मेलन असफल रहा तो देश का शासन यथावत् होता रहेगा। मैं विभिन्न दलों के नेताओं को यह

विश्वास भी दिलाना चाहता हूँ कि इस सुझाव के अंतस्तल में युनाइटेड किंगडम के सब नेताओं की, भारत द्वारा अपने अभीष्ट की प्राप्ति में सहायता देने की प्रबल इच्छा है। मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस सुझाव का संबंध केवल ब्रिटिश भारत से है और इसके कारण भारतीय नरेशों और सम्राट के प्रतिनिधि के संबंध में किसी प्रकार का परिवर्तन न होगा। सम्राट की सरकार की स्वीकृति तथा मेरी कौंसिल के परामर्श से कांग्रेस-कार्य-समिति के उन सब सदस्यों की रिहाई के आदेश निकाल दिये गये हैं जो अब तक जेल में हैं। सन् १९४२ के उपद्रव से संबंधित अन्य बंदियों की रिहाई, नयी भारत-सरकार, यदि वह बन गयी, और प्रांतीय सरकारों द्वारा की जायगी। केंद्रीय और प्रांतीय नये निर्वाचनों का समय सम्मेलन में निश्चित किया जायगा।

शिमला सम्मेलन—लॉर्ड वैवेल की योजना के कारण भारत का निस्तब्ध वातावरण पुनः स्फूर्तिमय हो गया। कांग्रेस के नेता कारावास से मुक्त कर दिये गये और लगभग तीन बरस के पश्चात् कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक हुई। भारतीय लोकमत कुछ अंश में योजना के अनुकूल था। पूर्वकालीन योजनाओं की अपेक्षा वह श्रेष्ठतर भी थी। उसके द्वारा वास्तविक रूप से अधिकार हस्तांतरित करने की व्यवस्था की गयी थी और प्रामाणिक रूप से यह बतलाया गया था कि गवर्नर जनरल अपने अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार करेंगे। गांधीजी को 'सजातीय हिंदू' इस वाक्य के प्रयोग में कुछ आपत्ति थी। वे यह भी मानने को तैयार न थे कि कांग्रेस केवल हिंदुओं की संस्था थी। हिंदुओं और मुसलमानों का समान प्रतिनिधित्व भी उन्हें खटकता था। वे सम्मेलन में किस हैसियत से सम्मिलित होंगे, इसके संबंध में भी उन्हें संदेह

था। किंतु वाइसराय के स्पष्टीकरण के पश्चात् उनको संतोष हो गया था। शिमला-सम्मेलन की रचना भी अपने ढंग की अनोखी थी। उसमें भाग लेने वाले व्यक्ति सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य न थे, वरन् ऐसे व्यक्ति थे जो निर्भीकतापूर्वक अपने विचारों को प्रगट कर सकते थे। अतएव कांग्रेस कार्य-समिति ने सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया[1]। मुस्लिम लीग[2] और अन्य संस्थाओं के निर्णय भी इसी प्रकार के थे।

२५ जून सन् १६४५ को शिमला-सम्मेलन बड़े आशापूर्ण वातावरण में आरंभ हुआ। अपने भाषण को वाइसराय ने निम्नलिखित शब्दों द्वारा समाप्त किया। "किंचित काल के लिए आप लोगों को मेरा नेतृत्व स्वीकार करना चाहिये। जब तक

---

१. कांग्रेस कार्य-समिति ने मौलाना आज़ाद को कांग्रेस का प्रतिनिधि नियुक्त किया। उन्होंने इसकी सूचना लॉर्ड वैवेल को दी और यह प्रार्थना की कि वे उन्हें सम्मेलन के पूर्व कुछ समय तक मिलने का अवसर दें। इस मिलन में वे गवर्नर जनरल को उनकी योजना के संबंध में कांग्रेस कार्य-समिति के विचारों की सूचना देना चाहते थे।

२. मिस्टर जिन्ना ने सम्मेलन में सम्मिलित होना स्वीकार किया। उन्होंने वाइसराय से प्रार्थना की कि आरंम्भिक विचार-विनिमय के पश्चात् सम्मेलन १५ दिन के लिए स्थगित कर दिया जाय ताकि मुस्लिम लीग की कार्य-समिति संपूर्ण योजना पर विचार कर सके। वाइसराय ने सम्मेलन स्थगित करने के बदले मिस्टर जिन्ना को यह परामर्श दिया कि वे अपनी कार्य-समिति के अधिवेशन शिमला में कर लें। संपूर्ण योजना को जाने बिना मिस्टर जिन्ना ने ऐसा करना स्वीकार न किया। फिर भी वे सम्मेलन में सम्मिलित हुए।

संविधान में सर्वमान्य परिवर्तन न होगा, मैं भारत के सुशासन और उसकी शांति के लिए सम्राट की सरकार के प्रति उत्तरदायी हूँ। मैं इस बात की कोशिश करूँगा कि इस सम्मेलन के विचार-विनिमय को, भारत की सबसे अधिक भलाई के ध्यान से संचालित करूँ।" पहले और दूसरे दिन सम्मेलन का वातावरण बड़ा आशाजनक था। किंतु उसके पश्चात् वह क्रमशः संदिग्ध और निराशामय होता गया। २९ जून को सम्मेलन १५ दिन के लिए स्थगित कर दिया गया। १४ जुलाई को जब उसका अंतिम अधिवेशन हुआ, लॉर्ड वैवेल ने उसकी असफलता की घोषणा की। "मैं आप लोगों को दी गयी सहायता तथा सहनशीलता और बुद्धिमत्ता के लिए बधाई देता हूँ। इस असफलता के कारण आप लोगों में से किसी को निराश न होना चाहिये। अंत में हम सब कठिनाइयों पर विजय-प्राप्त करेंगे। भारत की भविष्य उत्कर्षता के विषय में संदेह का स्थान नहीं है।"

सम्मेलन की असफलता का क्या कारण था? मौलाना आजाद के शब्दों में मुस्लिम लीग का रुख सम्मेलन की असफलता का पहला कारण था। मिस्टर जिन्ना केंद्रीय कार्यपालिका में 'सजातीय हिंदुओं' के समान स्थानों से संतुष्ट न थे। वे समझते थे कि हरिजन और सिक्ख सदस्य सदा हिंदुओं का साथ देंगे और इस प्रकार मुस्लिम सदस्य हमेशा अल्प-संख्या में होंगे। चूँकि मुसलमानों का एक पृथक राष्ट्र था, इस लिए यह असमानता उन्हें असह्य थी। साथ ही वे इस बात पर भी दृढ़ थे कि मुस्लिम लीग ही मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था थी और केवल उसे ही इक्जीक्यूटिव कौंसिल के मुसलमान-सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार था। कांग्रेस संपूर्ण भारतीय राष्ट्र की प्रतिनिधि-संस्था होने के कारण, अपनी सूची में मुसलमानों

को भी सम्मिलित करना चाहती थी। मिस्टर जिन्ना इसे स्वीकार करने में असमर्थ थे। तिस पर वैवेल-योजना में, मुस्लिम लीग के ध्येय, पाकिस्तान के विषय में कोई निश्चित बात ही न थी। फलस्वरूप मिस्टर जिन्ना ने न तो मुस्लिम उम्मीदवारों की सूची भेजी और न उस सूची के संबंध में अपनी अनुमति ही दी जिसे स्वयं लॉर्ड वैवेल ने तैयार किया था। मौलाना आज़ाद के विचारानुकूल सम्मेलन की असफलता की कुछ जिम्मेवारी लॉर्ड वैवेल की भी थी। इस आरोप में काफ़ी तथ्य है। २६ जून के पश्चात लॉर्ड वैवेल ने, आपसी समझौते के अभाव में, स्वयं सम्मेलन का स्थान ग्रहण कर लिया था। उन्होंने जो सूची तैयार की थी वह ऐसी थी जिसे न तो मुस्लिम लीग स्वीकार कर सकती थी और न कांग्रेस। एक भी राष्ट्रीय मुस्लिम सम्मिलित न किया गया था और पंजाब की युनियनिस्ट पार्टी से मलिक खिज्र हय्यात खां सम्मिलित किये गये थे। पहली बात कांग्रेस को असह्य थी और दूसरी मुस्लिम लीग को। फलस्वरूप मिस्टर जिन्ना द्वारा सूची के स्वीकृत होने पर भी सम्मेलन की असफलता अवश्यंभावी थी। लॉर्ड वैवेल भी कुछ अंश में सम्मेलन की असफलता के लिए उत्तरदायी थे। जिस दृढ़ता से उन्होंने सम्मेलन के आरंभ में काम किया था, यदि उसी से वे अंत तक काम करते रहते, तो संभवतः सफलता उनके हाथ लगती। उनकी घोषित योजना अंतिम न थी। उसमें आवश्यकतानुकूल संशोधन किये जा सकते थे। पर इसके लिए जिस तत्परता और दृढ़ निश्चय की आवश्यकता थी, उसे लॉर्ड वैवेल, अधिकार-युक्त होते हुए भी, ठीक अवसर पर न दिखला सके। ब्रिटिश निर्वाचन के साथ साथ उनका भी जोश ठंडा होता गया, और अंत में सम्मेलन की विफलता के

पश्चात, जापान के विरुद्ध युद्ध और दृढ़ शासन पर जोर देते हुए, इन्होंने भविष्य की सफलता की ओर संकेत करते हुए, सम्मेलन की असफलता में हाथ बँटाया।

कैबीनेट प्रतिनिधि मंडल के आने के पूर्व—शिमला-सम्मेलन की विफलता के पश्चात् लॉर्ड वैवेल ने पहली और दूसरी अगस्त सन् १९४५ को प्रांतीय गवर्नरों की एक सभा की। ७ मई सन् १९४५ को, जर्मनी के बिना शर्त आत्मसमर्पण के पश्चात, युरुप में महासमर का अंत हो गया था। इंगलैंड की पार्लमेंट का नया चुनाव भी हो चुका था और राष्ट्रीय सरकार के स्थान पर मजदूर-सरकार, बिना किसी दूसरे दल की सहायता से, पदारूढ़ थी। इस परिवर्तित परिस्थिति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा और गवनरों की सभा में विशेषतया नये चुनाव, धारा ९३ के स्थान पर प्रांतीय स्वराज्य, राजनीतिक बंदियों की रिहाई तथा कांग्रेसी-संस्थाओं से प्रतिबंध हटाने की बातचीत हुई। फल-स्वरूप कांग्रेसी संस्थाओं से प्रतिबंध हटा लिये गये। २५ अगस्त को केंद्रीय और प्रांतीय विधान-मंडलों और सभाओं के चुनाव की घोषणा की गयी और उसी दिन ब्रिटेन की मजदूर-सरकार ने, भारतीय समस्या के संबंध में, वाइसराय को पुनः लंदन आने के लिए आमंत्रित किया। दस सप्ताह के भीतर वाइसराय के दुबारा जाने के कारण, भारत का राजनीतिक वातावरण पुनः आशामय हो गया और लोग मजदूर-सरकार की सच्ची नीयत की बातचीत करने लगे।

लंदन से लौटने के पश्चात, १९ सितंबर सन् १९४५ को, लॉर्ड वैवेल ने, सम्राट की सरकार से अधिकार पाकर, दिल्ली रेडियो स्टेशन से एक दूसरी घोषणा की जिसका भावार्थ इस प्रकार है[१]—

---

१. Indian Year Book 1947. pp. 887-88.

सम्राट ने पार्लमेंट में दिये गये अपने भाषण में यह स्पष्ट कर दिया है कि उनकी सरकार, भारतीय लोकमत के नेताओं के सहयोग से भारत द्वारा शीघ्रातिशीघ्र स्वशासन प्राप्त करने में सहायता पहुँचायेगी। मेरी लंदन-यात्रा में सम्राट की सरकार ने मेरे साथ तत्संबंधी साधनों पर विचार किया है। प्रांतीय चुनावों के संबंध की घोषणा पहले ही की जा चुकी है। सम्राट की सरकार को आशा है कि सब प्रांतों के राजनीतिक नेता मंत्रि-पद के उत्तरदायित्व को स्वीकार करेंगे। सम्राट की सरकार की इच्छा है कि जितनी जल्दी संभव हो, एक संविधान-सभा स्थापित की जाय। अतएव चुनाव के पश्चात उन्होंने मुझे प्रांतीय असेंबलियों के प्रतिनिधियों से यह जानने का अधिकार दिया है कि क्या वे इस संबंध में क्रिप्स-योजना या उसके संशोधित रूप को स्वीकार करना चाहते हैं या किसी दूसरी बिल्कुल नयी योजना को। भारतीय रियासतों से भी यह जानने के लिए बातचीत की जायगी कि वे किस भाँति संविधान-सभा में पूरी तरह से सम्मिलित हो सकती हैं। सम्राट की सरकार एक ऐसी संधि पर भी विचार कर रही है, जो भारत और इंगलैंड के बीच में होगी। उसने मुझे यह अधिकार दिया है कि प्रांतीय निर्वाचनों के पश्चात, मैं अपनी इक्जीक्यूटिव कौंसिल को इस प्रकार निर्मित करूँ कि उसे भारत के सब दलों का सहयोग प्राप्त हो जाय।"

अपनी घोषणा में लॉर्ड वैवेल ने इस बात पर जोर दिया कि अन्य महत्वपूर्ण और तात्कालिक समस्याओं में व्यस्त होते भी, सम्राट की सरकार ने भारतीय समस्या को प्रथम श्रेणी और अतिशय महत्व की समझकर उस पर विचार करने के लिए समय निकाला है। उन्होंने इस बात का भी विश्वास दिलाया कि ब्रिटिश जनता के सब वर्ग और सरकार, भारत की सहायता

करने को उत्सुक हैं। उन्होंने अपनी सहायता का भी वचन दिया। "जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं भारतीय जनों की सेवा में, उन्हें अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने में, और मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह संभव है, सहायता देने में कुछ भी उठा न रखूँगा। अब यह प्रदर्शित करना भारतीयों का काम है कि उनमें यह निर्णय करने की बुद्धि, विश्वास और साहस है कि वे किस प्रकार अपने मतभेद को दूर कर सकते हैं और किस प्रकार भारतीयों द्वारा भारतीयों के लिए देश का शासन-संपन्न हो सकता है[१]।"

इस घोषणा का कांग्रेस पर विशेष प्रभाव न पड़ा। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के, तत्संबंधी प्रस्ताव में, जिसे सरदार पटेल ने पेश किया था, निर्वाचन के लिए उम्मीदवार खड़े करने का निश्चय तो किया गया किंतु उसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि युद्ध के समाप्त होने और ब्रिटिश सरकार के बदलने के कारण, ब्रिटेन की भारतीय नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। ऐसा विदित होता है कि वह भारत की उन्नति में विलंब करने तथा नयी समस्याओं और जटिलताओं के पैदा करने की कोशिश कर रहा है। यह ध्यान देने की बात है कि रेडियो स्टेशन से दिये गये भाषण से भारतीय स्वतंत्रता की चर्चा तक नहीं है।[२] मुस्लिम लीग नये चुनाव की आवश्यकता पर सन् १९४३ से ही जोर दे रही थी। फलस्वरूप समस्त देश में निर्वाचन की तैयारियाँ बड़े वेग से होने लगीं। निर्वाचन के नतीजे से स्पष्ट था कि गैर-मुस्लिम जनता पर कांग्रेस का इस समय भी उतना ही प्रभाव था जितना सन् १९३७

---

१. पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास खंड ३, पृष्ठ २२५–२७।

२. Indian Year Book. 1947 p. 888.

में। किंतु मुस्लिम जनता पर उसका प्रभाव बहुत ज्यादा न था। हिंदू बहु-संख्यक प्रांतों में कांग्रेस के मुसलमान-उम्मीदवार प्रायः सभी जगह पराजित हुए। सीमांत प्रांत में कांग्रेस का बहुमत अवश्य था, किंतु समस्त मुस्लिम बहु-संख्यक प्रांतों में मुस्लिम लीग का प्रभाव निश्चित रूप से बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था।

५ दिसंबर सन् १९४५ को भारत-मंत्री ने लॉर्ड सभा में पार्लमेंटरी शिष्ट-मंडल के भारत में आने के संबंध में घोषणा की। भारत में सम्राट की सरकार के विषय में भ्रमात्मक विचारों के कारण, "सम्राट की सरकार इस बात पर विचार कर रही है कि क्या भारत और ब्रिटेन के संवैधानिक संपर्क के अवसर, जो महायुद्ध के कारण लुप्त से हो गये थे, पुनः बढ़ाये नहीं जा सकते? अतएव सम्राट की सरकार, साम्राज्य-पार्लमेंटरी एसोसियेशन के तत्वावधान में, भारत को एक पार्लमेंटरी शिष्ट-मंडल के भेजने की तैयारी कर रही है।" यह शिष्टमंडल भारत में आया। उसने भारतीय नेताओं से संपर्क स्थापित किया। फरवरी सन् १९४६ में विलायत लौटने पर उसके एक सदस्य मिस्टर सोरेनसेन (Sorensen) ने भारतीय परिस्थिति के संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये[1]—

"भारत की दो प्रभावशाली पार्टियों की अवस्था बिल्कुल निराशाजनक नहीं है। किंतु दूर से कुछ नहीं किया जा सकता। सरकार (ब्रिटिश) को स्पष्ट रूप से यह बतलाना चाहिये कि कब तक अधिकार हस्तांतरित किये जायँगे। चुनाव के पश्चात शीघ्रातिशीघ्र और केवल अंतःकालीन व्यवस्था के लिए इक्जीक्यूटिव

---

१. Rajput : The Cabinet Mission, 1946. pp. 30-31.

कौंसिल का निर्माण उस सूची में से होना चाहिये जिसे प्रत्येक प्रांत के मुख्य मंत्री तैयार करें।

पाकिस्तान के जटिल प्रश्न पर भी दोनों पार्टियाँ एक दूसरे के निकट आ सकती हैं। चुनाव के नतीजे के कारण मिस्टर जिन्ना की कठिनाइयाँ कुछ बढ़ अवश्य गयी हैं किंतु सिद्धांत में कुछ परिवर्तन करने पर, इस प्रश्न के संबंध में भी समझौता हो सकता है।

मेरा विश्वास है कि यदि मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांतों को, डोमीनियन स्टेटस के आधार पर पृथक अस्तित्व का आश्वासन दिया जाय तो अखिल भारतीय विषयों में, शेष भारत के साथ, उनके सहयोग की समस्या कुछ अंश में हल की जा सकती है।

उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत भी, जिसने निश्चित रूप से कांग्रेस के पक्ष में वोट दिया है, मिस्टर जिन्ना की बात को अधिक सुनेगा यदि उक्त दिशाओं में कुछ किया जाय। कांग्रेस ने इस सीमा तक मुस्लिम लीग की माँग को न्यूनाधिक स्वीकार कर लिया है। भारत-मंत्री को इस परिस्थिति में कोई मार्ग खोज निकालना चाहिये।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के भेजे जाने की घोषणा—१५ फरवरी सन् १९४६ को भारत-मंत्री ने लॉर्ड सभा में यह घोषित किया[1] कि ब्रिटिश कैबीनेट के तीन सदस्य (लॉर्ड पैथिक लॉरेंस, सर स्टेफर्ड क्रिप्स और अलबर्ट एलेक्जेंडर) भारतीय नेताओं से, भारतीय संविधान के निर्माण के संबंध में, विचार-विनिमय के हेतु भारत के लिए रवाना होंगे। "यह प्रनिनिधि-मंडल कैबीनेट का प्रतिनिधि-स्वरूप होगा और उसे कैबीनेट के अधिकार

---

१. Rajput : The Cabinet Mission 1946. pp 31-32

प्राप्त होंगे।" भारत द्वारा पूर्ण शासनाधिकार प्राप्त करने के लिए यह निम्नलिखित तीन दिशाओं में काम करेगा—

(१) संविधान के निर्माण के ढंग पर अधिक से अधिक सहमति प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों तथा भारतीय रियासतों से आरंभिक विचार-विनिमय।

(२) संविधान-सभा की स्थापना।

(३) ऐसी इक्जीक्यूटिव कौंसिल का निर्माण, जिसका भारत के प्रमुख राजनीतिक दल समर्थन करें।

१५ मार्च सन् १९४६ को प्रधान मंत्री एटली ने भी इसी संबंध में कॉमन सभा में एक घोषणा की। अन्य सब बातों को दोहराने के पश्चात, उन्होंने अल्प-संख्यकों के बारे में निम्न-लिखित बातें कहीं[1]—"हम अल्प-संख्यकों के अधिकारों को भूल नहीं गये हैं। अल्प-संख्यकों को भय से मुक्त होकर स्वतंत्रतापूर्वक रहने का अधिकार होना चाहिये। किंतु हम यह भी नहीं देख सकते कि एक अल्प-संख्यक जन-समुदाय किसी बहु-संख्यक जन-समुदाय की उन्नति के मार्ग में रुकावटें डाले"। पूर्ण स्वतंत्रता और डोमीनियम स्टेटस के संबंध में प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा, "हमें आशा है कि भारत ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अंदर रहने का प्रयत्न करेगा। किंतु यदि वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र होना पसंद करे और हमारे विचार में उसे ऐसा करने का अधिकार है, तो हमें इस परिवर्तन को शांतिपूर्वक और सरलता से कराने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये।"

प्रधान मंत्री की घोषणा पर कांग्रेस का मत—प्रधान मंत्री की उक्त घोषणा के कारण कांग्रेस को पुनः आशा बंधी।

---

१. Ibid pp. 33-34.

सरदार पटेल ने, इस संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये "मैं शब्दों और घोषणाओं को अधिक महत्व नहीं देता; वरन् उनके आधार पर किये गये कामों की प्रतीक्षा करता हूँ। किंतु मुझे यह कहना पड़ता है कि प्रधान मंत्री एटली की नयी घोषणा स्पष्ट शब्दों में थी और उसमें असन्दिग्ध रूप से सचाई की गूँज थी। गत बरसों में पहले पहल ब्रिटिश सरकार ने अल्प-संख्यकों के विषय में अपने दृष्टिकोण को बदला है।.........
कांग्रेस न्यायोचित तरीकों से अल्प-संख्यकों की रक्षा तथा संरक्षण के पक्ष में हैं, किंतु वह देश का बँटवारा करके मिस्टर जिन्ना की असम्भव माँग को स्वीकार नहीं कर सकती।.........अपने प्रस्ताव में कांग्रेस भारत की स्वतंत्रता और एकता को अपना चुकी है। आधुनिक जगत में जब कि अधिकाधिक बड़े संघ बनते जा रहे हैं, देश का विभाजन सबके लिए हानिकर है। उसकी कल्पना ही अत्यंत दुखप्रद है। फिर भी अपने निर्णय द्वारा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह किसी ऐसे प्रदेश को भारतीय संघ में रहने के लिए बाध्य न करेगी, जिसके निवासियों का निश्चित और प्रगट मत इसके विरुद्ध हो। कांग्रेस इसके आगे नहीं जा सकती। कोई विवेकशील व्यक्ति इससे अधिक आशा भी नहीं कर सकता।[१]"

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का आगमन और कार्यारंभ—२३ मार्च को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने भारत-भूमि पर कराँची में पदार्पण किया। तुरंत ही भारत-मंत्री (लॉर्ड पैथिक लॉरेंस) ने, ब्रिटिश सरकार और जनता की ओर से भारत के निवासियों के लिए मैत्री और सद्भावना का संदेश

---

१. Ibid p. 35.

सुनाने के पश्चात्, प्रतिनिधि-मंडल के आगमन के विषय में निम्नलिखित बातें कहीं[1]—

"हम केवल एक ही उद्देश्य से आये हैं। वह यह है कि लॉर्ड वैवेल के सहयोग से हम भारत के नेताओं तथा इस देश निर्वाचित प्रतिनिधियों के साथ इस विषय पर विचार करें कि देश के शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेने की उनकी आकांक्षाओं को किस प्रकार शीघ्रता के साथ पूरा किया जा सकता है, जिससे कि हम उस उत्तरदायित्व के हस्तांतरण के कार्य को गौरव और प्रतिष्ठा के साथ संपन्न कर सकें।"

"ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता अपनी प्रतिज्ञाओं और वचनों को पूर्ण रूप से पालन करने के लिए उत्सुक है। हम आपको आश्वासन देना चाहते हैं कि हम अपनी नीति के सिलसिले में किसी भी ऐसी व्यवस्था को स्थान देने का यत्न नहीं करेंगे जो भारत की पूर्ण स्वतंत्रतात्मक प्रतिष्ठा के अनुकूल न हो। इस प्रकार हमारा और हमारे भारतीय सहयोगियों का एक ही उद्देश्य है, जिसकी पूर्ति के लिए आगामी सप्ताह में हम अपनी समस्त शक्ति लगायेंगे। स्वतंत्र भारत के भवन-निर्माण का निश्चित मार्ग अभी तक स्पष्ट नहीं है। लेकिन आइये, हम उस निर्माण के आलोक से प्रेरित हो सहयोग के मार्ग का अनुसरण करने को तत्पर हों। मुझे निश्चय है कि हम विश्वास के साथ सफलता प्राप्ति का दृढ़ निश्चय करके, एक साथ मिलकर अपना काम पूरा करने का यत्न करेंगे।"

इस वक्तव्य से स्पष्ट है कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल अपने साथ ब्रिटिश सरकार की ओर से किसी नयी योजना का मसविदा नहीं

---

१. भारतीय समाचार १ मई सन् १९४६ पृष्ठ ३८७-८८।

लाया था। उसका उद्देश्य भारत के सरकारी और गैर-सरकारी सहयोग से इस प्रकार का मसविदा तैयार करना था। फलस्वरूप प्रतिनिधि-मंडल सरकारी पदाधिकारियों तथा राजनीतिक और सांप्रदायिक नेताओं से संपर्क स्थापित करने तथा उनके मनोभावों के जानने के काम में लग गया। कुछ ही दिनों में उसे यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय नेताओं का मतभेद आधारभूत था और आसानी से मिटाया न जा सकता था। अतएव ईस्टर में अवकाश ग्रहण करने के लिए काश्मीर को जाने के पूर्व, उसने भारतीय नेताओं से परस्पर सद्भावना से काम करने की अपील की और यह आशा प्रगट की कि वापस लौटने पर, नेताओं के परस्पर परामर्श के कारण उसे अनेक बातों में, समझौते की पर्याप्त गुंजाइश मिलेगी। भारतीय नेताओं में परस्पर और प्रतिनिधि-मंडल के साथ पत्र-व्यवहार भी हुआ। किंतु कोई सर्वमान्य समझौता न हो सका। मुस्लिम लीग पाकिस्तान पर अड़ी हुई थी। ९ अप्रैल को मिस्टर जिन्ना के सभापतित्व में केंद्रीय और प्रांतीय विधान-मंडलों में मुस्लिम लीगी सदस्यों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें मिस्टर जिन्ना ने भारत-निवासी मुसलमानों की रक्षा और उद्धार के लिए पाकिस्तान का बनना आवश्यक बतलाया। "मैं अपने पक्ष की सत्यता और न्याय में विश्वास करता हूँ। अतएव उसकी प्राप्ति के लिए मैं उन सब खतरों, कष्टों और त्याग के लिए तैयार हूँ जो मुझे झेलने पड़ें।" सर फ़ीरोज खाँ नून के भाषण के कुछ अंशों का भावार्थ इस प्रकार है—[1]

"हमारे ऊपर एक बहुत बड़ा संकट आनेवाला है। हमारी अंतर्भावना की गहराई को न तो हिंदू समझते हैं और न अंगरेज।

१. A. B. Rajput : Cabinet Mission pp 41-42.

यदि हिंदू हमें पाकिस्तान और स्वतंत्रता देंगे, तो वे हमारे सर्वश्रेष्ठ मित्र हैं और यदि अंगरेज देंगे तो अंगरेज। लेकिन यदि इनमें से कोई न देगा तो रूस हमारा सर्वश्रेष्ठ मित्र होगा।...... चाहे हमें लड़ते ही हुए क्यों न मरना पड़े, हम ऐसा काम करेंगे, कि हमारे वंशज अखंड हिंदुस्तान के दास न रहें।......यदि ग्रेट ब्रिटेन हमें हिंदू-राज्य के अधीन रखेगा, तो हम उसे यह बतला देना चाहते हैं कि मुसलमान इस देश में इतनी ज्यादा सत्यानाशी और तबाही करेंगे कि उनके कारण चंगेज खां के तत्संबंधी काम भी फीके पड़ जायँगे।"

इसके विपरीत कांग्रेस अपने आधारभूत सिद्धांतों के अंतर्गत् समझौते के प्रयत्न कर रही थी। मौलाना आजाद के शब्दों में "भारतीय परिस्थिति ऐसी थी कि केंद्रीय एकात्मक सरकार का स्थापित करना असंभव था। साथ ही देश का बँटवारा करके दो राज्यों के बनाने का प्रयत्न भी अवश्य असफल होगा।"[१] अतएव कांग्रेस, प्रान्तों को पूर्ण स्वतन्त्रता तथा अवशिष्ट विषय देने को तैयार थी। वह केंद्रीय विषयों की दो सूचियों के पक्ष में थी। एक में वे विषय थे जिनका केंद्रीय सरकार को समर्पित किया जाना अनिवार्य था; दूसरी में वे जिनका समर्पित किया जाना इकाइयों की इच्छा पर निर्भर था। इस प्रकार मुस्लिम बहु-संख्यक प्रांतों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिलने तथा केंद्रीय सरकार की अखिल भारतीय नीति और कामों के प्रभावित करने की व्यवस्था की गयी थी। किंतु मुस्लिम लीग और उसके नेता पाकिस्तान की उक्त परोक्ष स्वीकृति से संतुष्ट न थे।

---

१. कांग्रेस कार्य-समिति में १५ अप्रैल १९४६ के अधिवेशन के भाषण से।

प्रतिनिधि-मंडल द्वारा आयोजित शिमले का त्रिवर्गीय (प्रतिनिधि-मंडल, मुस्लिम लीग और कांग्रेस) सम्मेलन भी समझौता कराने में असफल रहा। फलस्वरूप कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल को स्वयं अपनी योजना बनाकर उसे भारतीय नेताओं के सम्मुख रखने के लिए बाध्य होना पड़ा।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना—१६ मई सन् १९४६ को कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय ने अपनी योजना प्रकाशित की। ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के सिंहावलोकन के पश्चात् उन्होंने कहा कि चूँकि परस्पर समझौता नहीं हो सका है इसलिए "हम यह अपना कर्तव्य समझते हैं कि भारत में शीघ्रता से नये संविधान की स्थापना के लिए हम जिस व्यवस्था को श्रेष्ठतर समझते हैं उसे प्रस्तुत करें।" इस योजना में सम्राट को सरकार की पूर्ण अनुमति थी। इसके दो अंग थे—एक अन्तःकालीन और दूसरा दीर्घकालीन। अन्तःकालीन का संबंध इक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल के निर्माण से था और दीर्घकालीन का भावी संविधान के निर्माण से। प्रतिनिधि-मंडल के विचार में अखंड भारत और पाकिस्तान दोनों असंभव थे। पर दोनों विचार-धाराओं का समन्वय भी परमावश्यक था। भारतीय रियासतों की भावी व्यवस्था भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। ब्रिटिश भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात्, भारतीय रियासतों और सम्राट के बीच में उस संबंध का रहना असंभव था जो उस समय तक प्रचलित था। सार्वभौम सत्ता न तो सम्राट के हाथ में रखी जा सकती थी और न नयी सरकार को सौंपी जा सकती थी। "भारतीय रियासतों की ओर से हमने जिनसे भेंट की है उन्होंने इस बात को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। साथ ही उन्होंने यह आश्वासन दिया है कि भारतीय रियासतें भारत

के नवीन विकास में सहयोग प्रदान करने की इच्छुक हैं। उनके सहयोग का वास्तविक रूप क्या होगा, यह नये संवैधानिक संगठन का ढाँचा तैयार करते समय परस्पर विचार-विनिमय से तय हो सकेगा। इसका किसी प्रकार यह तात्पर्य नहीं है कि प्रत्येक भारतीय रियासत के सहयोग का एक ही रूप होगा।"[1] इन बातों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् इस योजना में संविधान के मूल रूप के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें की गयी थीं[2]—

(१) "एक अखिल भारतीय संयुक्त राष्ट्र (Indian Union) होना चाहिए, जिसमें ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतें दोनों सम्मिलित हों और जिसके अधीन पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा और यातायात के विषय हों। इस भारतीय संयुक्त राष्ट्र को अपने विषयों के व्यय के लिए आवश्यक धन उगाहने का भी अधिकार होना चाहिये।

(२) भारतीय संयुक्त राष्ट्र में एक कार्यपालिका और एक विधान-मंडल होना चाहिये जिसमें ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि रहें। विधान मंडल में कोई महत्त्व-पूर्ण सांप्रदायिक मामला प्रस्तुत होने पर उसके निर्णय के लिए दोनों प्रमुख वर्गों के जो प्रतिनिधि उपस्थित हों उनका पृथक-पृथक तथा समस्त उपस्थित सदस्यों का बहुमत आवश्यक होगा।

(३) केंद्रीय संगठन के लिए निर्धारित विषयों को छोड़कर अन्य समस्त विषय तथा अवशिष्ट अधिकार प्रांतों को प्राप्त होंगे।

(४) भारतीय रियासतें उन सब विषयों और अधिकारों को अपने अधीन रखेंगी जिन्हें वे केंद्र को समर्पित न करेंगी।

---

१. भारतीय समाचार, १ जुन सन् १९४६, पृष्ठ ४८८।

२. भारतीय समाचार, १ जून सन् १९४६, पृष्ठ ४८९।

(५) प्रांतों को अपने पृथक समूह बनाने का अधिकार होना चाहिये, जिनकी अपनी कार्यपालिका और विधान-मंडल हों। प्रत्येक प्रांत-समूह यह निश्चित करेगा कि कौन से विषय समान रूप से सामूहिक शासन में रहें।

(६) भारतीय संयुक्त-राष्ट्र तथा प्रांत-समूहों के संविधानों में इस प्रकार की धारा होनी चाहिये जिसके द्वारा कोई भी प्रांत अपनी विधान-सभा के बहुमत से प्रथम दस बरस पश्चात् और फिर प्रति दस बरस पश्चात् संविधान की शर्तों पर पुनर्विचार करने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर सके।"

तत्पश्चात् प्रतिनिधि-मंडल की योजना में संविधान सभा के निर्माण का उल्लेख था। इस हेतु भारतीय प्रांत तीन समूहों—क, ख, ग में विभक्त किये गये थे। क समूह में मद्रास, बंबई, संयुक्त-प्रांत, बिहार, मध्य-प्रांत और उड़ीसा के प्रांत शामिल थे। ख में पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी प्रांत और सिंध के प्रांत और ग में बंगाल और आसाम के प्रांत। निर्वाचन के सिद्धांत इस प्रकार थे—

"(अ) प्रत्येक प्रांत के लिए जन-संख्या के अनुपातानुसार अधिक से अधिक स्थान निश्चित कर दिये जायँ। स्थूल रूप से प्रत्येक १० लाख व्यक्तियों के पीछे एक स्थान दिया जाय। यह वयस्क मताधिकार के प्रतिनिधित्व का श्रेष्ठतम विकल्प है।

(ब) इस प्रकार के निश्चित स्थानों को प्रत्येक प्रांत के प्रमुख संप्रदायों के बीच में उनकी जन-संख्या के अनुपातानुसार बाँट दिया जाय।

(स) यह व्यवस्था की जाय कि प्रत्येक संप्रदाय के लिए निश्चित स्थानों के प्रतिनिधि प्रांतीय विधान-मंडल के उसी संप्रदाय के सदस्यों द्वारा चुने जायँ। प्रतिनिधित्व की व्यवस्था निम्नलिखित तालिका के अनुसार थी—

क समूह

प्रांत	साधारण	मुस्लिम	योग
मद्रास	४५	४	४६
बंबई	१९	२	२१
संयुक्त-प्रांत	४७	८	५५
बिहार	३१	५	३६
मध्यप्रांत	१६	१	१७
उड़ीसा	६	०	९
योग	१६७	२०	१८७

ख समूह

प्रांत	साधारण	मुस्लिम	सिक्ख	योग
पंजाब	८	१६	४	२८
सीमाप्रांत	०	३	०	३
सिंध	१	३	०	४
योग	९	२२	४	३५

ग समूह

प्रांत	साधारण	मुस्लिम	योग
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
योग	३४	३६	७०

ब्रिटिश भारत का योग	२९२
भारतीय रियासयों के अधिकतम प्रतिनिधि	९३
योग	३८५

इनके अतिरिक्त क समूह में दिल्ली और अजमेर-मेरवाड़ा के प्रांतों की ओर से केंद्रीय विधान-सभा में चुने गये एक-एक प्रतिनिधि बढ़ाये जाने को थे। कुर्ग की विधान-सभा द्वारा निर्वाचित एक प्रतिनिधि क समूह में बढ़ाया जाने को था और ब्रिटिश बिलोचिस्तान का एक प्रतिनिधि ख समूह में। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों के निर्वाचन की प्रणाली विचार-विनियम द्वारा निर्धारित की जाने को थी किंतु आरंभिक काल में एक पारस्परिक-चर्चा कमेटी (Negotiating Committee) की व्यवस्था थी जो रियासतों के प्रतिनिधि के रूप में काम करने को थी। इस प्रकार निर्वाचित संविधान-सभा शीघ्रातिशीघ्र दिल्ली में एकत्रित होकर अपना काम निम्नलिखित ढंग से करने को थी—

आरंभिक बैठक में कार्य का सामान्य क्रम निश्चित करने के पश्चात् अध्यक्ष और अन्य अधिकारियों के निर्वाचन की व्यवस्था थी। तत्पश्चात् नागरिकों, अल्प-संख्यकों, कबाइली और असम्मिलित क्षेत्रों के अधिकारों की एक परामर्शदात्री समिति नियुक्त की जाने को थी। इसके बाद प्रांतीय प्रतिनिधि क, ख और ग समूहों में विभक्त होकर अपने अपने समूह के प्रांतों का संविधान तैयार करने को थे और यह भी तय करने को थे कि क्या उन प्रांतों के लिए कोई सामूहिक संविधान तैयार करना चाहिये और इसके अनुकूल निर्णय होने पर, कौन कौन से विषयों को सामूहिक संविधान के अंतर्गत होना चाहिये। इसके पश्चात् इन समूहों और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि एकत्रित होकर संयुक्त-भारत का संविधान तैयार करने को थे। नयी संवैधानिक व्यवस्था के कार्यान्वित होने पर किसी भी प्रांत को यह अधिकार था कि नये प्रांतीय विधान-मंडल के निर्णयानुसार वह उस समूह से निकल जाय जिसमें सम्मिलित किया गया है।”

यह थी कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की दीर्घकालीन योजना। किंतु भारत का शासन चलाने, तथा युद्ध के पश्चात् उन्नति से संबद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों के निर्णय के लिए यह भी आवश्यक था कि एक ऐसी अंतःकालीन सरकार स्थापित की जाय जिसे जनता का समर्थन प्राप्त हो। "इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वाइसराय महोदय ने विचार-विनिमय आरंभ कर दिया है और उन्हें आशा है कि वे शीघ्र ही एक ऐसी अंतःकालीन सरकार की स्थापना कर सकेंगे जिसमें युद्ध-सदस्य के विभाग के सहित समस्त विभाग जनता के पूर्ण रूप से विश्वासपात्र भारतीय नेताओं के हाथ में होंगे।"

अंत में कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने भारतीय नेताओं का ध्यान परस्पर सद्भावना और आदान-प्रदान की ओर आकर्षित करते हुए अधिकार-हस्तांतरण के कारण ब्रिटेन और संयुक्त-राष्ट्र-संविधान-सभा के बीच में संधि की चर्चा की और यह आशा प्रगट की कि "नया स्वतंत्र भारत ब्रिटिश-राष्ट्र-समूह का सदस्य बना रहना स्वीकार करेगा। कुछ भी हो हमें आशा है कि आप हमारे देश-वासियों के साथ घनिष्ठता और मित्रता के संबंध बनाये रखेंगे। लेकिन ये आपके स्वतंत्र निर्णय की बातें हैं। आप कुछ भी निश्चय करें आपके ही समान हमें इस बात की आशा है कि संसार के महान राष्ट्रों में आप अधिकाधिक समृद्धिवान् बनते जायँगे और आपका भविष्य आपके अतीत से अधिक गौरवपूर्ण होगा।"

कैबीनेट प्रतिनिधि मंडल की योजना पर भारतीय लोकमत—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना भारतीय शासन-सुधार की एक महत्त्वपूर्ण योजना थी। महात्मा गांधी के शब्दों में "प्रतिनिधि-मंडल की योजना ऐसी थी

जिसका हमको गौरव होना चाहिये।.........उसमें ऐसा बीजारोपण किया गया है जिसके द्वारा यह दुःखी देश दुःख तथा कष्ट विहीन हो सकता है।" कांग्रेस कार्य-समिति ने, अपना निर्णय करने के पूर्व, भारत-मन्त्री से निम्नलिखित बातों के स्पष्टीकरण की मांग की—(१) क्या प्रांत-समूहों में सम्मिलित प्रांत उनसे अलग हो सकते हैं? आसाम और सीमांत प्रदेश के प्रांतों ने अपने समूहों में रहने की अनिच्छा प्रगट की है। (२) संविधान सभा में भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि किस प्रकार निर्वाचित होंगे? कांग्रेस यह जानना चाहती है कि क्या रियासती जनता को संविधान सभा में उपयुक्त प्रतिनिधित्व मिलेगा? (३) क्या बंगाल और आसाम की विधान-सभाओं के युरोपीय सदस्य ग समूह की संविधान सभा के प्रतिनिधियों के चुनने में वोट देंगे। सीमा-क्षेत्रों के हिंदुओं और सिक्खों को, जिनकी संख्या अंगरेजों से अधिक है, संविधान-सभा में प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। मिस्टर जिन्ना ने योजना की आलोचना यह कह कर की कि उसमें पाकिस्तान के प्रभु-राज्य की व्यवस्था न थी, पाकिस्तानी प्रांत दो पृथक् भागों में विभाजित किये गये थे, दो के स्थान पर एक ही संविधान-सभा की व्यवस्था थी और संयुक्त-राष्ट्रीय विषयों में यातायात के विषय में निश्चियता न थी[१]। अतएव २५ मई को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने एक दूसरा वक्तव्य प्रकाशित किया।

१—मिस्टर जिन्ना के मतानुकूल योजना में यह स्पष्ट न किया गया था कि केवल रक्षा संबंधी यातायात के साधन संयुक्त राष्ट्र के अधीन होंगे। योजना में इस बात का भी उल्लेख न था कि संयुक्त राष्ट्रीय विषयों के शासन के लिए धन कहाँ से मिलेगा? मुस्लिम लीग टैक्स की अपेक्षा अनुदान के पक्ष में थी।

"कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल की संपूर्ण योजना एक इकाई के समान है और वह उसी अवस्था में सफल हो सकती है जब कि स्वीकार करके उस पर सहयोग की भावना से अमल किया जाय।...... संविधान-सभा पूर्ण सत्तायुक्त न थी, पर सम्राट् की सरकार पार्लमेंट में ऐसी कार्रवाई करने की सिफारिश करेगी जो भारतीय जनता को पूर्ण सत्ता देने के लिए आवश्यक समझी जायगी।... प्रांतों के समूह जिन कारणों से बनाये गये हैं उन्हें सभी जानते हैं। यह योजना का एक आवश्यक अंग है। इसमें यदि कोई संशोधन हो सकता है, तो वह दलों के बीच में समझौता होने पर ही हो सकता है। संविधान-निर्माण का कार्य समाप्त हो जाने पर, समूहों से अलग होने का अधिकार स्वयं जनता द्वारा अमल में लाया जायगा। नये प्रांतीय संविधान के अंतर्गत पहले चुनाव में, समूह से अलग होने की बात, एक प्रधान समस्या बन जायगी और नये मताधिकार के अनुसार जिन भी लोगों को वोट देने का अधिकार होगा वे वास्तविक लोकतन्त्रवादी ढंग से निर्णय में भाग ले सकेंगे।......अंतःकालीन सरकार के, रक्षा सहित सब विभाग भारतीयों के अधीन होंगे और उनका निर्धारण राजनीतिक दलों के परामर्श से किया जायगा।......नये संविधान के बनने पर स्वतंत्र भारत की इच्छा के विरुद्ध भारत में ब्रिटिश सेना के रखने का कोई इरादा नहीं है, किंतु अंतःकाल में, जो आशा है छोटा होगा, वर्तमान संविधान के अनुसार भारत की सुरक्षा कायम रखने के लिए ब्रिटिश पार्लमेंट ही उत्तरदायी रहेगी और इस लिए यहाँ (उस समय तक) ब्रिटिश सेना का रखना आवश्यक है।"[1]

---

१. भारतीय समाचार, १५ जून सन् १९४६ पृष्ठ ५५९–६०

६ जून सन् १९४६ को मुस्लिम लीग की कार्य-समिति ने, असंदिग्ध रूप से कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना को स्वीकार कर लिया। किंतु कांग्रेस उस समय तक इक्जीक्यूटिव कौंसिल में समान प्रतिनिधित्व[1] और प्रांतों के समूहीकरण के विषय में स्पष्टीकरण करने और आश्वासन लेने में संलग्न थी।

१६ जून सन् १९४६ को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का तीसरा वक्तव्य प्रकाशित हुआ। इसमें विशेषतया अंतःकालीन सरकार के निर्माण की चर्चा थी। परस्पर समझौता न हो सकने और सुदृढ़ अंतःकालीन सरकार की आवश्यकता के कारण वाइसराय महोदय ने १४ प्रमुख व्यक्तियों के पास इस सरकार में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रण भेजे। उनकी सूची में पाँच कांग्रेसवादी, पाँच मुस्लिम लीगी और चार अल्प-संख्यकों के प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये थे।[2] वक्तव्य में यह भी कहा गया था कि "वाइसराय विभिन्न विभागों के वितरण की व्यवस्था दोनों प्रमुख दलों के नेताओं के परामर्श से करेंगे.........दोनों प्रमुख दलों अथवा उनमें से किसी एक के द्वारा अंतःकालीन सरकार में निर्दिष्ट आधार पर सम्मिलित होने की अनिच्छा प्रगट करने पर वाइसराय का

१. कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्य अतःकालीन इक्जीक्यूटिव में लीग के समान प्रतिनिधित्व से सहमत न थे।

२. आमंत्रित सज्जनों के नाम इस प्रकार थे—सरदार बलदेव सिंह, सर एन० पी० इंजीनियर, श्री जगजीवन राम, पं० जवाहर लाल नेहरू, मिस्टर एम० ए० जिन्ना, नवाबजादा लियाकत अली खाँ, श्री एच० के० मेहताब, डा० जॉन मथाई, नवाब मुहम्मद इस्माइल खाँ, ख्वाजा सर नजीमुद्दीन, सरदार अब्दुर्रयब निश्तर, श्री सी० राजगोपालाचारी, डा० राजेंद्रप्रसाद, और सरदार वल्लभभाई पटेल।

इरादा है कि वे अंतःकालीन संयुक्त-दलीय सरकार के निर्माण-कार्य में अग्रसर रहें। जो लोग १६ मई सन् १९४६ के वक्तव्य को स्वीकार करते हैं, यह सरकार उनका अधिक से अधिक प्रतिनिधित्त्व करेगी[1]।"

आमंत्रित व्यक्तियों के लिए व्यक्तिगत हैसियत से निमंत्रण का स्वीकार करना असंभव था। अतएव पार्टी नेताओं का परामर्श लिया गया। मुस्लिम लीग ने निमंत्रण को स्वीकार करने की अनुमति दे दी किंतु कांग्रेस ने वाइसराय से समूहीकरण के संबंध में कुछ आश्वासन मिलने पर, दीर्घकालीन योजना को तो स्वीकार कर लिया, किंतु अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। फल-स्वरूप अंतःकालीन सरकार के निर्माण का यह प्रयत्न भी असफल रहा, और वाइसराय को सरकारी अधिकारियों की एक कामचलाऊ सरकार स्थापित करनी पड़ी। मिस्टर जिन्ना को इसके कारण बड़ा दुःख हुआ। उनको आशा थी कि कांग्रेस की अस्वीकृति पर मुस्लिम लीग को भारत पर शासन करने का अवसर मिलेगा। किंतु उनकी यह आशा विफल हुई। फलस्वरूप उन्होंने कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के एक इकाई होने के कारण, यह सुझाव पेश किया कि संविधान-सभा के चुनाव भी स्थगित कर दिये जायँ। किंतु तैयारियों के हो जाने के कारण, चुनाव स्थगित न किया जा सके। संविधान-सभा के चुनाव का नतीजा भी वही हुआ जिसकी आशा थी। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों की स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन न हुआ।

---

१. पट्टाभिसीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास खंड २, परिशिष्ट पृष्ठ १०२–४।

उक्त परिस्थिति पर विचार करने के लिए, २७ जुलाई सन् १९४६ को, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का अधिवेशन बंबई में हुआ। प्रथम स्वीकृत प्रस्ताव के महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—"कौंसिल(मुस्लिम लीग की) की राय है कि ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग के साथ विश्वासघात किया है···कांग्रेस ने अंतःकालीन सरकार के संबंध में कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के १६ जून के निर्णय को अस्वीकार कर दिया···परंतु वाइसराय ने १६ जून का प्रस्ताव रद्दी की टोकरी में फेंक दिया और अंतःकालीन सरकार की स्थापना स्थगित कर दी...एक बार संविधान-सभा के अधिवेशन बुला लिये जाने पर कोई ऐसी व्यवस्था अथवा शक्ति नहीं है जो कांग्रेस को उसके प्रबल बहुमत की सहायता से कोई भी ऐसा निर्णय करने से रोक सके जो उसके अधिकार के बाहर हो।··· इस परिस्थिति में मुसलमानों के लिए संविधान-सभा में सम्मिलित होना खतरे से खाली नहीं है। अतएव कौंसिल प्रतिनिधि-मंडल की योजना संबंधी उक्त स्वीकृति को वापस लेने का निर्णय करती है"।[1] दूसरे स्वीकृत प्रस्ताव में लीग ने प्रत्यक्ष कार्रवाई के मार्ग का अवलंबन करके "अंगरेजों की मौजूदा गुलामी तथा सवर्ण हिंदुओं के भावी प्रभुत्व से छुटकारा पाने का निश्चय किया।"

अंतःकालीन सरकार का निर्माण—२२ जुलाई सन् १९४६ को लॉर्ड वैवेल ने अंतःकालीन सरकार के निर्माण के प्रश्न को पुनः उठाया। उन्होंने कांग्रेस के नये सभापति पं० जवाहरलाल नेहरू और मिस्टर जिन्ना के पास अंतःकालीन

---

१. अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का उक्त प्रस्ताव उसकी कौंसिल के उस प्रस्ताव के आधार पर था जो उसने ६ जून सन् १९४६ को पास किया था।

सरकार के निर्माण के लिए, क्रमशः ६ और ५ व्यक्तियों की सूचियाँ भेजने के लिए पत्र लिखे और यह आश्वासन भी दिया कि अल्प-संख्यकों के तीन सदस्य दोनों बड़े दलों के परामर्श से नियुक्त किये जायँगे। मिस्टर जिन्ना ने पत्रोत्तर में मुस्लिम लीग की कार्य-समिति के ६ जून को बंबई के अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव को भेजा, जिसमें कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल की दीर्घ-कालीन और अल्प-कालीन दोनों योजनाएँ अस्वीकृत कर दी गयी थीं और सक्रिय आंदोलन द्वारा पाकिस्तान की प्राप्ति की धमकी दी गयी थी। फलस्वरूप लॉर्ड वैवेल ने पं० जवाहरलाल नेहरू को अंतः-कालीन सरकार के निर्माण के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने मुस्लिम लीग का सहयोग प्राप्त करने के लिए बंबई में मिस्टर जिन्ना से भेंट की। किंतु कुछ परिणाम न निकला। "यदि वाइसराय ने पं० जवाहरलाल नेहरू को गवर्नर जनरल की इक्जीक्यूटिव कौंसिल के निर्माण का अधिकार तथा उनके परामर्श को कार्यान्वित करने का वचन दिया है तो मेरे (मिस्टर जिन्ना के) लिए इस आधार-जनित स्थिति का मानना असंभव था।" फलस्वरूप लीग के सहयोग के बिना अंतःकालीन सरकार बनायी गयी। इसके निर्माण में वाइसराय का लेशमात्र भी हस्तक्षेप न था और न उनके अभिषेध (रद्द करने) के अधि-कार की गुंजाइश। नयी सरकार २ सितंबर से अपना काम आरंभ करने को थी और वह मुस्लिम लीग के सक्रिय आंदोलन का सामना करने को तैयार थी। इधर मुस्लिम लीग अपने निर्धारित कार्य-क्रम को कार्यान्वित कर रही थी। कलकत्ते में भीषण हत्याएँ और अग्निकांड हो रहे थे। तत्पश्चात् नोआखाली की बारी आयी और कांग्रेस द्वारा शासित बिहार का प्रांत भी अल्प-संख्यकों की हत्या में लग गया। कांग्रेसी प्रांतों की स्थिति तो

किसी/न किसी प्रकार काबू में रही किंतु लीगी प्रांतों में हिंदू अल्प-संख्यकों पर अमानुषिक अत्याचार होते रहे जिन्हें रोकने में उनकी सरकारें असमर्थ थीं और जिनके संबंध में प्रांतीय स्वराज्य के कारण न तो केंद्रीय सरकार हस्तक्षेप कर सकती थी और न गवर्नर जनरल अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करने को तैयार थे। ऐसी परिस्थिति में २ सितंबर सन् १९४६ को अंतःकालीन नेहरू-सरकार का जन्म हुआ। महामना मालवीय जी के शब्दों में उस पुण्य तिथि को 'अपने देश में अपना राज' स्थापित हुआ।

मुस्लिम लीग का अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित होना—अंतःकालीन राष्ट्रीय सरकार बन तो गयी किंतु लीग के अलग होने के कारण उससे न तो कांग्रेस को संतोष था और न वाइसराय को। अतएव सितंबर के अंत में इस संबंध में पुनः बातचीत आरंभ हुई और इस बार भूपाल के नवाब ने मध्यस्थ का काम किया। कांग्रेस यह चाहती थी कि मुस्लिम लीग अंतः-कालीन सरकार और संविधान सभा दोनों में सम्मिलित हो किंतु सहयोग करने के लिए। फलस्वरूप लॉर्ड वैवेल, पं० जवाहरलाल नेहरू और मिस्टर जिन्ना में लगभग डेढ़ महीने तक पत्र-व्यवहार हुआ। इसमें अंतःकालीन सरकार संबंधी अनेक बातों का स्पष्टी-करण हुआ। अंत में १५ अक्टूबर सन् १९४६ को मुस्लिम लीग, अपने बंबई के प्रस्तावों[1] को खंडित किये बिना, सांप्रदायिक हितों की रक्षा के लिए अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित हुई। इस संबंध में वाइसराय के नाम मिस्टर जिन्ना के १३ अक्टूबर सन् १९४६ के पत्र का निम्नलिखित सारांश उल्लेखनीय है—मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी ने मुझे अधिकार दिया है कि मैं आपकी

---

१. देखिये पृष्ठ ५२ पूर्व।

अंतःकालीन सरकार संबंधी उस योजना को अस्वीकार कर दूँ जिसे आपने संभवतः सम्राट की सरकार के अधिकार-बल पर निर्मित करने का फैसला किया है। परंतु चूँकि आपके निश्चय के अनुसार हमें केंद्रीय इक्जीक्यूटिव कमेटी के पाँच सदस्य नामजद करने का अधिकार है, अतएव मेरी कमेटी अनेक कारणों से इस नतीजे पर पहुँची है कि मुसलमानों तथा अन्य संप्रदायवालों के हितों के लिए, केंद्रीय सरकार के शासन का सारा क्षेत्र कांग्रेस पर छोड़ देना घातक होगा। "इसके अलावा आपको बाध्य होकर ऐसे मुसलमान लेने होंगे जिनके प्रति मुस्लिम भारत की श्रद्धा नहीं है और जिसके परिणाम बहुत गंभीर होंगे। अंत में अन्य वजनदार आधारों और कारणों से, जो स्पष्ट होने के कारण व्यक्त करने योग्य नहीं हैं, हमने फैसला किया है कि हम केवल मुस्लिम लीग के पाँचों सदस्यों को नामजद कर देंगे।"[१]

इस प्रकार मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि, अंतः कालीन सरकार में आ गये। पं० जवाहर लाल नेहरू को मुस्लिम लीग की इस मनोवृत्ति का पता था अथवा नहीं,[२] और यदि पता था तो उन्होंने

---

१. पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास खंड ३, परिशिष्ट पृष्ठ १०७-१०८।

२. लॉर्ड वैवेल ने पं० जवाहरलाल नेहरू को यह आश्वासन दिया था कि "मिस्टर जिन्ना ने मुझे यह वचन दिया है कि मुस्लिम लीग अंतःकालीन सरकार और संविधान-सभा में सहयोग के इरादे से सम्मिलित होगी।" २३ अक्टूबर सन् १९४६ का पत्र। उन्होंने मिस्टर जिन्ना के पास सहयोग संबंधी पत्र ३ अक्टूबर सन् १९४६ को लिखा था। किंतु अपने २९ नवंबर सन् १९४६ के वक्तव्य में मिस्टर जिन्ना इन बातों से मुकर गये। उन्होंने कहा कि मैंने

सहयोग का वचन लिये बिना, संयुक्त सरकार का नेतृत्व क्यों स्वीकार किया और लॉर्ड वैवेल ने येनकेन प्रकारेण संयुक्त सरकार का बनाना क्यों आवश्यक समझा—इस संबंध में ये कुछ विचारणीय प्रश्न हैं ? पर व्यवहार में वही हुआ जिसकी आशंका थी । अंतः कालीन सरकार में आते ही लीगी सदस्यों ने अडंगा-नीति आरंभ की । उनके मतानुकूल पं० जवाहरलाल नेहरू उनके नेता न थे । उनकी धारणा थी कि अंतःकालीन सरकार सन् १६१६ के संविधान के अंतर्गत स्थापित हुई थी । अतएव प्रत्येक सदस्य का गवर्नर जनरल के साथ प्रत्यक्ष संबंध था । फलस्वरूप संयुक्त उत्तरदायित्व की सब आशाएँ विफल होने लगीं । एक ही सरकार के सदस्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर एक दूसरे के प्रतिकूल अपने व्यक्तिगत् विचार प्रगट करने लगे । देश में सांप्रदायिक तनातनी के कारण मुस्लिम लीग ने यह सुझाव पेश किया कि संविधान-सभा की कार्रवाई निर्धारित तारीख (९ दिसंबर) को आरंभ न हो । कांग्रेस ने इसका विरोध किया । फलस्वरूप मिस्टर जिन्ना ने यह घोषणा की कि मुस्लिम लीग संविधान-सभा में सम्मिलित न होगी । इस पर कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के अंतः-कालीन सरकार से अलग होने की बात छेड़ी । मिस्टर जिन्ना ने यह बात भी न मानी और वाइसराय निर्णय करने में असमर्थ रहे । संभवतः वे नेहरू कैबीनेट के संयुक्त उत्तरदायित्व तथा कामों में अधिकार-समर्पण की चरम सीमा का आभास करने लगे थे जिसके लिए वे तैयार न थे । अतएव वे पत्र-व्यवहार की ऐसी

वाइसराय को इससे अधिक कोई भी आश्वासन नहीं दिया है कि दीर्घकालीन योजना पर अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की कौंसिल ही विचार और निर्णय करेगी ।

गुत्थियों में फँस गये जिनके कई अर्थ हो सकते थे और जिनके सामंजस्य करने में वे अपने को असमर्थ पाते थे।

लंदन का सम्मेलन—लीग के निर्णय के कुछ ही दिनों पश्चात् वाइसराय ने सम्राट की सरकार से पुनः बातचीत आरंभ की। फलस्वरूप लंदन में एक और सम्मेलन आयोजित किया गया। लीग ने उसमें सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया किंतु कांग्रेस ने उसमें भाग लेने से इनकार कर दिया। कालांतर में प्रधान मंत्री एटली के व्यक्तिगत अनुरोध के कारण पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार बलदेव सिंह उसमें सम्मिलित हुए। यह सम्मेलन भी अभीष्ट की पूर्ति में असफल रहा। सम्मेलन के पश्चात् सम्राट की सरकार ने ६ दिसंबर को एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसके महत्वपूर्ण अंशों का भावार्थ इस प्रकार है[१]—

"संविधान-सभा में सब दलों का सहयोग प्राप्त करना इस सम्मेलन का उद्देश्य था।..............जो कुछ कठिनाई उपस्थित हुई है वह कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल की योजना के १९वें[२] पैरे की

---

१. भारतीय समाचार १५ जनवरी सन् १९४७ पृष्ठ ५.

२. These sub-clauses read as follows—

19. (v) These sections shall proceed to settle the Provincial constitutions for the Provinces included in each section and shall also decide whether any group constitution shall be set up for those provinces and, if so, with what provincial sudjects the group shall deal. Provinces shall have the power to opt out of the groups

(५) तथा (८) उपधाराओं की व्याख्या के संबंध में है।......
कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का निरंतर यही मत रहा है कि समूहों (Sections) के निर्णय, किसी समझौते के अभाव में, समूहों के प्रतिनिधियों के साधारण बहुसंख्यक मतों द्वारा किये जायँ। मुस्लिम लीग ने यह मत स्वीकार कर लिया है किंतु कांग्रेस ने एक दूसरा मत प्रस्तुत किया है। उसका कहना है कि सारे वक्तव्य के पढ़ने पर वास्तविक अर्थ यह निकलता है कि प्रांतो को समूह-निर्माण और अपने निजी संविधान दोनों के बारे में निर्णय करने का अधिकार है[1]......संविधान-सभा की सफलता केवल स्वीकृत कार्य-पद्धति द्वारा ही संभव है। यदि कोई संविधान किसी ऐसी

---

in accordance with the the provisions of the sub-clause (viii) below.

19. (viii) As soon as the new constitutional arrangements have come into operation, it shall be open to any province to elect to come out of any Group in which it has been placed. Such a decision shall be taken up by the new legislature of the province after the first general election under the new constitution.

१ कांग्रेस का उक्त मत १५वें पैरे की ५ वीं उप-धारा पर अवलंबित था। वह इस प्रकार है—

'Provinces should be free to form Groups with Executives and Legislatures and each Group could determine the provincial subjects to be taken in common."

संविधान-सभा द्वारा तैयार किया गया हो जिसमें भारतीय जनता के किसी बड़े भाग का प्रतिनिधित्व न हो तो सम्राट की सरकार कभी यह इरादा नहीं रखती और कांग्रेस भी कह चुकी है कि वह भी ऐसा इरादा नहीं करेगी कि ऐसा संविधान देश के किसी अनिच्छुक भाग पर जबरदस्ती लाद दिया जाय।"

संविधान-सभा और २० फरवरी की घोषणा— सम्राट की सरकार की उक्त घोषणा के कारण मुस्लिम लीग का रुख और भी तन गया। इधर कांग्रेस भी अपने निश्चय पर दृढ़ रही। निर्धारित तिथि को संविधान-सभा के अधिवेशन आरंभ हुए। संसार के विभिन्न भागों से शुभ कामनाओं के संदेश आये। आरंभिक कार्य-प्रणाली सफलतापूर्वक समाप्त हो गयी। संविधान-निर्माण का काम भी आरंभ हो गया। पर सभा कुछ अधूरी सी थी। मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति एक चिंताजनक बात थी। ऐसा विदित होने लगा कि लॉर्ड वैवेल मुस्लिम लीग और कांग्रेस का समझौता न करा सकेंगे। उनकी नियुक्ति भी युद्ध-कालीन परिस्थिति के कारण हुई थी। युद्ध के अंत के पश्चात् उनके पदाधिकारी बने रहने की विशेष आवश्यकता न थी। अतएव २० फरवरी सन् १९४७ को, पार्लमेंट में भाषण देते हुए ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने वाइसराय के बदलने की घोषणा की और राजकीय सत्ता के हस्तांतरण की भी तिथि निर्धारित की। "सम्राट की सरकार स्पष्ट रूप से अपने इस निश्चय की सूचना देती है कि वह जून सन् १९४८ तक, उत्तरदायी भारतीयों के हाथ में अधिकार सौंपने के कार्य को संपन्न कर देगी।" तत्पश्चात् लॉर्ड वैवेल की सेवाओं की प्रशंसा करते हुए उन्होंने मार्च के महीने से एडमिरल माउंटबैटेन के गवर्नर जनरल और वाइसराय के पद पर

नियुक्त किये जाने की घोषणा की। "सम्राट ने एडमिरल माउंट-बैटेन की नियुक्ति, लॉर्ड बैवेल के स्थान पर प्रसन्नतापूर्वक की है। इनको भारत की भावी समृद्धि और संपन्नता को दृष्टिकोण में रखते हुए भारत-सरकार का दायित्व भारतीयों के हाथ में सौंपने का भार दिया जायगा।" इस घोषणा के कारण भारत का राजनीतिक वातावरण पुनः स्फूर्तिमय हो गया। पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "घोषणा कई स्थानों में अस्पष्ट है। अतएव उस पर ध्यानपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। किंतु उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ब्रिटिश सरकार ने जून सन् १९४८ तक भारतीयों के हाथ में राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण का निश्चय कर लिया है।"[1] सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स के विचारानुकूल तिथि-निर्धारण के कारण यह संभव था कि "भारतीय राजनीतिक दल एक दूसरे के अधिक निकट आ जायँ।" किंतु मुस्लिम लीग की नीति और कामों पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। वह अपनी सांप्रदायिकता में संलग्न रही और उसके सक्रिय आंदोलन के कारण समस्त भारत, विशेषतया पंजाब, में निरपराध रक्तपात होता रहा।

लार्ड माउंटबैटेन का आगमन--२३ मार्च सन् १९४७ को लॉर्ड माउंटबैटेन भारत में पहुँचे। कहा जाता था कि वे अधिकार-हस्तांतरण संबंधी अनेक अधिकारों से युक्त थे। पद की शपथ लेने के पश्चात्, अन्य बातों का उल्लेख करते हुए उन्होंने परस्पर सद्भावना की अपील की।[2] "............इस बीच में हम में से हर एक को चाहिये कि हम कोई ऐसी बात

---

१. भारतीय समाचार, सन् १९४७ पृष्ठ १९५-९६।

२. भारतीय समाचार, १५ अप्रैल सन् १९४७ पृष्ठ ३०२।

न कहें और ऐसा काम न करें जिससे कटुता और बढ़ जाय और निर्दोष हताहतों की संख्या में वृद्धि हो जाय। मैं जानता हूँ कि बहुत से लोग उद्देश्य की पूर्ति के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं। मैं उन्हें समर्थन देने के लिए, जो कुछ भी हो सकेगा, करूँगा।............मेरा काम कितना कठिन है इसके संबंध में मुझे कोई भ्रम नहीं है। मुझे अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक सद्भावना की आवश्यकता होगी और आज मैं भारत से उसी सद्भावना की याचना करता हूँ।" इसके पश्चात् उन्होंने भारतीय नेताओं से मिलना आरंभ किया। अंतःकालीन सरकार के मंत्रियों के अतिरिक्त वे गांधीजी, मिस्टर जिन्ना, आचार्य कृपलानी और प्रांतीय गवर्नरों से मिले। एक नये गोलमेज-सम्मेलन की चर्चा होने लगी। भारत में शांति और व्यवस्था की स्थापना के लिए उन्होंने गांधीजी और मिस्टर जिन्ना दोनों से एक संयुक्त अपील निकलवायी; किंतु उसका विशेष प्रभाव न पड़ा। सांप्रदायिक वैमनस्य के कारण बंगाल और पंजाब के विभाजन की चर्चा उन्हीं कारणों से जोर पकड़ने लगी जिन कारणों से देश के विभाजन पर जोर दिया जा रहा था। ऐसा विदित होता था कि यदि मुस्लिम लीग की पाकिस्तान संबंधी माँग स्वीकृत होगी तो जिस पाकिस्तान का निर्माण होगा वह मूल पाकिस्तान का अंशमात्र रह जायगा। २ मई सन् १९४७ तक लॉर्ड माउंटबैटन भारतीय परिस्थिति संबंधी कुछ निश्चित निर्णयों पर पहुँचे और उन्होंने उन्हें सम्राट की सरकार के पास लिख भेजा। १८ मई को वे लंदन के लिए रवाना हुए। विचार-विनिमय के पश्चात् सम्राट की सरकार ने ३ जून सन् १९४७ को भारतीय शासन संबंधी एक नयी घोषणा की।

३ जून सन् १९४७ की घोषणा—३ जून सन् १९४७ की

घोषणा भारत के संवैधानिक विकास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। उसके द्वारा अंतःकालीन सरकार का दर्जा डोमीनियन के दर्जे का सा हो गया। सम्राट की सरकार ने भारतीय संविधान-सभा और उसके काम को स्वीकार किया। किंतु साथ ही एक नयी संविधान-सभा की स्थापना का भी संकेत किया। "सम्राट की सरकार मौजूदा संविधान-सभा के काम में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालना चाहती।.........
यह भी स्पष्ट है कि इस सभा द्वारा बनाया गया संविधान देश के उन प्रदेशों पर लागू नहीं हो सकता जो इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। सम्राट की सरकार को विश्वास है कि जो कार्य-प्रणाली नीचे दी जा रही है वही इस विषय में इन प्रदेशों के लोगों के मत जानने का सर्वोत्तम व्यावहारिक साधन है कि वे अपना संविधान मौजूदा संविधान-सभा में बैठकर बनाना चाहते हैं अथवा एक नयी संविधान-सभा में जिसमें उन प्रदेशों के प्रतिनिधि शामिल हों जो मौजूदा सभा से पृथक् रहना चाहते हैं। जब इस बात का फैसला हो चुकेगा तब यह निश्चय करना संभव होगा कि शासनाधिकार किस सत्ता अथवा किन सत्ताओं को सौंपा जाना चाहिये।"[1] सांकेतिक कार्य-प्रणाली में बंगाल और पंजाब की विधान-सभाओं के सदस्यों को, (यूरोपियन सदस्यों को छोड़ कर) मुस्लिम और गैर-मुस्लिम भागों में विभक्त करके, प्रत्येक भाग द्वारा बहुमत के आधार पर यह निश्चित करने की व्यवस्था थी कि वे प्रांत के बंटवारे के पक्ष में थे अथवा नहीं। विभाजन के पक्ष में निर्णय होने पर, गवर्नर जनरल द्वारा एक सीमा-निर्धारण कमीशन नियुक्त किया जाने को था जिसका काम मुस्लिम और गैर-

१. भारतीय समाचार, जून १५, १९४७ पृष्ठ ४४६.

मुस्लिम प्रदेशों का निर्धारित करना था। विभाजित प्रांतों के प्रत्येक भाग को यह निश्चित करने का अधिकार था कि वह मौजूदा संविधान-सभा में सम्मिलित होगा अथवा एक नयी संविधान-सभा में। सिंध की विधान-सभा को बहुमत के आधार पर और सीमा-प्रांत की विधान-सभा के निर्वाचकों को बहु-संख्यक जन-मत द्वारा इसी प्रकार के निर्णय करने का अधिकार दिया गया था। बंगाल के बँटवारे के पक्ष में निर्णय होने पर, आसाम के सिलहट जिले को जन-मत-संग्रह द्वारा यह निश्चित करने का अधिकार था कि वह पूर्वी बंगाल में सम्मिलित होगा अथवा आसाम का भाग बना रहेगा। बँटवारे के पक्ष में निर्णय होने पर यथाशीघ्र विभाजन-संबंधी परिणामों के बारे में परस्पर वार्ता की व्यवस्था थी और यह स्पष्ट कर दिया गया था कि उपयुक्त निर्णयों का संबंध केवल ब्रिटिश भारत से था और रियासतों के संबंध में ब्रिटिश सरकार की नीति वही बनी हुई थी जो कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की १६ मई सन् १९४६ के वक्तव्य में प्रकाशित की गयी थी।[1] अंत में ब्रिटिश सरकार की घोषणा में शीघ्रता से कार्य संपन्न करने पर जोर दिया गया और यह स्पष्ट कर दिया गया कि "प्रमुख राजनीतिक दलों (इंगलैंड के) ने बार-बार यह इच्छा प्रकट की है और इस बात पर जोर दिया है कि भारत में शीघ्र से शीघ्र सत्ता भारतीयों को सौंप दी जाय। सम्राट की सरकार इस इच्छा से पूर्ण सहानुभूति रखती है और वह स्वतंत्र भारत की सरकार या सरकारों की स्थापना द्वारा जून सन् १९४८ के पहले ही सत्ता हस्तांतरण के लिए तैयार है। अतएव इस इच्छा

---

१. देखिये पृष्ठ ४२ पूर्व।

को यथाशीघ्र और व्यावहारिक रूप में पूरा करने के लिए सम्राट की सरकार का इरादा है कि पार्लमेंट के हाल के अधिवेशन में ही एक या दो उत्तराधिकारिणी सत्ताओं को, जैसा कि इस घोषणा के परिणाम-स्वरूप फैसला हो, सत्ता सौंपने के लिए, औपनिवेशिक पद के आधार पर व्यवस्था पेश की जाय। इस कार्रवाई का, भारतीय संविधान-सभा द्वारा, कालांतर में यह फैसला करने के अधिकार पर, कि वह प्रदेश जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में रहेगा अथवा नहीं, कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।"[१]

३ जून की घोषणा और भारतीय लोकमत—

३ जून की घोषणा के कारण भारतीय वातावरण पुनः आशातीत हो गया। भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू के तत्संबंधी विचार इस प्रकार थे—"हमने इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लेने का तथा अपनी बड़ी समितियों से यह सिफारिश करने का निर्णय किया है कि उन्हें भी प्रस्तावों को मान लेना चाहिये। ......आपके आगे इन प्रस्तावों की सिफारिश करते हुए मुझे खुशी नहीं हो रही है। हाँ, मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि इस समय यही रास्ता ठीक है।......दूर दृष्टि से भी मौजूदा फैसला ठीक है। जिस संयुक्त भारत के लिए हम लड़ते और काम करते आये हैं उसका आधार जबरदस्ती नहीं, जनता की स्वेच्छा होनी चाहिये। हो सकता है कि इस प्रकार हम संयुक्त भारत के ध्येय को जल्दी प्राप्त कर सकें।"[२] सरदार बलदेव सिंह (रक्षा-मंत्री) के विचारानुकूल "इस योजना से

---

१ भारतीय समचार, १५ जून १९४७, पृष्ठ ४५८।

२ भारतीय समाचार, १५ जून १९४७, पृष्ठ ४६०।

हर एक व्यक्ति संतुष्ट नहीं है और सिक्ख संप्रदाय भी किसी प्रकार प्रसन्न नहीं है। किंतु फिर भी योजना का कुछ मूल्य अवश्य है और हमें उसको उसी मूल्य पर स्वीकार कर लेना चाहिये।[1] मिस्टर जिन्ना ने मुस्लिम लीग की कौंसिल के निर्णय पर अंतिम फैसला छोड़ते हुए, अपने व्यक्तिगत् विचारों को इस प्रकार प्रगट किया, "मुझे यह अवश्य कहना चाहिये कि वाइसराय महोदय को विभिन्न शक्तियों के विरुद्ध बड़ी वीरता से लड़ना पड़ा है और मेरे मस्तिष्क पर यह प्रभाव अंकित हुआ है कि उन्होंने न्यायोचित और पक्षपातहीन उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य किया है और अब उनके कार्य को हल्का बनाना तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनकी सहायता करना हमारा काम है ताकि वे शांतिपूर्वक और व्यवस्थित ढंग से भारत के लोगों को सत्ता हस्तांतरित कर सकें।"[2] लॉर्ड लिस्टोवेल के विचारानुकूल "विभाजन के लाभ उस समय भली भाँति समझ में आ जायँगे जब विभाजन कर दिया जायगा।"[3] गांधीजी ३ जून की योजना से पूर्ण रूप से संतुष्ट न थे। ४ जून के प्रार्थना-भाषण में उन्होंने इस संबंध में अपने विचारों को इस प्रकार प्रगट किया था, "जनता को यह विस्मरित न कर देना चाहिये कि कांग्रेस को इस स्थिति में आने के लिए बाध्य किया गया है। मैं आप लोगों के हृदय की कसक को यह कह कर कम कर देना चाहता हूँ कि हिंदुओं, मुसलमानों और सिक्खों का अब तक कुछ भी नुकसान नहीं हुआ है।

१—भारतीय समाचार जून १५, १९४७, पृष्ठ ४६३।

२—भारतीय समाचार जून १५, १९४७, पृष्ठ ४६२।

३—The Leader, June 5, 1947.

जो कुछ वाइसराय ने किया है, उसे वे परस्पर समझौते द्वारा रद्द कर सकते हैं।"[1] हिंदू महासभा के सभापति श्री एल० बी० भोपटकर के विचारानुकूल नयी योजना से यह स्पष्ट था कि "ब्रिटिश सरकार सत्ता हस्तांतरण के लिए उत्सुक थी और मुस्लिम लीग का परिपक्व नेतृत्व (Virile Leadership) कांग्रेस हाई कमांड के कच्चे नेतृत्व (Puerile Leadership) के सम्मुख विजय प्राप्त कर रहा था।"[2] कुछ विदेशी लोगों के विचार भी विभाजन के अनुकूल न थे। बर्मा के नेता आंगसेन के शब्दों में "विभाजित भारत केवल भारतीयों के लिए ही नहीं, वरन् समस्त एशिया और समस्त संसार की शांति के लिए अपशकुन-सूचक था।"[3] अमरीका के कुछ लोग भी विभाजन के प्रतिकूल थे। डेमोक्रैटिक पार्टी के न्यूयार्क के प्रतिनिधि मिस्टर इमैन्युयल सेलर के विचारानुकूल, "ब्रिटिश सरकार ने मिस्टर जिन्ना को प्रसन्न करने की कोशिश की है॥ मेरी समझ में यह नहीं आता कि किस प्रकार से देश का पाकिस्तान और हिंदुस्तान में विभाजन किया जायगा अथवा अंग-विच्छिन्न पाकिस्तान अपना काम चला सकेगा।"[4]

अंतिम निर्णय— किंतु कालांतर में ३ जून की घोषणा एक प्रकार से समस्त भारत द्वारा स्वीकृत समझी गयी और ब्रिटिश सरकार ने भी घोषणा के अनुसार, उस पर कानूनी कारवाई आरंभ कर दी। बंगाल और पंजाब ने अपना निर्णय

---

१. The Leader, June 6, 1947.
२. The Leader, June 7, 1947.
३. The Leader, June 5, 1947.
४. The Leader, June 5, 1947.

विभाजन के पक्ष में किया, सिलहट ने पूर्वी बंगाल से मिलने के पक्ष में और उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रांत और सिंध ने नयी संविधान सभा के पक्ष में। फलस्वरूप पाकिस्तान का बनना अनिवार्य सा हो गया। ४ जुलाई सन् १९४७ को ब्रिटिश पार्लमेंट में भारतीय स्वतंत्रता का बिल पेश हुआ। इसमें १५ अगस्त सन् १९४७ तक सत्ता-हस्तांतरण की व्यवस्था थी। १८ जुलाई सन् १९४७ को पार्लमेंट ने इस बिल को पास करके इसे ऐक्ट का रूप दे दिया और इसी साल की १५ अगस्त को यह ऐक्ट भारत पर लागू कर दिया गया।
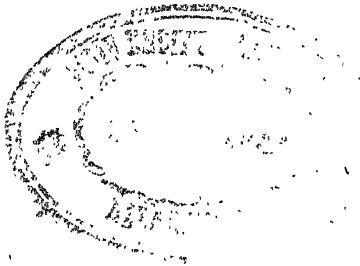
दूसरा परिच्छेद

भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट सन् १९४७

भारतीय स्वतंत्रता बिल का शीर्षक—दो स्वतंत्र डोमीनियनों की व्यवस्था—भारत और पाकिस्तान के प्रदेश—डोमीनियनों के गवर्नर जनरल—डोमीनियन लेजिस्लेचरों (विधान-मंडलों) की प्रभुसत्ता—नयी डोमीनियनों के बनने के परिणाम—नयी डोमीनियनों की संक्रमण-कालीन शासन-व्यवस्था—भारत-मंत्री की नौकरियाँ—भारतीय और ब्रिटिश सेनाएँ—भारत-मंत्री, उनके परामर्श-दाता तथा उनके द्वारा एवं विरुद्ध चलाये गये कानूनी मामले—स्वतंत्रता ऐक्ट की अन्य धाराएँ—स्वतंत्रता ऐक्ट पर भारतीय लोकमत—१८ जुलाई से १५ अगस्त सन् १९४७ तक।

भारतीय स्वतंत्रता बिल का शीर्षक—१५ अगस्त सन् १९४७ भारत के राजनीतिक विकास की एक महत्त्वपूर्ण तिथि है। किंतु उतनी ही महत्त्वपूर्ण इसी साल की ४ और १८ जुलाई की तिथियाँ हैं जब कि भारतीय स्वतंत्रता बिल क्रमशः ब्रिटिश पार्लमेंट में पेश किया गया था और शाही अनुमति पाकर ऐक्ट बन गया था। इसी कानूनी आधार पर १५ अगस्त सन् १९४७ के संवैधानिक परिवर्तन किये गये। बिल के उद्देश्य इस प्रकार थे—"दो स्वतंत्र डोमीनियनों के निर्माण की व्यवस्था करना, भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट की उन धाराओं के बदले नयी धाराओं को स्थान देना, जिनका संबंध डोमीनियन के बाहर की बातों से है और दो डोमीनियनों के निर्माण के परिणाम-स्वरूप तथा संबंधित अन्य बातों की व्यवस्था

करना ।" इन उद्देश्यों से यह स्पष्ट है कि भारतीय स्वतंत्रता बिल मुख्यतः ब्रिटिश भारत में दो डोमिनियनों के निर्माण तथा भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट में तत्संबंधी संशोधन करने के लिए पेश किया गया था। वह अंतिम निर्णय के समान न था; वरन् एक ऐसे प्रस्ताव के रूप में था जिसके कारण "भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधियों को अपने-अपने संविधान बनाने तथा अति कठिन संक्रमण काल की व्यवस्था करने की क्षमता मिल जाय।"[१]

दो स्वतंत्र डोमिनियनों की व्यवस्था—भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट की पहली धारा में दो स्वतंत्र डोमिनियनों की व्यवस्था की गयी थी। "१५ अगस्त सन १९४७ से भारत में दो स्वतंत्र डोमिनियनें बनेंगी जिनके नाम क्रमशः भारत और पाकिस्तान होंगे।" स्वतंत्र शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट कर दिया गया था कि दोनों डोमिनियनें एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र होंगी

---

१. This bill is unlike other bills dealing with India. It does not lay down, as in the Act of 1935, a new constitution for India providing for every detail. It is far more in the nature of an enabling bill – a bill to enable the representatives of India and Pakistan to draft their own constitutions, and to provide for the exceedingly difficult period of transition". — Prime Minister Attlee's Speech in the House of Commons on the occassion of the second reading of the bill on the 11th of July 1947.

और उन पर किसी प्रकार का बाह्य नियंत्रण न रह जायगा। 'डोमीनियन' शब्द के साथ 'स्वतंत्र' शब्द का प्रयोग कुछ अनुपयुक्त सा था। वेस्ट मिंस्टर स्टेच्यूट[1] की व्यवस्था के कारण डोमीनियन और स्वतंत्र-राज्य में किसी प्रकार का महत्वपूर्ण अंतर न रह गया था। पर भारत में किसी प्रकार के संदेह को स्थान न देने के लिए 'स्वतंत्र' शब्द का प्रयोग आवश्यक था। कुछ लोगों का विचार था कि नयी डोमीनियनों के नाम हिंदुस्तान और पाकिस्तान हों। किंतु कांग्रेस इससे सहमत न थी। उसके विचारानुकूल हिंदुस्तान शब्द से यह आभास होता था कि उस नाम का देश केवल हिंदुओं का निवास-स्थान था और वह इस बात को नापसंद करती थी। फल-स्वरूप एक डोमीनियन का नाम तो पाकिस्तान कर दिया गया पर दूसरी का नाम पूर्ववत् भारत (India) बना रहा। इसका तात्पर्य यह था कि भारत के कुछ प्रदेश उससे अलग कर दिये गये थे और उनसे पाकिस्तान नाम की नयी डोमीनियन का निर्माण किया गया था।

---

१ डोमीनियन के दर्जे के संबंध में वेस्ट मिंस्टर स्टेच्यूट की व्यवस्था इस प्रकार थी—"They are autonomous communities within the British Empire, equal in status, in no way subordinate one to another in any aspect of their domestic and external affairs, though united by a common allegiancc to the Crown and freely associated as members of the British Commonwealth of Nations—" Wheare: The Statute of West-Minster and Dominion status P. 23.

भारत और पाकिस्तान के प्रदेश—स्वतन्त्रता ऐक्ट की दूसरी, तीसरी और चौथी धाराओं में दोनों डोमीनियनों के प्रदेश की व्यवस्था की गई थी। पाकिस्तान के प्रदेश निर्धारित कर दिये गये थे और ब्रिटिश भारत के अवशिष्ट प्रदेशों को भारत का नाम दिया गया था। प्रदेश-निर्धारण का आधार निवासियों का साम्प्रदायिक बहुमत था। पर अन्तिम निर्णय सीमा-निर्धारण कमीशनों[1] पर छोड़ दिया गया था। जो अपना निर्णय देते समय सांप्रदायिक बहुमत के अतिरिक्त कुछ अन्य बातों पर भी विचार करने को थे। दूसरी धारा की तीसरी और चौथी उप-धाराओं द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया था कि उक्त सीमा-निर्धारण अपरिवर्तनशील न होगा। किसी प्रदेश को, एक डोमीनियन में सम्मिलित तथा उससे पृथक होने का, इस शर्त पर अधिकार था कि सम्बन्धित डोमीनियनें इस सम्बन्ध में अपनी अनुमति दे दें। ऐक्ट की इस व्यवस्था के कारण भविष्य में सीमा-परिवर्तन की सम्भावना थी किन्तु यह आशा निर्मूल थी कि कोई भी डोमीनियन अपने किसी प्रदेश को अपने से पृथक होने की अनुमति दे देगी। भारतीय रियासतों को एक या दूसरी डोमीनियन में सम्मिलित होने की स्वतन्त्रता दी गयी थी। किंतु वे स्वतन्त्र न हो सकती थीं। व्यवहार में एक या दूसरी डोमीनियन से मिलने का क़ानूनी अधिकार भी बहुत कुछ सीमित था। स्वतन्त्रता ऐक्ट के पास होने के पूर्व ही उन्होंने भौगोलिक स्थिति

---

१. कुछ दिनों पश्चात् सर सीरिल रैडक्लिफ़ की अध्यक्षता में बंगाल और पंजाब के सीमा-निर्धारण कमीशन नियुक्त हुए। उन्होंने १८ अगस्त को अपना निर्णय दिया, जिसे दोनों डोमीनियनों ने दोषपूर्ण होते हुए भी स्वीकार कर लिया।

की महत्ता को स्वीकार कर लिया था। वाइसराय के विचारानुकूल "कुछ भौगोलिक अनिवार्यताएँ ऐसी थीं जिनसे बचना असंभव था।"

डोमीनियनों के गवर्नर जनरल—स्वतंत्रता ऐक्ट की पाँचवीं धारा में नव-निर्मित डोमीनियनों के गवर्नर जनरलों की व्यवस्था थी। "प्रत्येक डोमीनियन के शासन के लिए सम्राट (His Majesty) द्वारा नियुक्त एक गवर्नर जनरल होगा, पर इस शर्त पर, कि जब तक किसी डोमीनियन का लेजिस्लेचर विरोधात्मक कानून न बनावे, तब तक एक ही व्यक्ति दोनों डोमीनियनों का गवर्नर जनरल नियुक्त किया जा सके।" इस धारा से यह स्पष्ट है कि सम्राट की सरकार दोनों डोमीनियनों के लिए, एक ही व्यक्ति को, गवर्नर जनरल नियुक्त करना चाहती थी। इसका उद्देश्य संभवतः देश का शांतिपूर्ण विभाजन था। किंतु मुस्लिम लीग की आपत्ति के कारण यह निर्णय कार्यान्वित न किया जा सका और कालांतर में दोनों डोमीनियनों के अलग-अलग गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल की अन्य डोमीनियनों के गवर्नर जनरलों को, सम्राट डोमीनियन मंत्रिमंडलों की सिफ़ारिश पर नियुक्त करते हैं। किंतु नव-निर्मित डोमीनियनों की स्थिति कुछ अपूर्व सी थी। १५ अगस्त सन् १९४७ के पूर्व उनके पृथक मंत्रि-मंडलों का अस्तित्व ही न था। अतएव उनके प्रथम गवर्नर जनरलों की नियुक्ति के समय, सम्राट और सम्राट की सरकार को एक अनोखे ढंग से काम करना पड़ा। विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं का परामर्श लिया गया और उसके आधार पर सम्राट की सरकार ने उनसे गवर्नर जनरलों की नियुक्ति के संबंध में सिफ़ारिश की और जिन व्यक्तियों की सिफारिश की गयी

वे गवर्नर जनरल नियुक्त कर दिये गये। इसमें संदेह नहीं कि नियुक्ति की प्रणाली का उक्त परिवर्तन महत्वपूर्ण था किंतु भारतीय परिस्थिति में इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग भी न था और ब्रिटिश प्रधान मंत्री मिस्टर एटली के कथनानुसार यह प्रणाली विशेष परिस्थिति के कारण केवल इसी अवसर के लिए अपनायी गयी थी।

डोमीनियन लेजिस्लेचरों (विधान-मंडलों) की प्रभु-सत्ता—स्वतंत्रता ऐक्ट की छठी धारा में डोमीनियनों की विधान-मंडलों की प्रभु-सत्ता की व्यवस्था थी। भारतीय दृष्टि-कोण से ऐक्ट की यह धारा सबसे अधिक महत्व की थी। विधान-मंडलों की प्रभु-सत्ता से तात्पर्य है उनका वह अधिकार, जिसके कारण वे किसी विषय के कानून बना तथा उनको रद्द कर सकें और किसी बाह्य सत्ता द्वारा निर्मित नियम न तो उनके नियमों से श्रेष्ठतर समझे जायँ न उनको रद्द कर सकें। १५ अगस्त सन् १९४७ के पूर्व भारतीय विधान-मंडल की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। उसके अधिकार निम्नलिखित सीमाओं के कारण परिमित थे।

(१) वह ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किये गये भारत पर लागू विधियों से असंगत विधियाँ न बना सकता था। स्वतंत्रता ऐक्ट द्वारा यह बंधन मिटा दिया गया। डोमीनियन के लेजिस्लेचर अब ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किये गये ऐक्टों (जिसमें भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट सन् १९४७ की भी गणना थी) तथा तत्संबंधी जारी किये गये नियमों और उपनियमों से असंगत कानून बना सकते थे। वे ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा स्वीकृत विधियों को रद्द तक कर सकते थे।

(२) उसके द्वारा पास किये गये विधेयकों को गवर्नर जनरल सम्राट की अनुमति के लिए रिज़र्व कर सकते थे और सम्राट को 'अनुमति देने अथवा न देने, उन्हें रद्द करने तथा स्थगित करने का पूर्ण अधिकार था। स्वतंत्रता ऐक्ट के कारण यह बंधन भी मिटा दिया गया। संवैधानिक शासक होने के नाते गवर्नर जनरल के विशेष अधिकारों की इतिश्री हो गयी और यह स्पष्ट कर दिया गया कि डोमिनियन लेजिस्लेचरों द्वारा पास किया गया कोई भी विधेयक सम्राट की अनुमति के लिए रिजर्व न किया जायगा।

(३) ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किये गये अनेक ऐक्ट भारत पर भी लागू होते थे। स्वतंत्रता ऐक्ट के कारण इस व्यवस्था का भी अंत हो गया। अब ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किया गया कोई भी ऐक्ट इस देश की किसी भी डोमिनियन पर उस समय तक लागू नहीं हो सकता था जब तक डोमिनियन का लेजिस्लेचर स्वेच्छा से उसे अंगीकार न कर ले। यही व्यवस्था स-कौंसिल सम्राट के ऑर्डरों तथा ऐक्टों और ऑर्डरों के अंतर्गत जारी किये गये नियमों, उपनियमों और ऑर्डरों के विषय में भी की गयी थी।

स्वतंत्रता ऐक्ट द्वारा डोमीनियन लेजिस्लेचरों की केवल सीमाएँ ही दूर नहीं की गयी थीं वरन् उन्हें स्पष्ट रूप से सब प्रकार के क़ानूनों के बनाने का अधिकार भी प्रदान किया था। "प्रत्येक डोमीनियन के लेजिस्लेचर को, डोमीनियन संबधी सब विधियों के, जिनमें डोमीनियन के बाहर लागू होने वाले विधियों की भी गणना है, बनाने का पूर्ण अधिकार होगा।" वे अपनी सत्ता को सीमित भी कर सकते थे। यह व्यवस्था संभवतः डोमिनियनों में भावी संघ-राज्यों की स्थापना के कारण

की गयी थी, किंतु इसके कारण उनकी प्रभु-सत्ता पर किसी प्रकार का कुप्रभाव नहीं पड़ा था।

नयी डोमिनियनों के बनने के परिणाम—स्वतंत्र ऐक्ट की सातवीं धारा में नयी डोमिनियनों के निर्माण के परिणामों का उल्लेख था। सम्राट की सरकार डोमिनियनों के निर्माण के पूर्व ब्रिटिश भारत की सरकार के लिए उत्तरदायी थी और वह भारतीय रियासतों और कबाइली जातियों से संधियों और संबंधों के आधार पर संबंधित थी। स्वतंत्रता ऐक्ट द्वारा उक्त उत्तरदायित्वों और संबंधों की इतिश्री कर दी गयी। "निर्धारित तिथि से सम्राट की युनाइटेड किंगडम की सरकार पर उन प्रदेशों के शासन का कुछ भी उत्तरदायित्व न रह जायगा जो उस तिथि तक ब्रिटिश भारत में सम्मिलित थे। उसी दिन से भारतीय रियासतों के संबंध में सम्राट की सार्वभौम सत्ता की भी इतिश्री हो जायगी। इसके साथ-साथ वे संधियाँ और समझौते भी जो ऐक्ट के पास होने के समय सम्राट और भारतीय रियासतों के संबंध के विषय में प्रचलित थे, वे कार्य जो सम्राट भारतीय रियासतों के संबंध में कर सकते थे, वे बंधन जो सम्राट पर भारतीय रियासतों तथा उनके नरेशों के संबंध में लागू थे और वे सब अधिकार, जो उस दिन तक संधियों, प्रथाओं, स्वीकृतियों तथा अन्य कारणों से भारतीय रियासतों में सम्राट के थे, निर्धारित दिन से समाप्त समझे जायँगे।" यही व्यवस्था कबाइली जातियों तथा क्षेत्रों के विषय में भी की गयी थी।

भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट की उक्त धारा 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के कार्यान्वित रूप के समान थी। व्यवहार में यह सबसे अधिक विवादास्पद सिद्ध हुई। भारतीय रियासतों में से कुछ, इस धारा के आधार पर अपने को स्वतंत्र बनाने की इच्छा करने

लगीं और कुछ भौगोलिक अनिवार्यताओं की अवहेलना करके मन चाही डोमिनियन में सम्मिलित होने की इच्छुक हुईं। सम्राट की सरकार की मंशा इस प्रकार की न थी। कानूनी दृष्टि से रियासतें स्वतंत्र अवश्य हो गयी थीं किंतु व्यावहारिक दृष्टि से, वास्तविक परिस्थिति के आधार पर, उनके लिए एक या दूसरी डोमीनियन से मिलना अनिवार्य था। लॉर्ड माउंटबैटेन के विचारानुकूल ब्रिटिश शासन-काल में समस्त भारत का एकीकरण हो गया था। आयात-कर, डाकखानों, तारघरों और यातायात के साधनों के कारण, ब्रिटिश भारत और रियासतें एक दूसरे से संबंधित थीं। स्वतंत्र होने पर इन संबंधों के इतिश्री की आशंका थी। यह परिस्थिति स्वयं रियासतों के लिए अहितकर सिद्ध होती। अतएव उन्होंने रियासतों को भारतीय डोमीनियन में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया। "मुझे इस विषय में लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि भारतीय यूनियन में सम्मिलित होना रियासतों के हित में सिद्ध होगा और प्रत्येक समझदार शासक और सरकार इस आधार पर महान भारतीय डोमीनियन से मिलने की इच्छुक होगी कि उसकी आंतरिक स्वतंत्रता बनी रहे और वह पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा, यातायात के साधनों आदि की चिंता से मुक्त रहे।......अपने पड़ोस वाली डोमीनियन की सरकार से बचना रियासतों के लिए उतना ही कठिन है जितना अपनी प्रजा से बचना जिसके कल्याण के लिए वे उत्तरदायी हैं।" भारतीय राजनीतिज्ञों ने भी रियासतों के प्रति सद्भावना तथा सहानुभूति का बर्ताव किया। उन्होंने उनसे स्वेच्छापूर्वक, परिस्थिति के दबाव के अनुसार, डोमीनियनों से मिलने के लिए आमंत्रित किया। फलस्वरूप स्वतंत्रता ऐक्ट की यह विवादास्पद धारा विवादरहित हो गयी

और हैदराबाद के अतिरिक्त प्रायः सभी रियासतें एक या दूसरी डोमीनियन से मिल गयीं। ऐक्ट की इसी धारा के अनुसार सम्राट की उपाधि में भी कुछ परिवर्तन किये गये। अब तक वे भारत के सम्राट (Emperor of India) थे, किंतु भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट के कारण, पार्लमेंट की अनुमति से, उनकी उपाधि का यह अंश निकाल दिया गया।

नयी डोमीनियनों की संक्रमण-कालीन शासन-व्यवस्था—स्वतंत्रता ऐक्ट की आठवीं और नवीं धाराओं में संक्रमण-कालीन शासन-व्यवस्था का उल्लेख था। प्रत्येक डोमीनियन की संविधान-सभा को लेजिस्लेचर की हैसियत से डोमीनियन के संविधान के निर्माण का अधिकार दिया गया था और यह स्पष्ट कर दिया गया था कि जब तक कोई नयी व्यवस्था न की जाय, नयी डोमीनियनों और प्रांतों का शासन न्यूनाधिक भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट, स-कौंसिल सम्राट के आर्डर और उनके अंतर्गत जारी किये गये नियमों और आदेशों के अनुसार उस अंश तक होता रहेगा जहाँ तक वे लागू होंगे और गवर्नर जनरल के ऑर्डर द्वारा उनमें बढ़ाव, घटाव, परिवर्तन और संशोधन न किये जायगे। इस संबंध में निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति आवश्यक थी—

(अ) ऐक्ट की उक्त व्यवस्था दोनों डोमीनियनों पर अलग-अलग लागू होगी और निर्धारित तारीख से दोनों डोमीनियनों की न तो उभयनिष्ठ सरकार रह जायगी और न विधान-मंडल।

(ब) निर्धारित दिन तथा उसके पश्चात् युनाइटेड किंग्डम में सम्राट की सरकार का न तो डोमीनियन के मामलों पर

किसी प्रकार का नियंत्रण न रह जायगा, न प्रांतों अथवा उनके किसी भाग पर।

(स) निर्धारित दिन से गवर्नर जनरल और गवर्नरों के व्यक्तिगत निर्णय और विवेक के विशेषाधिकारों की इतिश्री हो जायगी।

(द) निर्धारित दिन से कोई भी प्रांतीय बिल सम्राट की अनुमति के लिए रिजर्व न किया जायगा और सम्राट किसी स्वीकृत प्रांतीय बिल को रद्द न करेंगे।

(य) संविधान-सभाओं को संविधान-निर्माण के अधिकारों के अतिरिक्त भारतीय और संघीय विधान-मंडलों के अधिकार प्राप्त होंगे।

नवीं धारा के अनुसार गवर्नर जनरल को अपने ऑर्डर द्वारा निम्नलिखित बातों की व्यवस्था का अधिकार दिया गया था—

(अ) भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट को कार्यरूप में परिणत करने के लिए।

(ब) ऐक्ट के अंतर्गत् निर्मित नयी डोमीनियनों में स-कौंसिल गवर्नर जनरल की शक्तियों, अधिकारों, जायदादों, कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्वों के विभाजन तथा नये निर्मित प्रांतों में इसी प्रकार के विभाजन के लिए।

(स) भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट, स-कौंसिल सम्राट के ऑर्डरों तथा उनके अंतर्गत बनाये गये नियमों और उप-नियमों आदि में बँटाव, बढ़ाव, संशोधन और परिवर्तन के लिए, जहाँ तक वे नयी डोमीनियनों पर लागू हों।

(द) उन कठिनाइयों को दूर करने के लिए, जो स्वतंत्रता ऐक्ट के कार्यान्वित करने में संक्रमण काल में उत्पन्न हो।

(य) मुद्रा-सम्बन्धी तथा रिजर्व बैंक-सम्बन्धी बातों के संचालन के लिए।

(फ) नयी डोमीनियनों के लेजिस्लेचरों, न्यायालयों तथा अन्य संस्थाओं के संगठन, अधिकार और अधिकार-क्षेत्र में परिवर्तन के लिए तथा नये लेजिस्लेचरों, न्यायालयों और संस्थाओं के निर्माण के लिए।

गवर्नर जनरल के उक्त अधिकार उन प्रांतीय गवर्नरों[1] द्वारा भी प्रयोग में लाये जा सकते थे, जो इस ऐक्ट द्वारा समाप्त समझे गये थे। ऐक्ट की यह धारा ३ जून सन् १९४७ से लागू समझी जाने को थी और ३१ मार्च सन् १९४८ के पश्चात् और डोमीनियन लेजिस्लेचर के निश्चय के अनुकूल इसके पूर्व भी, गवर्नर जनरल इसके अनुसार ऑर्डर जारी न कर सकते थे।

स्वतंत्रता ऐक्ट की इस धारा से यह स्पष्ट है कि संक्रमण काल के लिए गवर्नर जनरल को अनेक अधिकारों से सुसज्जित किया गया था। परिस्थिति के कारण इसकी आवश्यकता भी थी। व्यवहार में इन अधिकारों पर भली भाँति अमल भी किया गया। गवर्नर जनरल के ऑर्डरों द्वारा भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट की लगभग १०५ धाराएँ समाप्त समझी गयीं और अनेक धाराओं की उप-धाराएँ और संबंधित अंश रद्द कर दिये गये। फलस्वरूप भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट में इतने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये कि उसकी रूप-रेखा ही बदल गयी। इस संबंध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि गवर्नर जनरल के उक्त अधिकार व्यक्तिगत

---

१ गवर्नरों द्वारा उनका अधिकार अधिक से अधिक १५ अगस्त सन् १९४७ तक इस्तेमाल किये जा सकते थे। समाप्त प्रांतों से तात्पर्य है बंगाल और पंजाब के पुराने प्रांतों से।

अधिकार न थे।[1] वे उन्हें देश के संवैधानिक शासक की हैसियत से ही व्यवहृत कर सकते थे। अधिकारों का निश्चित कार्य-काल भी था और प्रत्येक डोमीनियन के लेजिस्लेचर को उनके ऑर्डरों को संशोधित तथा रद्द करने का अधिकार था। फलस्वरूप महत्त्व-पूर्ण होते हुए भी उनका दुरुपयोग न हो सकता था।

ऐक्ट की इस धारा के कारण संवैधानिक संकटों की आशंका थी। डोमीनियनों के गवर्नर जनरल संवैधानिक शासक होने के नाते, मंत्रिपरिषद् द्वारा दिये गये परामर्श से सीमित थे। यदि सम्राट् की सरकार के मौलिक निश्चय के अनुसार दोनों डोमी-नियनों के लिए एक ही व्यक्ति गवर्नर जनरल नियुक्त होता और किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर दोनों डोमीनियनों के मन्त्रिपरिषद् उसे अलग-अलग परामर्श देते, तो उस समय उसे भी एक संवैधानिक संकट का सामना करना पड़ता किन्तु फिर भी यह संभव था कि अपने व्यक्तिगत प्रभाव और परामर्श के कारण, वह ऐसी परिस्थितियों के सुलझाने में कुछ अंश तक सफल होता। किंतु दोनों डोमीनियनों के अलग अलग गवर्नर जनरलों के कारण, यह कठिनाई और भी बढ़ गयी थी। ब्रिटिश पार्लमेंट के कुछ सदस्य इसे भली भाँति समझते थे। उनके मतानुकूल संक्रमण काल में मुद्रा, रिजर्व बैंक आदि महत्वपूर्ण विषयों के संबंध में यह आवश्यक था कि दोनों डोमीनियनों का समान दृष्टिकोण होता। यदि मतभेद होता तो ऐक्ट में उसके निवारण की कोई व्यवस्था

---

१. गवर्नर जनरल के उक्त अधिकार भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अंतर्गत थे। किंतु ३ जून के वक्तव्य के कारण अंतः-कालीन सरकार का दर्जा डोमीनियन के दर्जे का सा हो गया था। फलस्वरूप गवर्नर जनरल के विशेषाधिकारों का अंत हो गया था।

न थी। किंतु स्वतन्त्रता ऐक्ट में इस संबंध की कोई व्यवस्था न की जा सकती थी। ऐसा करना डोमीनियनों की प्रभु-सत्ता के विरुद्ध होता। फलस्वरूप १५ अगस्त सन् १९४७ के पश्चात् ऐसी संकटमयी परिस्थितियों का सुलझाना दोनों गवर्नर जनरलों के परस्पर आदान-प्रदान की आशा पर छोड़ दिया गया था।[1]

भारत-मंत्री की नौकरियाँ—स्वतन्त्रता ऐक्ट की दसवीं धारा का सबंध भारत-मंत्री की नौकरियों से था। भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार, भारत-मंत्री को भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों को नियुक्त करने तथा कुछ सिविल स्थानों के भरने का अधिकार था। स्वतंत्रता ऐक्ट की दसवीं धारा द्वारा इस व्यवस्था की इतिश्री कर दी गयी। किंतु इसके साथ ही भारत-मंत्री की सिविल सर्विस के मौजूदा सदस्यों तथा हाईकोर्टों और संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों के अधिकारों, वेतन आदि की रक्षा की व्यवस्था भी की गयी। उक्त व्यक्ति "परिवर्तित परिस्थिति[2] के अनुकूल, डोमीनियन तथा प्रांतीय सरकारों से, जिनके अधीन वे काम करते हों, वेतन, छुट्टी, पेंशन, अनुशासन

---

१. "मैं स्वीकार करता हूँ कि ऐसे संकटों को दूर करने के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। यदि दो गवर्नर जनरलों के दृष्टिकोण में अंतर हो, तो यह स्पष्ट है कि वह अंतर उन्हीं की कामों द्वारा, बिल में की गयी व्यवस्था के द्वारा नहीं, दूर किया जा सकता है"—"मिस्टर हेंडरसन का भाषण। मिस्टर एटली के विचार भी न्यूनाधिक इसी प्रकार के थे।

२. परिवर्तित परिस्थिति की व्यवस्था संभवतः इस लिए की गयी थी कि भविष्य में उनका वेतन बिना किसी संवैधानिक कठिनाई के दोहराया जा सके।

और कार्य-काल संबंधी उन्हीं स्वत्वों के अधिकारी होंगे जिनके निर्धारित दिन के ठीक पूर्व, वे अधिकारी थे।" भारतीय नेताओं को यह बात भारत-मंत्री की तथा अन्य सरकारी नौकरियों के विषय में थी, मान्य थी। संभवतः वे शासन-नीति में तारतम्य बनाये रखने तथा किसी विप्लवकारी परिवर्तन से बचने के लिए इस बात को मानने के लिए तैयार हो गये थे।

भारतीय और ब्रिटिश सेनाएँ—स्वतन्त्रता ऐक्ट की ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं धाराओं में भारतीय और ब्रिटिश सेनाओं तथा जल-सेनाओं की व्यवस्था की गयी थी। इसके तीन मुख्य सिद्धांत थे—

(अ) भारतीय सेनाओं का विभाजन—"गवर्नर जनरल अपने ऑर्डर द्वारा दोनों डोमीनियनों में भारतीय सेना के विभाजन की व्यवस्था करेंगे और जब तक पूर्ण रूप से विभाजन न हो जाय, तब तक सेना के नायकत्व तथा शासन की व्यवस्था करेंगे।"

(ब) ब्रिटिश सेना का भारत से हटाया जाना—"गवर्नर जनरल अपने ऑर्डर द्वारा क्रमशः भारत से ब्रिटिश सेना के हटाने की व्यवस्था करेंगे।" प्रधान मंत्री एटली के कथनानुसार ब्रिटिश सेना के हटने की गतिविधि जहाजों पर मिलने वाले स्थान पर निर्भर थी। जब तक ब्रिटिश सेनाएँ भारत या पाकिस्तान में रहें तब तक उनके अधिकारों और सुविधाओं की रक्षा की पूर्ण व्यवस्था थी। पर वे देश की आंतरिक शांति की रक्षा के लिए इस्तेमाल न की जा सकती थीं और दोनों डोमीनियनों में से एक या दूसरी का साथ भी न दे सकती थीं।

(स) ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों के अधिकारों की रक्षा—जब तक ब्रिटिश सेनाएँ भारत या पाकिस्तान में रहें, तब तक उनके ब्रिटिश अधिकारियों के अधीन होने की व्यवस्था थी। दोनों डोमीनियनों के लिए अलग-अलग एक प्रधान सेनापति था। इन दोनों के ऊपर एक सर्व प्रधान सेनापति था और उसका संबंध सीधे ब्रिटिश अधिकारियों के साथ था। ऐक्ट की उक्त व्यवस्था संभवतः इस लिए की गयी थी कि स्वतंत्रता ऐक्ट के अमल में, नयी डोमीनियनों के गवर्नर जनरलों तथा अन्य अधिकारियों का ब्रिटिश सेना के साथ किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो सके।

भारत-मंत्री, उनके परामर्शदाता तथा उनके द्वारा एवं विरुद्ध चलाये गये कानूनी मामले—स्वतंत्रता, ऐक्ट की १४वीं, और १५वीं धाराओं का संबंध भारत-मंत्री के आर्थिक अधिकारों, उनके परामर्श-दाताओं तथा उनके द्वारा और उनके विरुद्ध चलाये गये कानूनी मामलों से था। भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार भारत-मंत्री भारत-सरकार की ओर से अदायगी का काम करते थे। सार्वजनिक ऋण का प्रबंध तथा उसका भुगतान भी उन्हीं के अधीन था और वे ही भारत-सरकार के लिए स्टर्लिंग ऋण ले सकते थे। भारत के स्वतंत्र होने के कारण भारत-मंत्री की आवश्यकता ही न रह गयी। पर उनके द्वारा आरंभ किये गये कामों को पूर्ण करने की आवश्यकता थी। स्वतंत्रता ऐक्ट के अनुसार इस काम को या तो भारत-मंत्री स्वयं करने को थे या कोई दूसरा मंत्री जिसे स-कौंसिल सम्राट अपने ऑर्डर द्वारा इस काम के करने का अधिकार देते। कालांतर में कॉमन-

वेल्थ-संबंध के मंत्री[1] की नियुक्ति की गयी और उन्हें दोनों डोमीनियनों की सरकारों की ओर से भुगतान के संबंध में काम करने का अधिकार मिला। स-कौंसिल गवर्नर जनरल द्वारा स्टर्लिंग ऋण लेने के संबंध के प्रतिबंध हटा दिये गये और भारत-मंत्री द्वारा इस प्रकार के ऋण लेने की व्यवस्था तथा उनके परामर्श-दाताओं की इतिश्री कर दी गयी। निर्धारित दिन से युनाइटेड किंगडम में भारत-मंत्री द्वारा चलाये जानेवाले तथा उनके विरुद्ध चलने वाले कानूनी मामले, हाई कमिश्नर द्वारा तथा उनके विरुद्ध समझे जाने को थे और दूसरे मामले उस अधिकारी द्वारा तथा उसके विरुद्ध जिसे गवर्नर जनरल अपने ऑर्डर द्वारा निर्धारित करते। जो मामले निर्धारित दिन के ठीक पूर्व भारत-मंत्री द्वारा चलाये गये तथा उनके विरुद्ध चल रहे थे उनमें भी उक्त व्यवस्था के अनुसार भारत-मंत्री के स्थान पर हाई कमिश्नर या गवर्नर जनरल द्वारा निर्धारित व्यक्ति का नाम लिखा जाने को था। भारत-मंत्री से संबंधित स्वतंत्रता ऐक्ट की उक्त धारा के कारण ब्रिटिश नियंत्रण और निरीक्षण की समस्त बातों की इतिश्री हो गयी और नयी डोमीनियनों की पूर्णरूपेण स्वतंत्रता स्वीकार कर ली गयी।

स्वतंत्रता ऐक्ट की अन्य धाराएँ—उक्त धाराओं के अतिरिक्त भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट की पाँच और धाराएँ थीं। १६वीं धारा में एडेन के शासन की व्यवस्था की गयी थी,

---

१. Minister of State for Commonwealth Relations. This officer was different from the Secretary of State for Commonwealth Affairs.

१७वीं धारा में विवाह-विच्छेद के अधिकार-क्षेत्र के विषय में और १८वीं धारा में मौजूदा कानून के संबंध में। "जब तक इस ऐक्ट में दूसरी व्यवस्था न की गयी हो, निर्धारित तिथि को, ब्रिटिश भारत और उसके विभिन्न भागों पर लागू, अथवा आवश्यकतानुकूल संशोधित, कानून, दोनों डोमीनियनों तथा उनके भागों पर लागू बने रहेंगे, जब तक डोमीनियनों के लेजिस्लेचरों तथा अन्य लेजिस्लेचर या किसी अन्य अधिकार प्राप्त संस्था अथवा अधिकारी द्वारा दूसरी व्यवस्था न की जाय।" ऐक्ट की १९ वीं धारा में गवर्नर जनरल, संविधान-सभा, भारतीय-शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट, भारत, भारतीय सेना, पेंशन, प्रांत, वेतन (Remuneration) आदि शब्दों की व्याख्या की गयी थी और २० वीं धारा में ऐक्ट के संक्षिप्त टाइटिल, भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट १९४७, (Indian Independence Act 1947) का उल्लेख था।

स्वतंत्र ऐक्ट पर भारतीय लोकमत—भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट के उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इस ऐक्ट द्वारा सम्राट की सरकार ने शीघ्रातिशीघ्र भारत की शासनसत्ता को भारतीयों के हाथ में देने का निश्चय कर लिया था। ऐक्ट में कुछ न्यूनताएँ थीं और कुछ दोष भी थे, किंतु शीघ्राति-शीघ्र सत्ता हस्तांतरण की इच्छा प्रगट रूप से स्पष्ट थी। भारतीय स्वतंत्रता बिल के संबंध में गृह-सचिव सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे—"यह ऐसा बिल है जिसका उद्देश्य शीघ्राति-शीघ्र सत्ता का हस्तांतरण है। इसकी सब बातों से सब लोगों का संतुष्ट होना संभव नहीं। कुछ न्यूनताएँ, कठिनाइयाँ और संदेह हो सकते हैं पर ये सब विधेयकों में पाये जाते हैं। किंतु इन सब बातों के होते हुए भी एक निश्चित बात यह है कि १५ अगस्त को

भारत को पूर्ण स्वतंत्रता मिल जायगी। यह भारत की सबसे बड़ी सफलता है और किसी देश द्वारा किया गया इतिहास का महानतम कार्य है।" किंतु ऐक्ट द्वारा किया गया देश का विभाजन भारत के अनेक नेताओं को असह्य तथा गांधीजी को नापसंद था। पं० जवाहरलाल नेहरू ने ३ जून की योजना को भारी हृदय से स्वीकार किया था। स्वतंत्रता ऐक्ट के संबंध में भी उनकी अवस्था न्यूनाधिक इसी प्रकार की थी। गांधीजी परस्पर समझौते द्वारा देश के विभाजन को मिटाना चाहते थे। किंतु मुस्लिम लीग और उसके नेता पाकिस्तान की स्थापना पर तुले हुए थे। फल-स्वरूप देश का विभाजन रोका न जा सका। किंतु इस दोष के तथा अन्य दोषों के होते हुए भी, भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किया गया एक महानतम ऐक्ट था। उसके द्वारा भारत और ब्रिटेन के संबंध का एक अध्याय समाप्त हुआ और परस्पर सहयोग के आधार पर एक नये अध्याय के आरंभ की चर्चा होने लगी। सम्राट की स्वीकृति मिलने के अवसर पर प्रधान-मंत्री एटली द्वारा भारत और पाकिस्तान की जनता को भेजे गये निम्नलिखित संदेश से यह बात स्पष्ट थी—

"इस स्मरणीय दिवस पर जब कि सम्राट ने भारतीय स्वतंत्रता बिल पर हस्ताक्षर कर दिये हैं, मैं सम्राट की सरकार तथा ब्रिटिश जनता की ओर से भारतीय महाद्वीप की समस्त जनता के प्रति सद्भाव तथा हार्दिक शुभकामनाएँ प्रगट करता हूँ।

"कुछ ही दिनों के भीतर भारतीयों को अपने मामलों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो जायगा। मैं आशा करता हूँ कि दोनों देशों की जनता में मैत्री का एक नया संबंध स्थापित होगा और वे शांतिपूर्ण और समृद्धिशाली संसार के निर्माण के लिए एक दूसरे से मिल-जुल कर काम करेंगे।"

१८ जुलाई से १५ अगस्त सन् १९४७ तक—
४ जुलाई सन् १९४७ को ही, जब कि भारतीय स्वतंत्रता बिल पार्लमेंट में पेश किया गया था, यह स्पष्ट था कि वह शीघ्रातिशीघ्र ऐक्ट के रूप में परिवर्तित हो जायगा। अतएव उसी दिन से उसके कार्यान्वित करने की कार्रवाई आरंभ हो गयी थी। मोटे तौर पर देश का विभाजन हो ही चुका था। ११ जुलाई को यह घोषित किया कि मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना पाकिस्तान के गवर्नर जनरल नियुक्त किये गये हैं और १९ जुलाई को अंतःकालीन सरकार दो ऐसे भागों में विभक्त कर दी गयी जिनमें से एक भारत की अंतःकालीन सरकार के तुल्य था और दूसरा पाकिस्तान के अंतःकालीन सरकार के तुल्य। बंगाल और पंजाब के विभाजन के लिए सर सीरिल रैडक्लिफ की अध्यक्षता में सीमा-निर्धारण कमीशन नियुक्त हुए, परंतु उनके एकमत न होने के कारण, उनकी अनुमति से, सर रैडक्लिफ ने १७ अगस्त को स्वयं अपना निर्णय दिया। भारतीय संविधान-सभा के विचारों में मुस्लिम लीग और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों ने भाग लेना आरंभ किया और यह घोषित कर दिया गया कि १० अगस्त से पाकिस्तान की संविधान-सभा अपना काम आरंभ करेगी। विभाजन-कौंसिल ने सेना के विभाजन के काम को आरंभ किया और प्रधान मंत्री एटली के कथनानुसार ब्रिटिश सेनाएँ भारत से जाने की तैयारियाँ करने लगीं। विभिन्न राज्यों में भारतीय राजदूतों की नियुक्ति की गयी और २२ जुलाई को अशोक के चक्र के साथ, कांग्रेस के तिरंगे झंडे को, भारतीय संविधान-सभा ने भारत का राष्ट्रीय झंडा स्वीकार किया। प्रांतों के भारतीय गवर्नरों की नियुक्ति की घोषणा की गयी और परिस्थिति के अनुकूल प्रांतीय मंत्रिपरिषदों में परिवर्तन किये गये।

सरकारी आलेखों से ब्रिटिश उपाधियों के निकालने का निर्णय किया गया और बंगाल में सांप्रदायिक शांति की स्थापना के लिए गांधीजी और सुहरावर्दी ने मिल कर काम आरंभ किया। २५ जुलाई को लॉर्ड माउंटबैटेन ने भारतीय रियासतों को भारतीय डोमीनियन में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया और इस प्रकार उनका स्वतंत्रता-संबंधी भ्रम दूर हो गया। १५ अगस्त को आधी रात को राज-सत्ता का हस्तांतरण भी हो गया। २०० वर्ष का दासत्व मिटा और भारत की स्वतंत्र डोमीनियन का नया प्रभात हुआ। दूसरे दिन से भारत का शासन डोमीनियन संविधान के अनुसार होने लगा।

—:o:※:o:—

तीसरा परिच्छेद

भारतीय डोमीनियन का संविधान

डोमीनियन संविधान की विशेषताएँ—होम गवर्मेंट—गवर्नर जनरल और डोमीनियन मंत्रि-परिषद—डोमीनियन लेजिस्लेचर और नियम-निर्माण—डोमीनियन लेजिस्लेचर और न्यायालयों का संबंध—प्रांतीय शासन—प्रांतीय लेजिस्लेचर—प्रांतीय लेजिस्लेचर की सदस्यता के अनधिकारी—प्रांतीय लेजिस्लेचर के निर्वाचकों की योग्यताएँ—सदस्यों के अधिकार—नियम-निर्माण की कार्य-प्रणाली—आर्थिक प्रस्तावों की कार्य-प्रणाली—कार्य-प्रणाली के नियम—गवर्नर की ऑर्डीनेंस—कार्य-विभाजन—डोमीनियन और संघांतरित अंगों में शासन-संबंध—आर्थिक व्यवस्था—संघीय न्यायालय और हाईकोर्ट—सार्वजनिक नौकरियाँ—उपसंहार ।

डोमीनियन संविधान की विशेषताएँ—भारतीय डोमीनियन के संविधान की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) यह ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा निर्मित कोई नया संविधान न था। इसका मूल आधार भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ का ऐक्ट था जो भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट सन् १६४७ के अनुसार गवर्नर जनरल के ऑर्डरों[1] द्वारा घटाया, बढ़ाया, संशोधित एवं

---

१. इन ऑर्डरों के कारण मूल ऐक्ट का लगभग तिहाई भाग तथा पहली, दूसरी, आठवीं और नवीं अनुसूचियाँ समाप्त हो गयी थीं।

परिवर्तित किया गया था। इनके कारण मूल ऐक्ट की लगभग १०५ धाराएँ निकाल दी गयी थीं और अवशिष्ट धाराओं की रूप-रेखा इस प्रकार बदल दी गयी थी कि भारतीय डोमीनियन का संविधान न्यूनाधिक ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल की अन्य डोमीनियनों के समान हो गया था। इन परिवर्तनों के होते हुए भी संविधान का रूप पूर्ववत् संघात्मक था और कार्य-विभाजन और वित्तीय व्यवस्था भी न्यूनाधिक वही थी जो सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार की गयी थी।

(२) यह केवल भारतीय डोमीनियन का संविधान था। भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट के कारण, भारतीय डोमीनियन का क्षेत्रफल, सन् १९३५ के ऐक्ट के भारत से, बहुत कम हो गया था। उसके कुछ प्रदेश, जिनका सामूहिक नाम पाकिस्तान था, उससे निकल गये थे। भारतीय डोमीनियन के अब निम्नलिखित अंग[1] थे—(अ) गवर्नरों के प्रांत (ब) चीफ कमिश्नरों के प्रांत (स) भारतीय रियासतें जो निर्धारित पद्धति के अनुसार डोमीनियन में सम्मिलित हो गयी हों। रियासतें भारतीय डोमीनियन में प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों द्वारा सम्मिलित होने को थीं। इन प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों में रियासतों के नरेश[2] यह वचन देने को थे कि वे निर्धारित शर्तों पर भारतीय डोमीनियन से मिलना चाहते थे और गवर्नर जनरल, डोमीनियन लेजिस्लेचर, संघीय न्यायालय तथा

---

१ इसके अतिरिक्त वे प्रदेश भी भारतीय डोमीनियन के अंग होने को थे जो उसकी अनुमति से उसमें सम्मिलित किये गये हों।

२ "नरेश" शब्द के अंतर्गत उन सब अधिकारियों की भी गणना थी जो नरेश के अल्प-वयस्क होने तथा किसी अन्य कारण से रियासतों के नरेश के समान शासन करते थे।

डोमीनियन के अन्य अधिकारी उनकी रियासतों में, डोमीनियन के लिए उन सब अधिकारों का उपयोग कर सकेंगे जो उन्हें, डोमीनियन संविधान द्वारा प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों की शर्तों के अंतर्गत प्राप्त थे। इन्हीं पत्रों में वे यह वचन भी देने को थे कि वे अपनी रियासतों में लागू होनेवाली उन सब बातों को कार्यान्वित करेंगे, जिनका उल्लेख डोमीनियन संविधान में किया गया था और जो उनके प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों के अंतर्गत थीं। प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों में यह स्पष्ट किया जाने को था कि किन-किन बातों में डोमीनियन का लेजिस्लेचर, उनकी रियासतों के लिए कानून बना सकेगा और किन-किन बातों में रियासतों के संबंध में डोमीनियन के लेजिस्लेचर तथा शासनाधिकारियों के अधिकार सीमित होंगे। डोमीनियन के अधिकारों के बढ़ाने के लिए, नरेशों को प्रथम प्रवेश-प्रार्थना-पत्र के अतिरिक्त एक दूसरा प्रवेश-प्रार्थना-पत्र दाखिल करने का अधिकार था। प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों को स्वीकृत करने का अधिकार गवर्नर जनरल को था। स्वीकृत हो जाने के पश्चात् प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों की नकलें डोमीनियन लेजिस्लेचर में दाखिल होने तथा सब न्यायालयों द्वारा मान्य समझी जाने को थीं।

(३) यह एक अल्प-कालीन संविधान था। भारतीय डोमीनियन की संविधान-सभा डोमीनियन का नया संविधान बना रही थी। जब तक वह संविधान बनकर कार्य रूप में परिणत नहीं किया जाता, तब तक इस संविधान के अनुसार भारतीय डोमीनियन का शासन होने को था। किंतु जिस दिन से नया संविधान देश पर लागू होता, उस दिन से यह संविधान समाप्त समझा जाने को था।

होम गवर्मेंट—भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट की वे धाराएँ जिनका संबंध होम गवर्मेंट तथा उसकी

संस्थाओं से था, भारत के डोमीनियन संविधान से निकाल दी गयी थीं। भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट सन् १९४७ के अनुसार भारतीय शासन में न तो पार्लमेंट का कोई स्थान रह गया था न ब्रिटिश मंत्रिमंडल तथा प्रधान मंत्री का। भारत-मंत्री का पद तोड़ दिया गया था और उनके परामर्श-दाताओं की इतिश्री हो गयी थी। अब केवल सम्राट ही भारतीय संविधान के अंग रह गये थे, किंतु देश के शासन में उनके भी व्यक्तिगत अधिकार न थे। जिस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन में, वे ब्रिटिश प्रधान मंत्री तथा मंत्रिमंडल के परामर्श से सारा काम करते थे उसी प्रकार भारतीय डोमीनियन में वे भारत के उत्तरदायी मंत्रिपरिषद् के परामर्श से अपने अधिकारों का प्रयोग करने को थे। व्यवहार में सम्राट के वास्तविक अधिकार नहीं के बराबर थे वे केवल उस सुनहले बंधन के समान थे जिसके कारण ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के समस्त स्वतंत्रता-प्राप्त राष्ट्र एक दूसरे से संबद्ध थे।

गवर्नर जनरल और डोमीनियन मंत्रि-परिषद्— भारतीय डोमीनियन की सर्वोच्च शासन-सत्ता गवर्नर जनरल को थी। ये सम्राट की ओर से स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा उसका उपयोग करते थे। गवर्नर जनरल की नियुक्ति का अधिकार सम्राट को था। उनकी सहायता तथा मंत्रणा के लिए एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था थी। मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर जनरल को था। वे उसी समय तक अपने पद पर रह सकते थे, जब तक गवर्नर जनरल चाहते। व्यवहार में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था के कारण इस धारा का कुछ दूसरा ही स्वरूप था। मंत्रियों के चुनाव में गवर्नर जनरल अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी न कर सकते थे। उन्हें डोमीनियन लेजिस्लेचर में बहुसंख्यक दल के नेता को प्रधान मंत्री और प्रधान मंत्री की सिफा-

रिश पर अन्य मंत्रियों को नियुक्त करना पड़ता था। संवैधानिक शासक होने के नाते उन्हें मंत्रि-परिषद् के परामर्श के अनुसार काम करना पड़ता था। यदि वे किसी समय मंत्रि-परिषद् का परामर्श मानने से मुख मोड़ते तो मंत्रि-परिषद् पद-त्याग की धमकी दे सकता था। फलस्वरूप मंत्रियों की नियुक्ति और कार्यकाल के संबंध गवर्नर जनरल की चाह अथवा अनचाह का कुछ भी मूल्य न था। नियुक्ति के लिए मंत्रियों का लेजिस्लेचर का सदस्य होना आवश्यक न था किंतु, कोई व्यक्ति, जो लेजिस्लेचर का सदस्य न था, छः महीने से अधिक मंत्रि-पद पर न रह सकता था। मंत्रियों को डोमीनियन लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था, पर किसी मंत्री का वेतन, उसके कार्य-काल में घटाया न जा सकता था। मंत्री लोग गवर्नर जनरल को गुप्त परामर्श देते थे और किसी न्यायालय को यह पूछने का अधिकार न था कि अमुक प्रश्न पर मंत्रियों ने गवर्नर जनरल को क्या परामर्श दिया है।

डोमीनियन संविधान की उक्त धाराओं के कारण गवर्नर जनरल की स्थिति पूर्वकालीन स्थिति से सर्वथा भिन्न थी। अब उनकी नियुक्ति तथा उत्तरदायित्व के संबंध में ब्रिटिश सरकार की ओर देखना आवश्यक न था। भारत-मंत्री के पद के टूट जाने के कारण उस पदाधिकारी का भी नियंत्रण लुप्त हो गया था। स्वयं गवर्नर जनरल के भी विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के अधिकारों की इतिश्री हो गयी थी और उनके विशेष अधिकार समाप्त हो गये थे। गवर्नर जनरल अब देश के संवैधानिक शासक-मात्र रह गये थे और उन्हें उत्तरदायी मंत्रियों के परामर्श से शासन करना पड़ता था।

गवर्नर जनरल को डोमीनियन के एडवोकेट जनरल को नियुक्त करने का अधिकार था। नियुक्ति के लिए इस व्यक्ति में

कम से कम उन योग्यताओं का होना आवश्यक था जो संघीय न्यायालय के न्यायाधीश के लिए आवश्यक थीं। एडवोकेट जनरल का काम डोमीनियन की सरकार को कानूनी बातों में परामर्श देना तथा उन सब कानूनी कामों को करना था जो गवर्नर जनरल उनसे करने को कहते। इन कामों को करते समय उन्हें सब न्यायालयों में, तथा जिन बातों का संबंध डोमीनियन के हितों से हो, उनके विषय में सम्मिलित रियासतों के न्यायालयों में भी, बोलने का अधिकार था। एडवोकेट जनरल का कार्य-काल गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर था और उनको गवर्नर जनरल द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था।

डोमीनियन सरकार के समस्त काम गवर्नर जनरल के नाम पर किये जाते थे। उनके नाम पर जारी किये गये सारे ऑर्डर, नियमानुकूल प्रमाणित किये जाने वर ठीक समझे जाते थे। डोमीनियन सरकार के सुगमतापूर्वक कार्य-संचालन के लिए गवर्नर जनरल को नियम आदि बनाने तथा मंत्रियों के कार्य निर्धारित करने का अधिकार था।

डोमीनियन लेजिस्लेचर और विधि-निर्माण-प्रक्रिया—जब तक कोई दूसरी व्यवस्था न की जाय, संविधान-सभा को डोमीनियन लेजिस्लेचर के काम करने का अधिकार था। इन दोनों हैसियतों में उसके अलग-अलग सभापति थे।[1] संविधान सभा के एक निर्णय के अनुसार, प्रांतीय लेजिस्लेचरों के सदस्य संविधान-सभा के उन अधिवेशनों में भाग लेते थे, जब वह

---

१. संविधान बनाते समय डा० राजेंद्रप्रसाद सभापति का आसन ग्रहण करते थे और विधि निर्माण करते समय श्री मावलंकरजी।

डोमीनियन लेजिस्लेचर[२] की हैसियत से काम करता था। प्रतिवर्ष लेजिस्लेचर के एक अधिवेशन का होना आवश्यक था और यह निश्चित कर दिया गया था कि दो अधिवेशनों के बीच में बारह महीने से अधिक का अंतर न हो। उक्त व्यवस्था के अंतर्गत लेजिस्लेचर के सभापति को निर्धारित स्थान और समय पर लेजिस्लेचर के अधिवेशनों को बुलाने तथा उनके सत्रावसान का अधिकार था। गवर्नर जनरल को लेजिस्लेचर के सम्मुख भाषण देने तथा उसके विचारार्थ अपने संदेश भेजने का अधिकार था। प्रत्येक मंत्री तथा एडवोकेट जनरल को भी लेजिस्लेचर में बोलने तथा उसके विचारों में भाग लेने का अधिकार था, किंतु एडवोकेट जनरल को वोट देने का अधिकार न था। लेजिस्लेचर के सभापति को लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था। लेजिस्लेचर के समस्त निर्णय बहुमत के आधार पर होते थे। सभापति को स्वयं वोट देने का अधिकार न था, किंतु किसी विधेयक पर समान वोट होने पर उन्हें निर्णायक (कास्टिंग) वोट देने का अधिकार था। डोमीनियन लेजिस्लेचर को, कुछ स्थानों के रिक्त होने पर भी, काम करने का अधिकार था। ⅓ सदस्यों का कोरम था और कोरम के पूरा न होने पर अधिवेशन के स्थगित किये जाने की व्यवस्था थी। लेजिस्लेचर के सदस्यों को उसके अधिवेशनों में स्वतंत्रतापूर्वक विचार प्रगट करने का अधिकार था। वे उसकी किसी कमेटी के सम्मुख गवाही तथा अपना वोट अपने इच्छानुकूल दे सकते थे। इन बातों के कारण उनके विरुद्ध किसी प्रकार की कानूनी कार्रवाई किसी न्यायालय

---

२. भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार कोई व्यक्ति एक ही समय दो लेजिस्लेचरों का सदस्य न हो सकता था।

में न की जा सकती थी। सदस्यों को डोमीनियन लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन तथा भत्ता मिलता था। १५ अगस्त १९४७ को जो बिल भारतीय विधान-मंडल के विचाराधीन थे, वे उसके सत्रावसान के कारण समाप्त नहीं, वरन् डोमीनियन लेजिस्लेचर के विचाराधीन समझे गये थे। किसी विधेयक के स्वीकृत हो जाने पर सम्राट के नाम पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति की व्यवस्था थी। वे किसी स्वीकृत विधेयक को लेजिस्लेचर के पास पुनर्विचार के लिए लौटा और अपने संदेश में आवश्यक संशोधन का परामर्श दे सकते थे। असाधारण परिस्थितियों में डोमीनियन की शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए गवर्नर जनरल को अध्यादेश (ऑर्डीनेंसें) जारी करने का अधिकार था। इनका कार्य-काल अधिक से अधिक छः महीने हो सकता था और इसके पूर्व भी वे लेजिस्लेचर द्वारा स्वीकृत ऐक्टों के कारण रद्द की जा सकती थीं। उक्त अधिकारों का प्रयोग करते समय गवर्नर जनरल को संवैधानिक शासक की हैसियत से काम करना पड़ता था, व्यक्तिगत हैसियत से नहीं।

डोमीनियन लेजिस्लेचर और वित्तीय प्रक्रिया—विधि-निर्माण के अतिरिक्त डोमीनियन लेजिस्लेचर को वित्तीय बातों की भी देखभाल का अधिकार था। प्रतिवर्ष वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा डोमीनियन लेजिस्लेचर में पेश किया जाता था। व्यय संबंधी ब्यौरे के दो भाग होते थे—(१) वे मदें जिनका खर्च डोमीनियन की आमदनी से करना पड़ता था और (२) वे मदें जिनका खर्च डोमीनियन लेजिस्लेचर की अनुमति पर निर्भर था। पहली मदों में से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(अ) गवर्नर जनरल के वेतन और भत्ते का तथा भारतीय

शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट की तीसरी अनुसूची उल्लिखित सारा अन्य खर्च।

(ब) डोमीनियन के सार्वजनिक ऋण से संबंधित खर्च।

(स) मंत्रियों, चीफ कमिश्नरों और एडवोकेट जनरल के वेतन तथा भत्ते का खर्च।

(द) संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते तथा पेंशन का खर्च और हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की पेंशन का खर्च।

(य) किसी न्यायालय के निर्णयों के अनुसार चुकायी जाने वाली रकमों का खर्च।

(फ) कोई अन्य खर्च जो संविधान अथवा डोमीनियन लेजिस्लेचर के किसी ऐक्ट के द्वारा इस प्रकार का घोषित किया जाय।

व्यय की उक्त मदों पर डोमीनियन लेजिस्लेचर को वोट देने का अधिकार न था। किंतु शेष सारा व्यय उसके निर्णय पर निर्भर था। वह मंत्रियों द्वारा माँगी गयी रकमों में कमी कर सकता था। गवर्नर जनरल की सिफारिश के बिना व्यय की कोई माँग लेजिस्लेचर में पेश न की जा सकती थी। लेजिस्लेचर द्वारा स्वीकृत खर्च को तथा उस खर्चे को जिसे डोमीनियन की आय से करना अनिवार्य था, गवर्नर जनरल प्रमाणित करते थे और उनके द्वारा प्रमाणित स्वीकृतियाँ सर्वमान्य समझी जाती थीं। खर्चे के वार्षिक ब्यौरे के अतिरिक्त पूरक ब्यौरे की व्यवस्था थी। गवर्नर जनरल की सिफारिश के बिना लेजिस्लेचर में कोई ऐसा विधेयक पेश न किया जा सकता था जो नये टैक्सों को लगाता तथा पुराने टैक्सों को बढ़ाता हो तथा डोमीनियन की आमदनी से किये जानेवाले अनिवार्य खर्च को बढ़ाता या तत्संबंधी नयी मदों को जोड़ता हो।

डोमीनियन लेजिस्लेचर और न्यायालयों का संबंध—डोमीनियन लेजिस्लेचर एक प्रभुतायुक्त विधि बनानेवाली संस्था थी। फिर भी उसकी एक व्यावहारिक सीमा निर्धारित की गयी थी। डोमीनियन लेजिस्लेचर में संघीय न्यायालय तथा हाईकोर्टों के न्यायाधीशों के उन आचरणों पर किसी प्रकार का वाद-विवाद न हो सकता था जो उन्होंने अपने कर्तव्य-पालन के संबंध में किये हों। हाईकोर्टों के अंतर्गत, सम्मिलित रियासतों के उन न्यायालयों की भी गणना थी जो ऐक्ट के अनुसार हाईकोर्ट समझे जा सकते थे। इसी प्रकार किसी न्यायालय को यह कहने का अधिकार न था कि डोमीनियन लेजिस्लेचर की कारवाई ठीक ढंग से नहीं हुई है और न उसके किसी अधिकारी के उन कामों के संबंध में विचार करने का, जो उसने लेजिस्लेचर की कार्य-प्रणाली के संचालन, काम करने के ढंग तथा उसकी शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए किये हों।

प्रांतीय शासन—डोमीनियन संविधान के अनुसार भारतीय डोमीनियन में दो प्रकार के प्रांतों की व्यवस्था की गयी थी। मद्रास, बंबई, पश्चिमी बंगाल, संयुक्त-प्रांत, पूर्वी पंजाब, बिहार, मध्य-प्रांत और बरार, आसाम तथा उड़ीसा गवर्नरों के प्रांत थे और अंडमान-नीकोबार, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग और पंच-पिपलोदा चीफ़-कमिश्नरों के प्रांत। बरार के विषय में किंचित् काल के लिए वही व्यवस्था स्थायी समझी गयी थी जो भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट १९४७ के पास होने के पूर्व थी।[१]

प्रत्येक गवर्नर के प्रांत के सर्वोच्च अधिकारी को गवर्नर

१. डोमीनियन संविधान के पूर्व मध्य-प्रांत और बरार का एक प्रांत था और दोनों एक ही गवर्नर और मंत्रि-परिषद् के अधीन थे। डोमीनियन संविधान में यह व्यवस्था कायम रखी गयी।

कहते थे। स्वतंत्र होने के दिन सब गवर्नरों को सम्राट (His Majesty) ने रायल सील मेन्युअल से नियुक्ति किया था। भविष्य के रिक्त स्थान गवर्नर जनरल द्वारा भरे जाने को थे। गवर्नरों को निर्धारित वेतन और भत्ता मिलता था[1]। प्रांत का शासनाधिकार गवर्नर को था और इसके अंतर्गत वे सब बातें आ जाती थीं जिनके विषय में प्रांतीय लेजिस्लेचर को विधि बनाने का अधिकार था। चीफ कमिश्नरों के प्रांत गवर्नर जनरल के अधीन थे और वे उनका आसन बजरिये चीफ कमिश्नरों के करते थे। चीफ कमिश्नरों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर जनरल को था।

प्रत्येक गवर्नर के प्रांत के लिए एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था थी। मंत्रियों की सहायता और मंत्रणा से गवर्नर प्रांत का शासन करते थे। मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर को था और वे उसी समय तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक गवर्नर चाहते। उत्तरदायी शासन के सिद्धांतों के कारण, इस कानूनी व्यवस्था का व्यावहारात्मक रूप सर्वथा भिन्न था। मंत्रियों की नियुक्ति राजनीतिक दलों के आधार पर होती थी और जब तक किसी दल का लेजिस्लेचर में बहुमत रहे तब तक गवर्नर उसके मंत्रियों को निकाल न सकते थे। मंत्रियों के लिए यह आवश्यक न था कि वे लेजिस्लेचर के सदस्य हों, किंतु कोई ऐसा व्यक्ति, जो लेजिस्लेचर का सदस्य नहीं था, छः महीने से अधिक मंत्रि-पद पर न रह सकता था। मंत्रियों को प्रांतीय लेजिस्लेचर

---

१ डोमीनियन संविधान के तृतीय परिशिष्ट के अनुसार गवर्नर जनरल का वार्षिक वेतन २,५०,८०० रुपया नियत हुआ था और प्रांतीय गवर्नरों का ६६,००० रुपया। इसके अतिरिक्त उन्हें मर्यादापूर्वक रहने के लिए भत्ता मिलता था। छुट्टी के भत्ते की भी व्यवस्था थी।

द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था और वह उनके कार्यकाल में घटाया न जा सकता था। किसी न्यायालय को यह पूछने का अधिकार न था कि अमुक मंत्री ने गवर्नर को अमुक विषय पर क्या परामर्श दिया है। प्रत्येक प्रांत के लिए एक एडवोकेट जनरल की व्यवस्था थी। उसकी नियुक्ति और कार्य-काल की शर्तें तथा उसके कर्त्तव्य उसी प्रकार के थे, जिस प्रकार डोमीनियन के एडवोकेट जनरल के। प्रांतीय शासन के समस्त काम गवर्नर के नाम पर किये जाते थे और उनके द्वारा नियमानुकूल प्रमाणित प्रत्येक आर्डर ठीक समझा जाता था। प्रांतीय शासन के सुचारु रूप से संचालन और मंत्रियों के काम के निर्धारण का अधिकार भी गवर्नर को था। १५ अगस्त सन १९४७ के पश्चात् प्रांतीय गवर्नर प्रांत के संवैधानिक शासकमात्र रह गये थे। फलस्वरूप उनके विशेष उत्तरदायित्वों और विवेक और व्यक्तिगत अधिकारों की इतिश्री हो गयी थी।

प्रांतीय लेजिस्लेचर—डोमीनियन संविधान के अनुसार प्रत्येक प्रांत के लिए एक लेजिस्लेचर की व्यवस्था थी। बंबई, मद्रास, संयुक्त-प्रांत और बिहार के लिए दो सभाओं के लेजिस्लेचर थे और अन्य प्रांतों के लिए एक सभा का। जिन प्रांतों में दो सभाएँ थीं उनमें छोटी सभा को लेजिस्लेटिव असेंबली और बड़ी सभा को लेजिस्लेटिव कौंसिल कहते थे। अन्य प्रांतों के लेजिस्लेचर को असेंबली ही कहा जाता था। असेंबली का कार्य-काल पाँच बरस था और वह इसके पूर्व भी भंग की जा सकती थी। कौंसिल एक स्थायी संस्था थी। उसके एक तिहाई स्थान प्रति तीसरे वर्ष रिक्त घोषित किये जाते तथा नये निर्वाचन द्वारा भरे जाते थे। प्रांतीय लेजिस्लेचरों की रचना का पता हमें निम्नलिखित तालिकाओं से चलता है—

लेजिस्लेटिव कौंसिलों की रचना

प्रांत	कुल स्थान	साधारण स्थान	मुस्लिम स्थान	भारतीय ईसाइयों के स्थान	असेंबली द्वारा भरे गये स्थान	गवर्नर द्वारा भरे गये स्थान
मद्रास	कम से कम ५३	३५	७	३	×	कम से कम ८
	अधिक से अधिक ५५					अधिक से अधिक १०
बंबई	कम से कम २८	२०	५	×	×	कम से कम ३
	अधिक से अधिक २९					अधिक से अधिक ४
संयुक्त प्रांत	कम से कम ५७	३४	१७	×	×	कम से कम ६
	अधिक से अधिक ५९					अधिक से अधिक ८
बिहार	कम से कम २८	९	४	×	१२	कम से कम ३
	अधिक से अधिक २९					अधिक से अधिक ४

लेजिस्लेटिव असेंबलियों की रचना

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८
		साधारण											महिलाओं के स्थान				
प्रांत	कुल स्थान	कुल साधारण स्थान	दलित जातियों के लिए रक्षित साधारण स्थान	असभ्य जिलों और जातियों के प्रतिनिधियों के स्थान	सिक्ख	मुसलमान	ऐंग्लो इंडियन	भारतीय ईसाई	वाणिज्य व्यवसाय आदि	जमींदार	विश्वविद्यालय	मजदूर	साधारण	सिक्ख	मुसलमान	ऐंग्लो इंडियन	भारतीय ईसाई
मद्रास ...	२१२	१४६	३०	१	०	२८	२	८	६	६	१	६	६	०	१	०	१
बंबई ...	१७२	११४	१५	१	०	२९	२	३	७	२	१	७	५	०	१	०	०
पश्चिमी बंगाल ...	९०	४४	१४	०	०	२१	३	२	७	२	१	८	१	०	१	१	०
संयुक्त प्रांत ...	२२६	१४०	२०	०	०	६४	१	२	३	६	१	३	४	०	२	०	०
पूर्वी पंजाब ...	८१	३१	६	०	२०	२३	०	०	१	२	१	२	१	१	०	०	०
बिहार ...	१५०	८६	१५	७	०	३९	१	१	४	४	१	३	३	०	१	०	०
मध्यप्रांत और बरार ...	१११	८४	२०	१	०	१४	१	०	२	३	१	२	३	०	०	०	०
आसाम ...	७१	३७	५	९	०	१६	०	१	४	०	०	३	१	०	०	०	०
उड़ीसा ...	६०	४४	६	५	०	४	०	१	१	२	०	१	२	०	०	०	०

उक्त तालिकाओं से स्पष्ट है कि डोमोनियन संविधान के द्वारा प्रांतीय लेजिस्लेचरों की रचना में कई परिवर्तन हो गये थे। प्रांतीय कौंसिलों की रचना, डोमीनियन संविधान के अनुसार वही थी जो उसके पूर्व थी। किंतु आसाम और पश्चिमी बंगाल की कौंसिलें तोड़ दी गयी थीं। फलस्वरूप आसाम और पश्चिमी बंगाल के लेजिस्लेचर, एक ही सदन के हो गये थे। प्रांतीय असेंबलियों की रचना में कई परिवर्तन हो गये थे। १९३५ के संविधान द्वारा पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत और उड़ीसा को छोड़ कर, अन्य प्रत्येक प्रांत में कुछ स्थान, युरोपियनों को दिये गये थे। डोमीनियन संविधान में ये स्थान समाप्त समझे गये। फलस्वरूप इन प्रांतों की असेंबलियों के सदस्यों की संख्या पहले की अपेक्षा कुछ कम हो गयी थी।

प्रतिवर्ष प्रांतीय लेजिस्लेचर के एक अधिवेशन का होना आवश्यक था। किन्हीं दो अधिवेशनों के बीच में बारह महीने से अधिक समय न हो सकता था। लेजिस्लेचर के एक या दोनों सदनों को बुलाने, उनके सत्रावसान तथा असेंबली के विघटन का अधिकार गवर्नर को था। वे उनके सम्मुख भाषण दे सकते तथा उनके विचारार्थ संदेश भेज सकते थे, जिन पर यथा-शीघ्र विचार करना आवश्यक समझा गया था। मंत्रियों और एडवोकेट जनरल को भी असेंबली या कौंसिल या दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन के विचारों में भाग लेने का अधिकार था किंतु एडवोकेट जनरल को वोट देने का अधिकार न था।

प्रत्येक प्रांतीय असेंबली के लिए एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष की व्यवस्था थी। ये अपने-अपने सदनों द्वारा चुने गये उनके सदस्य होते थे। यदि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष असेंबली के सदस्य

न रह जाते थे तो उनको अपना पद त्यागना पड़ता था। वे स्वयं गवर्नर के पास त्याग-पत्र भेज कर अपने पद से अलग हो सकते थे और असेंबली भी उस समय के कुल सदस्यों के बहुमत से, अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हें अपने पद से हटने के लिए बाध्य कर सकती थी। अविश्वास के प्रस्ताव के लिए चौदह दिन का नोटिस आवश्यक था। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उनके सब काम उपाध्यक्ष को करने पड़ते थे और दोनों की अनुपस्थिति में असेंबली किंचित काल के लिए अपने किसी सदस्य को सभापति चुन लेती थी। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को प्रांतीय लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था। लेजिस्लेटिव कौंसिलों के अध्यक्ष भी अपनी कौंसिलों द्वारा चुने गये उनके सदस्य होते थे। उनके वेतन और अधिकारों की ही व्यवस्था थी जो असेंबली के अध्यक्षों की थी। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को किसी विधेयक पर स्वयं वोट देने का अधिकार न था, किंतु समान वोट आने पर वे निर्णायक वोट दे सकते थे।

प्रांतीय लेजिस्लेचर के प्रत्येक सदस्य को गवर्नर या उनके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सम्मुख निर्धारित शपथ लेनी पड़ती थी। कोई व्यक्ति लेजिस्लेचर के दोनों सदनों का सदस्य न हो सकता था। सदस्यता छोड़ने के कई तरीके थे। सदस्य स्वयं गवर्नर के पास त्याग-पत्र भेज कर लेजिस्लेचर से अलग हो सकते थे। उन अयोग्यताओं को प्राप्त करने से जिनका उल्लेख नीचे है, उनकी सदस्यता का अंत हो जाता था। यदि कोई सदस्य सदन की आज्ञा के बिना, निर्धारित नियमों के अंतर्गत ६० दिन तक अनुपस्थित रहता था तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकता था। लेजिस्लेचर के प्रत्येक सदन को, कुछ स्थानों के रिक्त होने पर भी, काम करने का पूर्ण अधिकार

था। असेंबली के लिए ⅙ सदस्यों का कोरम था और कौंसिल के लिए दस सदस्यों का।

प्रांतीय लेजिस्लेचर की सदस्यता के अनधिकारी—निम्नलिखित अयोग्यताओं वाले व्यक्ति प्रांतीय लेजिस्लेचर की दोनों सभाओं की सदस्यता से वंचित रखे गये थे—

१—लाभप्रद सरकारी पदों के अधिकारी, जब तक वे किसी ऐसे पद पर न हों जिसे प्रांतीय लेजिस्लेचर ने इस अयोग्यता से मुक्त कर दिया हो।

२—वे व्यक्ति जिनके दिमाग को उपयुक्त न्यायालय ने खराब ठहराया हो।

३—अमोचित दिवालिये।

४—वे मनुष्य ऑर्डर-इन-कौंसिल या प्रांतीय लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित काल के लिए, प्रांतीय लेजिस्लेचर के सदस्य नहीं हो सकते थे, जो ऑर्डर-इन-कौंसिल या प्रांतीय लेजिस्लेचर द्वारा, किसी निर्वाचन संबंधी मामले में, डोमीनियन संविधान के लागू होने के पूर्व अथवा पश्चात् दोषी ठहराये गये थे।

५—वे मनुष्य अपनी रिहाई के पाँच बरस या गवर्नर द्वारा निर्धारित कम काल तक प्रांतीय लेजिस्लेचर के सदस्य नहीं हो सकते थे, जिनको डोमीनियन की स्थापना के पूर्व ब्रिटिश भारत के किसी न्यायालय ने और स्थापना के पश्चात् किसी प्रांतीय न्यायालय (चाहे वह गवर्नर के प्रांत में हो या चीफ कमिश्नर के प्रांत में) या सम्मिलित रियासत के न्यायालय ने किसी फौजदारी अपराध के लिए काले पानी या कम से कम दो बरस की सजा दी थी।

६—वे मनुष्य निर्धारित समय से पाँच बरस तक, प्रांतीय

लेजिस्लेचर के सदस्य नहीं हो सकते थे जो डोमीनियन या प्रांतीय लेजिस्लेचर के उम्मेदवार या किसी उम्मेदवार के एजेंट रहे थे और जिन्होंने ऑर्डर-इन-कौंसिल या डोमीनियन लेजिस्लेचर या प्रांतीय लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित दिन तक निर्वाचन संबंधी व्यय का ब्यौरा न भेजा था। गवर्नर को इस अवधि के घटाने का अधिकार था।

७—वे मनुष्य प्रांतीय लेजिस्लेचर को किसी सभा के सदस्य नहीं हो सकते थे जो काले पानी या किसी फौजदारी के अपराध की सजा भोग रहे थे।

यदि कोई ऐसा व्यक्ति प्रांतीय लेजिस्लेचर की किसी सभा में बैठता और वोट देता था जिसका वह अधिकारी नहीं था तो उससे ५००) प्रति दिन के हिसाब से जुर्माना लेने की व्यवस्था की गयी थी।

प्रांतीय लेजिस्लेचर के निर्वाचकों की योग्यताएँ—प्रांतीय लेजिस्लेचर के निर्वाचकों की योग्यताएँ विभिन्न प्रांतों में अलग-अलग थीं। कौंसिल और असेंबली के निर्वाचकों की योग्यताओं में भी भेद था। कौंसिल के लिए हम उनको निम्न-लिखित चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—निवास संबंधी योग्यताएँ; साधारण योग्यताएँ; स्त्रियों की विशेष योग्यताएँ; दलित जातियों की योग्यताएँ। असेंबली के लिए वे निम्नलिखित छः भागों में विभक्त की जा सकती हैं—निवास संबंधी योग्यताएँ; टैक्स संबंधी योग्यताएँ; संपत्ति संबंधी योग्यताएँ; शिक्षा संबंधी योग्यताएँ; सरकारी नौकरी संबंधी योग्यताएँ; स्त्रियों की विशेष योग्यताएँ। इनकी ब्यौरेवार व्यवस्था डोमीनियन संविधान में न्यूनाधिक उसी प्रकार की थी जो सन् १९३५ के संविधान के अनुसार थी।

सदस्यों के अधिकार—प्रांतीय लेजिस्लेचर के सदस्यों के कई अधिकार थे। वे लेजिस्लेचर के अधिवेशनों में अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रगट कर सकते थे, उसकी किसी कमेटी के संमुख गवाही दे सकते थे और अपना वोट अपनी इच्छा के अनुकूल दे सकते थे। इन बातों के कारण उनके प्रतिकूल किसी प्रकार की क़ानूनी कार्रवाई न की जा सकती थी। सदस्यों को लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता मिलता था। वे उन सुविधाओं के भी अधिकारी थे जो समय-समय पर प्रांतीय लेजिस्लेचर उनके लिए मंजूर करता। लेजिस्लेचर की एक अथवा दोनों सभाएँ अपने-अपने सदस्यों के अनुशासन की देखभाल करती थीं, पर सदस्यता के अधिकार से वंचित करने के अतिरिक्त वे उनको कोई दूसरा दंड नहीं दे सकती थीं। लेजिलेस्चर द्वारा नियुक्त कमेटी के सम्मुख यदि कोई व्यक्ति गवाही देने से इनकार करता था तो उसके प्रतिकूल न्यायालय में मुकद्दमा चलाया जा सकता था। नव-निर्मित पश्चिमी बंगाल और पूर्वी पंजाब के लेजिस्लेचरों के सदस्यों के वे ही अधिकार थे जो विभाजन के पूर्व बंगाल और पंजाब के लेजिस्लेचरों के सदस्यों के थे।

विधि-निर्माण की प्रक्रिया—वित्तीय विधेयकों के अतिरिक्त, जिनकी विशेष व्यवस्था की गयी थी, कोई भी विधेयक लेजिस्लेचर के किसी सदन में आरंभ हो सकता था। लेजिस्लेचर के एक अथवा दोनों सदनों के सत्रावसान पर कोई भी विचाराधीन विधेयक समाप्त न हो जाता था। यदि किसी प्रांत की लेजिस्लेटिव कौंसिल किसी विधेयक पर विचार कर रही थी, तो असेंबली के विघटित होने पर वह समाप्त न हो जाता था। पर, यदि प्रांतीय असेंबली किसी विधेयक पर विचार कर रही थी अन्यथा उसके

द्वारा स्वीकृत होने पर वह कौंसिल के विचाराधीन था तो असेंबली के विघटित होने पर वह समाप्त हो जाता था।

जिन प्रांतों का लेजिस्लेचर, एक ही सदन का था वहाँ की विधि-निर्माण की प्रक्रिया बड़ी सरल थी। सदन द्वारा अस्वीकृत होने पर विधेयक गिर जाता था और स्वीकृत होने पर वह गवर्नर के पास, सम्राट के नाम पर, अनुमति के लिए भेजा जाता था। गवर्नर विधेयक के संबंध में अनुमति दे सकते थे अथवा अनुमति देने से इनकार कर सकते थे, या उसे गवर्नर जनरल के विचारार्थ रिज़र्व कर सकते थे। वे विधेयक को अपने संदेश के साथ लेजिस्लेचर द्वारा पुनर्विचार अथवा विशिष्ट बातों के पुनर्विचार के लिए लौटा सकते थे और लेजिस्लेचर के लिए यह आवश्यक था कि वह लौटाये गये प्रस्ताव पर संदेशानुकूल विचार करे। जिन प्रांतों के लेजिस्लेचर के दो सदन थे, वहाँ पर गवर्नर की अनुमति के लिए किसी विधेयक के भेजे जाने के पूर्व यह आवश्यक था कि उसके संबंध में दोनों सदन एकमत हों। मतभेद होने पर दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था थी। इसके कराने का अधिकार गवर्नर को था। संयुक्त अधिवेशन के बहुमत का निर्णय दोनों सदनों का निर्णय समझा जाता था।

डोमीनियन संविधान की उक्त व्यवस्था के कारण प्रांतीय लेजिस्लेचरों का अधिकार-क्षेत्र अधिक स्वतंत्र हो गया था। सम्राट द्वारा प्रांतीय विधेयकों के रद्द किये जाने की व्यवस्था की इति-श्री हो गयी थी। संवैधानिक शासक होने के कारण गवर्नर की अनुमति के विषय में वह आशंका न रह गयी थी जो उस समय थी जब कि गवर्नर अपने विवेक के अनुसार किसी विधेयक को रद्द तथा उसे सम्राट की अनुमति के लिए रिज़र्व कर सकते थे। गवर्नर जनरल की अनुमति के विषय में भी न्यूनाधिक यही बात कही

जा सकती है। वे भी रिज़र्व किये गये विधेयकों के संबंध में सम्राट के नाम पर अपनी अनुमति दे सकते थे या अनुमति देने से इनकार कर सकते थे या उसे लेजिस्लेचर के पास पुनर्विचार के लिए लौटा सकते थे। संशोधनों अथवा बिना संशोधनों के साथ पुनर्विचार किये गये विधेयकों को गवर्नर जनरल के विचारार्थ पुनः भेजने की व्यवस्था थी।

वित्तीय विधेयकों की प्रक्रिया—प्रतिवर्ष प्रांतीय आय-व्यय का वार्षिक ब्यौरा प्रांतीय लेजिस्लेचर में पेश किया जाता था। व्यय की मदें दो समूहों में विभक्त होती थीं—(१) वह व्यय जिसे ऐक्ट की व्यवस्था के अनुसार प्रांतीय कोष से करना अनिवार्य था और (२) वह व्यय जिसकी स्वीकृति प्रांतीय लेजिस्लेचर से माँगी जाती थी। पहले प्रकार की मदें निम्नलिखित थीं—

(१) गवर्नर का वेतन और भत्ता और उनके कार्यालय का वह व्यय जिसकी व्यवस्था ऐक्ट के तीसरे परिशिष्ट में की गयी थी।

(२) सार्वजनिक ऋण-संबंधी व्यय।

(३) मंत्रियों और प्रांतीय एडवोकेट जनरल का वेतन और भत्ता।

(४) हाईकोर्ट के न्यायाधीशों का वेतन और भत्ता।

(५) अपवर्जित (Excluded) प्रदेशों के शासन का व्यय।

(६) न्यायालयों के निर्णय के अनुसार चुकायी जाने वाली रकमें।

(७) कोई अन्य व्यय जो संविधान या प्रांतीय लेजिस्लेचर की विधि द्वारा इस प्रकार का घोषित किया गया हो।

व्यय की इन मदों के संबंध में, प्रथम मद के अतिरिक्त,

प्रांतीय असेंबली तर्क-वितर्क कर सकती थी, पर वोट न दे सकती थी। शेष व्यय असेंबली की स्वीकृति के अनुसार किया जाता था। व्यय की इन मदों के संबंध में असेंबली को स्वीकृति देने अथवा न देने या किसी मद के घटाने का अधिकार था। असेंबली द्वारा स्वीकृत, व्यय की दोनों प्रकार की मदें, गवर्नर द्वारा प्रमाणित करके, असेंबली में रख दी जाती थीं और सर्वमान्य समझी जाती थीं। इनके विरुद्ध किसी प्रकार का व्यय न किया जा सकता था। व्यय की पूरक माँगों की भी व्यवस्था थी। उनकी प्रक्रिया वही थी जो मौलिक माँगों की। व्यय की समस्त माँगें गवर्नर के नाम पर पेश की जाती थीं।

गवर्नर की सिफारिश के बिना कोई ऐसा विधेयक प्रांतीय असेंबली में पेश नहीं किया जा सकता था जो (१) नया कर लगाता हो अथवा मौजूदा कर को बढ़ाता हो; (२) जो प्रांतीय ऋण को नियंत्रित करता हो या प्रांत की ओर से कोई गारंटी देता हो या वर्तमान अथवा भविष्यत् की आर्थिक जिम्मेदारी से संबंध रखने वाली किसी विधि को संशोधित करता हो; (३) जो किसी व्यय को प्रांतीय आय से चुकाया जाने वाला अनिवार्य व्यय घोषित करता अथवा उसे बढ़ाता हो।

उक्त वित्तीय व्यवस्था के कारण, प्रांतों के वित्तीय अधिकार भी पहले की अपेक्षा अधिक हो गये थे। सन् १९३५ के संविधान द्वारा, गवर्नर को वित्तीय बातों के संबंध में अनेक अधिकार दिये गये थे और वे उन अधिकारों का उपयोग अपने विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार, गवर्नर जनरल के निरीक्षण में, करते थे। डोमीनियन संविधान में गवर्नर का पद संवैधानिक शासक का सा हो गया था। फलस्वरूप उनके विशेष अधिकारों की इतिश्री हो गयी थी और वे सब प्रांतीय लेजिस्लेचर अथवा मंत्रि-परिषद

को मिल गये थे। प्रांतीय स्वराज्य इस प्रकार पूर्ण रूप से वास्तविक हो गया था।

प्रक्रिया के नियम—ऐक्ट के अंतर्गत लेजिस्लेचर के प्रत्येक सदन को अपनी प्रक्रिया तथा अपने कार्य-संचालन के नियम बनाने का अधिकार था। जिन प्रांतों के लेजिस्लेचर में दो सदन थे वहाँ के संयुक्त अधिवेशन तथा परस्पर व्यवहार के नियम, गवर्नर, असेंबली तथा कौंसिल के अध्यक्ष के परामर्श से बनाते थे। संयुक्त अधिवेशन में कौंसिल का अध्यक्ष सभापति का आसन ग्रहण करता था और उसकी अनुपस्थिति में कोई दूसरा व्यक्ति, जिसकी नियमानुकूल व्यवस्था हो। प्रांतीय लेजिस्लेचर को संघीय न्यायालय अथवा हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के कर्तव्य-पालन संबंधी आचरणों पर तर्क-वितर्क करने का अधिकार न था। प्रांतीय लेजिस्लेचर की प्रक्रिया के ठीक न होने के कारण उसके निर्णयों के संबंध में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती थी।

गवर्नर का ऑर्डीनेंसें—प्रांतीय गवर्नरों को उस समय, जब लेजिस्लेचर के अधिवेशन न हो रहे हों, ऑर्डीनेंसें जारी करने का अधिकार था। निर्धारित कार्य-काल में इन ऑर्डीनेंसों का, वही स्थान था जो प्रांतीय कानूनों का। ऐसी ऑर्डीनेंसें लेजिस्लेचर के अधिवेशन के आरंभ होने के छः सप्ताह के पश्चात् स्वयं समाप्त हो जाती थीं और इसके पूर्व भी यदि लेजिस्लेचर, उनके वापस लिये जाने के पक्ष में प्रस्ताव पास करता या गवर्नर उनको स्वयं वापस कर लेते। इस प्रकार की ऑर्डीनेंसें मंत्रिपरिषद् के परामर्श से जारी की जाती थीं। सन् १९३५ के शासन संबंधी ऐक्ट द्वारा दिये गये गवर्नर के अन्य विधि-निर्माण के अधिकारों की इतिश्री हो गयी थी। प्रांतीय गवर्नर न तो अपने ऐक्ट जारी

कर सकते थे और न असाधारण परिस्थिति की घोषणा करके प्रांत के शासन को अपने अधीन कर सकते थे।

कार्य-विभाजन—भारत का डोमीनियन संविधान संघ-संविधान था। फलस्वरूप अन्य संघ-राज्यों की भाँति उसमें भी संघ-राज्य और संघांतरित अंगों में कार्य-विभाजन किया गया था। विभाजन का आधार न्यूनाधिक वही था जो सन् १९३५ के संविधान का। एक संघीय विषयों की सूची थी, एक प्रांतीय विषयों की और एक समवर्ती विषयों की। अवशिष्ट विषयों में सन् १९३५ के ऐक्ट की व्यवस्था कायम रखी गयी थी। गवर्नर जनरल सार्वजनिक घोषणा द्वारा डोमीनियन तथा प्रांतीय लेजिस्लेचरों को ऐसे विषयों के कानून बनाने का अधिकार दे सकते थे। असाधारण परिस्थिति में, अर्थात् जब गवर्नर जनरल इस बात की घोषणा करते कि युद्ध अथवा आंतरिक अशांति के कारण, देश की रक्षा भयंकर खतरे में थी, डोमीनियन लेजिस्लेचर प्रांतीय तथा अवशिष्ट विषयों के भी कानून बना सकता था। इस प्रकार का कोई विधेयक गवर्नर जनरल की अनुमति के बिना, डोमीनियन लेजिस्लेचर में पेश न किया जा सकता था। इस बीच में प्रांतीय लेजिस्लेचरों का अपने कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत कानून बनाने का अधिकार पूर्ववत् बना रहता था किंतु, यदि कोई प्रांतीय कानून घोषणांतर्गत निर्मित डोमीनियन कानून से असंगत होता था तो वह असंगत अंश तक रद्द समझा जाता था। युद्ध आरंभ होने के पूर्व भी, यदि आनेवाले खतरे के संबंध में उन्हें संतोष हो जाय, तो गवर्नर जनरल इस प्रकार की घोषणा कर सकते थे। असाधारण परिस्थिति के अंत के लिए दूसरी घोषणा की व्यवस्था थी। प्रांतीय लेजिस्लेचरों की अनुमति से, अर्थात् यदि प्रांतीय लेजिस्लेचर अनुमति-सूचक प्रस्ताव पास करें,

डोमीनियन लेजिस्लेचर संबद्ध प्रांतों के लिए, प्रांतीय विषयों के भी कानून बना सकता था, किंतु प्रांतीय लेजिस्लेचरों को ऐसे ऐक्टों के संशोधन[1] तथा रद्द करने का अधिकार था। डोमीनियन लेजिस्लेचर सम्मिलित भारतीय रियासतों के संबंध में उन्हीं विषयों के कानून बना सकता था, जो प्रवेश-प्रार्थना-पत्र द्वारा डोमीनियन को हस्तांतरित किये जाते थे। यदि कोई विधेयक गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति से डोमीनियन लेजिस्लेचर में पेश किया जाता था तो इसके कारण उनके अनुमति देने अथवा न देने या रिजर्व करने के अधिकार में किसी प्रकार की कमी न होती थी।

कार्य-विभाजन के उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि डोमीनियन और प्रांतीय लेजिस्लेचरों के कार्य-संपादन के संबंध में जो रुकावटें सन् १९३५ के भारतीय शासन-संबंधी ऐक्ट द्वारा लगायी गयी थीं, उनमें से बहुतों की इतिश्री हो गयी थी। ब्रिटिश पार्लमेंट अब भारतीय डोमीनियन के संबंध में कानून नहीं बना सकती थी और न सम्राट भारतीय डोमीनियन अथवा प्रांतों के लेजिस्लेचरों द्वारा स्वीकृत विधेयकों को रद्द कर सकते थे। गवर्नर जनरल के विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के अधिकारों के लुप्त हो जाने के कारण, विधि-निर्माण संबंधी जो रुकावटें, वे लगा सकते थे, वे भी समाप्त हो गयी थीं। सन् १९३५ के ऐक्ट में अनेक ऐसी बातें निर्धारित थीं जिनके संबंध के विधेयक संघीय अथवा प्रांतीय लेजिस्लेचरों में पेश न किये जा सकते थे और बहुतों के विषय में गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर की पूर्व अनुमति

---

1. Section 103 of the Government of India Act 1935.

अनिवार्य थी। भेद-भाव संबंधी विधेयकों के बारे में भी कई रुकावटें थीं। डोमीनियन संविधान से ये सब रुकावटें निकाल दी गयी थीं। फलस्वरूप डोमीनियन लेजिस्लेचर एक प्रभुता-युक्त विधि-निर्माणकारी संस्था में परिवर्तित हो गया था। उसके अधिकार अब कार्य-विभाजन संबंधी धाराओं से ही सीमित थे किसी बाह्य नियंत्रण से नहीं।

डोमीनियन और संघांतरित अंगों में शासन-संबंध—प्रांतीय तथा सम्मिलित रियासतों की सरकारें अपना कार्य-संचालन इस प्रकार करने को थीं कि डोमीनियन लेजिस्लेचर द्वारा निर्मित विधियों की मर्यादा का उल्लंघन न हो। गवर्नर जनरल को अधिकार था कि वे प्रांतीय सरकारों अथवा सम्मिलित रियासतों के नरेशों की अनुमति से, उन्हें शासन-संबंधी कोई ऐसा काम दे दें जो डोमीनियन के शासन के अंतर्गत था। इसी प्रकार डोमीनियन लेजिस्लेचर, किसी प्रांत या प्रांतीय अधिकारियों को ऐसे अधिकार दे सकता, तथा उन पर कर्तव्य लगा सकता था जिनके संबंध में प्रांतों को विधि बनाने का अधिकार था। अतिरिक्त कामों में जो व्यय होता, वह डोमीनियन के कोष से दिया जाने को था। डोमीनियन लेजिस्लेचर द्वारा पास किये गये ऐक्ट, गवर्नर जनरल और नरेशों के परस्पर समझौते के अनुसार, रियासतों में उस सीमा तक कार्यान्वित किये जाते थे जहाँ तक वे उन पर लागू थे। गवर्नर जनरल को इस बात की जाँच करने का अधिकार था कि समझौते के अंतर्गत रियासतों में डोमीनियन सरकार की नीति कार्यान्वित की जा रही थी अथवा नहीं। यदि नहीं तो इस संबंध में वे नरेशों को आवश्यकतानुसार आदेश दे सकते थे। विभिन्न प्रांत अपना शासन-संचालन इस प्रकार करने को थे कि डोमिनियन के शासन-संचालन में किसी

प्रकार की बाधा अथवा रुकावट न हो। डोमीनियन सरकार, प्रांतीय सरकारों को कुछ समवर्ती विषयों के शासन के संबंध में तथा यातायात के ऐसे साधनों के निर्माण अथवा उनकी रक्षा के संबंध में जो सैनिक महत्त्व के थे, तथा भारत या उसके किसी भाग की शांति और व्यवस्था के भंग की आशंका पर, प्रांतीय शासन-संचालन किस प्रकार किया जाय—इनके संबंध के आदेश दे सकती थी। जब ऐसी असाधारण परिस्थिति की घोषणा की जाय कि भारत के विरुद्ध युद्ध छिड़ने वाला है, उस समय डोमीनियन की सरकार प्रांतों को शासन-संचालन संबंधी आदेश दे सकती थी। डोमीनियन की सरकार, संघीय विषयों के संबंध में आवश्यकता पड़ने पर, प्रांतों में स्थित अथवा प्रांतीय सरकारों की भूमि पर अधिकार कर सकती थी। किंतु इस संबंध में हरजाना देने तथा समझौता करने की व्यवस्था थी। यदि परस्पर समझौता न होता था तो फेडेरल कोर्ट के प्रधान न्यायाधीश को निर्णय के लिए पंच नियुक्त करने का अधिकार था। यही व्यवस्था सम्मिलित रियासतों के संबंध में भी की गयी थी। उनका शासन-संचालन इस प्रकार का होना चाहिए था कि डोमीनियन के शासनाधिकार पर, जहाँ तक वह रियासतों में लागू थे, कुप्रभाव न पड़े। यदि किसी समय गवर्नर जनरल को यह विदित हो कि अमुक सम्मिलित रियासत के नरेश इस संबंध में अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर रहे थे, तो नरेश की बात सुनने के पश्चात्, वे उन्हें आवश्यकतानुकूल आदेश दे सकते थे।

वित्तीय व्यवस्था—डोमीनियन संविधान की वित्तीय व्यवस्था न्यूनाधिक उसी प्रकार की थी जैसी सन् १९३५ के

भारत-शासन-संबंधी ऐक्ट द्वारा निर्धारित की गयी थी। उसके मूल सिद्धांत इस प्रकार हैं—

१—कुछ टैक्स ऐसे निर्धारित किये गये थे जिनकी सारी आमदनी डोमीनियन सरकार को मिलने को थी; जैसे आयात-कर, रेलवे का मुनाफा, मुद्रा और टकसाल, रिज़र्व बैंक का लाभ आदि।

२—कुछ टैक्स ऐसे थे जिनके उगाहने का अधिकार डोमीनियन सरकार को था पर जो प्रांतों और सम्मिलित रियासतों में ऐक्ट द्वारा निर्धारित सिद्धांतों के अनुसार विभाजित कर दिये जाते थे; जैसे उत्तराधिकार का टैक्स। इन मदों के संबंध में जो अतिरिक्त कर लगाया जाता, उसकी सारी आमदनी डोमीनियन सरकार को मिलने को थी।

३—कुछ टैक्स ऐसे थे जिनके उगाहने का अधिकार संघ-सरकार को था पर जिनका निर्धारित प्रतिशत प्रांतों तथा सम्मिलित रियासतों को लौटाया जाने को था; जैसे आय-कर। इस संबंध में भी जो अतिरिक्त कर लगाया जाता उसकी सारी आमदनी डोमीनियन सरकार को मिलने को थी।

४—वे टैक्स जिनकी समस्त आय प्रांतीय सरकारों को मिलने को थी; जैसे मालगुजारी, जंगलात आदि।

गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना, कोई ऐसा विधेयक अथवा संशोधन डोमीनियन लेजिस्लेचर में पेश न किया जा सकता था जिसका प्रांतों के हित पर कुप्रभाव पड़ता हो अथवा जो कृषि की आय के अर्थ को बदलता हो अथवा जो आय के विभाजन के सिद्धांतों पर असर डालता हो अथवा अतिरिक्त कर लगाता हो। वे अतिरिक्त कर लगाने की अनुमति तभी दे सकते

थे जब उन्हें यह विश्वास हो जाय कि मितव्ययता करने तथा संघीय आमदनी के बढ़ने पर भी आमदनी और खर्च का बराबर होना असंभव था। डोमीनियन की सरकार, गवर्नर जनरल के ऑर्डर के अनुसार प्रांतों की आर्थिक सहायता भी कर सकती थी।

संघीय न्यायालय और हाईकोर्ट—डोमीनियन संविधान द्वारा न तो संघीय न्यायालय और हाईकोर्टों के संगठन में किसी प्रकार का परिवर्तन किया गया था और न उनके अधिकारों में। सब से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जो किया गया था वह न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित था। अगस्त सन् १९४७ तक नियुक्ति का अधिकार सम्राट को था और उसके पश्चात् गवर्नर जनरल को। प्रधान न्यायाधीश के लिए सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार यह आवश्यक था कि नियुक्ति के समय अथवा जब वह सर्वप्रथम किसी न्याय-संबंधी पद पर नियुक्त हुआ था उस समय या तो वह बैरिस्टर या फैकल्टी ऑफ एडवोकेट्स का सदस्य या भारतीय वकील रहा हो। डोमीनियन संविधान से यह धारा निकाल दी गयी थी। संघीय न्यायालय के न्यायाधीश गवर्नर जनरल के पास त्यागपत्र भेजकर पहले की तरह अपने पद से अलग हो सकते थे और सम्राट भी दुराचरण अथवा शारीरिक और मानसिक दुर्बलता संबंधी प्रिवी कौंसिल की रिपोर्ट पर उन्हें अपने पद से अलग कर सकते थे। न्यायाधीशों के वेतन आदि निश्चित करने का अधिकार गवर्नर जनरल को था किंतु वह किसी व्यक्ति के कार्य-काल में इस प्रकार बदला न जा सकता था जिससे उसको हानि पहुँचे। संघीय न्यायालय की भाषा, उसके मौलिक तथा अपीलों के सुनने के

कार्य-क्षेत्र, उसके अधिवेशनों के स्थान तथा उसके संबंध में प्रिवी कौंसिल की स्थिति में डोमीनियन संविधान द्वारा किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया है। संघीय न्यायालय और प्रिवी कौंसिल के निर्णय पूर्ववत् सर्वमान्य समझे जाने को थे और उनके कार्य-रूप में परिणत किये जाने की व्यवस्था थी। हाईकोर्टों की अवस्था न्यूनाधिक पूर्ववत् बनी हुई थी। इनके संबंध में भी सम्राट के समस्त अधिकार गवर्नर जनरल को दिये गये थे और पूर्वी पंजाब और आसाम के लिए नये हाईकोर्टों की व्यवस्था की गयी थी।

सार्वजनिक नौकरियाँ—भारतीय शासन-सम्बन्धी सन् १९३५ के अनुसार भारत में सम्राट की दो प्रकार की नौकरियाँ। थीं—(१) सैनिक नौकरियाँ और (२) सिविल नौकरियाँ डोमीनियन संविधान से सैनिक नौकरियों के संबंध की समस्त धाराएँ निकाल दी गयी थीं। उनकी आवश्यकता उस समय थी जब देश-रक्षा एक संरक्षित विषय था और उसके संबंध में गवर्नर जनरल ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी थे। सिविल नौकरियों के विषय में भी महत्त्वपूर्ण अंतर हो गये थे। सन् १९३५ के संविधान के अनुसार कई ऐसी नौकरियाँ थीं जिन्हें भारत-मंत्री की नौकरियाँ कहते थे। इनकी नियुक्ति तथा हितों की रक्षा का अधिकार भारत-मंत्री तथा स-कौंसिल भारत-मंत्री को था। इस प्रकार नियुक्त जितने सरकारी नौकर, डोमीनियन की स्थापना के पश्चात् भारत में काम कर रहे थे, उन्हें निकालने का अधिकार, डोमीनियन या प्रांतों में काम करने के अनुसार, गवर्नर जनरल या प्रांतीय गवर्नरों को था। दुराचरण के अतिरिक्त, इस प्रकार का कोई व्यक्ति, उस समय तक न तो निकाला जा सकता

था और उसका दर्जा ही गिराया जा सकता था, जब तक उसे अपनी स्थिति के स्पष्ट करने का पूर्ण अवसर न दिया गया हो। सिविल सर्विसों की नियुक्ति का अधिकार, डोमीनियन संविधान के अनुसार गवर्नर जनरल या गवर्नरों को था और नौकरी की शर्तें उन्हीं के द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार निश्चित की गयी थीं।

उपसंहार—उपर्युक्त विवरण में हमने भारत के डोमीनियन संविधान का संक्षिप्त विवरण दिया है। किंतु यह संविधान स्थायी न था। भारतीय संविधान सभा स्वतंत्र भारत संविधान के निर्माण में संलग्न थी। २६ जनवरी सन् १९५० को उसके द्वारा निर्मित लोकतंत्रात्मक संविधान भारत पर लागू कर दिया गया। उस दिन से डोमीनियन संविधान की इतिश्री हो गयी।

चौथा परिच्छेद

नवीन संविधान का निर्माण

प्राक्कथन—भारत में संविधान-सभा की माँग—संविधान-सभा और जनता का प्रतिनिधित्व—संविधान सभा का कार्यारंभ—संविधान के प्रारूप की विशेषताएँ—प्रारूप की प्रस्तावना—भारतीय संघ और उसका राज्य-क्षेत्र—यूनियन की कार्य-पालिका—यूनियन पार्लमेंट—यूनियन न्यायालय—संघांतरित राज्यों का शासन—संघांतरित राज्यों के लेजिस्लेचर—राज्यों के हाईकोर्ट—चीफ कमिश्नरों के राज्य—यूनियन और राज्यों का परस्पर संबंध—दस से पंद्रहवें भाग तक—संविधान में संशोधन—संक्रमण काल की व्यवस्था—नये संविधान के लागू होने की तिथि—नये संविधान का निर्माण।

प्राक्कथन—जिन दिनों भारत का शासन डोमीनियन-संविधान के अनुसार हो रहा था, उन्हीं दिनों भारत की संविधान-सभा देश का संविधान बनाने में लगी थी। इस संविधान सभा की रचना का मूल आधार कैबिनेट-प्रतिनिधि-मंडल की योजना थी। उसके अनुसार यह प्रभु-सत्ता-युक्त संस्था न थी। किंतु भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट के अनुसार, जब देश का विभाजन हुआ और पाकिस्तान के लिए एक पृथक संविधान-सभा की व्यवस्था की गयी, तो देश के स्वतंत्र होने के कारण, भारत की संविधान सभा प्रभुतायुक्त हो गयी। उसकी रचना में भी आवश्यक परिवर्तन किये गये। सिंध और उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत का एक भी

प्रतिनिधि न रह गया, बंगाल और पंजाब के प्रतिनिधि घटाये गये और सम्मिलित भारतीय रियासतों के कुछ प्रतिनिधि बढ़े। इसी प्रभुता-युक्त संविधान-सभा को १५ अगस्त सन् १९४७ को, भारत की राजसत्ता भारतीयों को सौंपी गयी।

भारत में संविधान-सभा की माँग—संसार-व्यापी प्रथम महासमर, संसार को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित करने के उद्देश्य से लड़ा गया था। युद्ध-काल में ही मित्र-राष्ट्रों के अनेक राजनीतिज्ञों ने, राष्ट्रों द्वारा स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था और कुछ तो यहाँ तक कह गये थे कि भविष्य में इस सिद्धांत का उल्लंघन राष्ट्रों के लिए खतरे से खाली न था। उन दिनों भारत पर इस सिद्धांत का विशेष प्रभाव न पड़ा। किंतु सन् १९२३ में, गांधीजी ने भारतीयों के संबंध में इसकी स्पष्ट व्याख्या की और सन् १९२३ में श्रीमती एनीबेसेंट से प्रोत्साहन पाकर दिल्ली में एक राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसका उद्देश्य, सन् १९२३ के निर्वाचनों के पश्चात्, एक ऐसे राष्ट्रीय कनवेंशन का आयोजन करना था जो भारत का संविधान बना सके। सन् १९२७ में साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की गयी। इसमें एक भी भारतीय को स्थान न मिला था। फलस्वरूप समस्त देश में कमीशन का घोर विरोध हुआ और राष्टीय अपमान के प्रतिकार-स्वरूप, संविधान-सभा की माँग अधिकाधिक जोर पकड़ने लगी। सन् १९३४ में पं० जवाहरलाल नेहरू ने इसकी आवश्यकता पर इतना अधिक जोर दिया कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, मई सन् १९३४ के पटना के अधिवेशन में, यह निश्चय किया कि आगामी निर्वाचन श्वेतपत्र की योजना के अस्वीकृत करने और भारत के संविधान-निर्माण और सांप्रदायिक समस्या के हल के

लिए, संविधान-सभा मांगने के आधार पर लड़े जायँ। सन् १९३६ में, कांग्रेस ने फैजपुर के अधिवेशन में, भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट का विरोध किया और इस बात पर जोर दिया कि प्रौढ़ मताधिकार पर निर्वाचित संविधान-सभा के द्वारा, जिसे भारत के संविधान-निर्माण का पूर्ण अधिकार हो, देश में लोकतंत्रात्मक राज्य स्थापित किया जाय। दूसरे महासमर के आरंभ के पश्चात, नवंबर सन् १९३९ में, कांग्रेस कार्य-समिति ने इस संबंध में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया जिसके उल्लेखनीय अंश इस प्रकार हैं—"संविधान-सभा ही स्वतंत्र देशों के संविधान-निर्माण का एक मात्र लोकतंत्रात्मक तरीका है········ संविधान-सभा ही सांप्रदायिक समस्या तथा अन्य कठिनाइयों के हल का एक मात्र उपयुक्त साधन है·········संविधान-सभा ही एक ऐसे संविधान का निर्माण कर सकती है जिसमें स्वीकृत अल्पसंख्यकों के हितों की, उनकी दृष्टि से संतोषप्रद, रक्षा हो सकती है।·········संविधान-सभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार पर होना चाहिये किंतु यदि मौजूदा अल्पसंख्यक अपने पृथक निर्वाचन-मंडल बनाये रखना चाहें तो उन्हें इसका अधिकार होना चाहिये।·········" सन् १९४० में मुस्लिम लीग ने भी संविधान-सभा की मांग को स्वीकार किया, किंतु पाकिस्तान की कल्पना के दृढ़ हो जाने के कारण, उसने भारत और पाकिस्तान के लिए अलग-अलग संविधान-सभाओं का होना आवश्यक बतलाया।

यद्यपि भारत में संविधान-सभा की माँग जोर पकड़ रही थी, पर ब्रिटिश सरकार उसकी ओर से सर्वथा उदासीन थी। सन् १९४२ तक उसने उसके अनुकूल एक भी वक्तव्य न निकाला। किंतु क्रिप्स की योजना में इसके पक्ष में एक धारा थी। "युद्ध

समाप्त होने के पश्चात् शीघ्रातिशीघ्र एक ऐसी निर्वाचित सभा[१] स्थापित की जायगी, जिसका काम भारत के लिए नये संविधान का निर्माण करना होगा।" क्रिप्स-योजना द्वारा व्यवस्थित संविधान-सभा की तीव्र आलोचना हुई। इसका विवरण हम इस पुस्तक के प्रथम परिच्छेद[२] में दे चुके हैं। फलस्वरूप भारतीय नेताओं ने संपूर्ण योजना को अस्वीकार किया। लॉर्ड वैवेल की योजनाओं में संविधान-सभा का स्थान न था। किंतु कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की दीर्घकालीन योजना का संबंध संविधान-सभा और भारत के भावी संविधान से था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इस योजना को स्वीकार किया। फलस्वरूप उस संविधान-सभा का निर्वाचन हुआ जिसका विवरण हम इस पुस्तक के ४४–४५ पृष्ठों पर दे चुके हैं।

संविधान-सभा और जनता का प्रतिनिधित्व—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के अनुसार जिस संविधान-सभा का निर्वाचन हुआ उसके प्रतिनिधि होने के संबंध में कुछ लोगों को संदेह था। मुस्लिम लीग के सहयोग न करने पर इन लोगों की उक्त आलोचना और भी अधिक दृढ़ हो गयी। मई सन् १९४७ में, कामन-सभा के एक भाषण में, मिस्टर चर्चिल ने इस संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये थे—"तथा-कथित संविधान-सभा अपर्याप्त मताधिकार के आधार पर निर्मित हुई है। उसे

---

१. इस सभा को संविधान-सभा (Constituent Assembly) न कहकर निर्वाचित प्रतिनिधि सभा (Representative Assembly) या संविधान-निर्मात्री-सभा (Constitution-making body) संभवतः जान-बूझकर कहा गया था।

२. देखिये पृष्ठ ८ से १३ तक पर्व।

भारतीय जनता की ओर से बोलने तथा उनके भाग्य के निर्णय का अधिकार नहीं है।" भारत के समाजवादी दल की आलोचना, दूसरे दृष्टिकोण से, न्यूनाधिक इसी प्रकार की थी। उनके मतानुकूल संविधान-सभा ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित ढाँचे के अनुसार, संकुचित मताधिकार के आधार पर निर्वाचित हुई थी।[1] वह जनता की प्रतिनिधि-स्वरूप न थी। अतएव उन्होंने सरकार से यह आग्रह किया कि मौजूदा संविधान-सभा विघटित कर दी जाय, वयस्क मताधिकार के आधार पर एक वास्तविक संविधान-सभा निर्वाचित की जाय और उसके सम्मुख संविधान का प्रारूप स्वीकृति के लिए पेश किया जाय। कांग्रेस के स्वीकृत प्रस्तावों के अनुसार भी, संविधान-सभा प्रतिनिधि न कही जा सकती थी। फैजपूर कांग्रेस ने प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान-सभा को ही स्वीकार किया था।

इन आलोचनाओं में सत्य का अंश है। संविधान-सभा प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर निर्वाचित न हुई थी। फलस्वरूप वह पूर्णरूपेण जनता की प्रतिनिधि-संस्था न थी। किंतु उसमें भारत के सब दलों का प्रतिनिधित्व था। संविधान-सभा के दूसरे अधिवेशन के आरंभ में, मिस्टर चर्चिल की आलोचना की ओर संकेत करते हुए, डा० राजेन्द्र प्रसाद ने इस संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे—"कुल २९६ सदस्यों में से २१० उपस्थित थे। उनमें से १५५ हिंदुओं, ३० परिगणित जातियों, ५ सिक्खों, ६ भारतीय ईसाइयों, ५ पिछड़ी हुई जातियों, ३ आँग्ल भारतीयों, ३ पारसियों और ४ मुसलमानों के प्रतिनिधि थे।

---

१. समाजवादी दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी का प्रस्ताव, मई सन् १९४८।

संप्रदाय की दृष्टि से, मुसलमानों के अतिरिक्त भारतीय संविधान-सभा सब दलों की प्रतिनिधि स्वरूप थी।" पर मुसलमानों की यह स्थिति मुस्लिम लीग के निर्णय के कारण थी। अन्यथा मुसलमानों के प्रतिनिधियों की संख्या ८० निर्धारित की गयी थी। राजनीतिक विचार-धाराओं के दृष्टिकोण से भी संविधान-सभा देश की प्रतिनिधि-स्वरूप कही जा सकती थी। उसमें प्रायः सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि थे। कांग्रेस ने अपने कोटा में कांग्रेसवादियों के अतिरिक्त अन्य विचारधाराओं के व्यक्ति भी सम्मिलित किये थे। पर समाजवादी दल का एक भी प्रतिनिधि न था। इसका मुख्य कारण संविधान-सभा की रचना का दोष नहीं, वरन् स्वयं समाजवादियों द्वारा संविधान-सभा का बहिष्कार था। पर संविधान-सभा परिस्थिति विशेष के कारण, परोक्ष निर्वाचन-पद्धति के अनुसार निर्वाचित हुई थी। उसमें प्रत्येक १० लाख जन संख्या के लिए एक प्रतिनिधि की व्यवस्था थी। कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल के विचारानुकूल यह प्रौढ़ मताधिकार के प्रतिनिधित्व का सर्वश्रेष्ठ विकल्प था।

संविधान-सभा का कार्यारंभ—६ दिसंबर सन् १९४६ को, डॉ० सच्चिदानन्द[1] सिनहा की अध्यक्षता में संविधान-सभा का अधिवेशन बड़े समारोह के साथ आरंभ हुआ। ११ दिसंबर को डॉ० राजेंद्र प्रसाद उसके स्थायी सभापति निर्वाचित हुए। १३ दिसंबर को पं० जवाहरलाल नेहरू ने लक्ष्य (objectives) संबंधी प्रस्ताव पेश किया, पर उसका निर्णय अगले अधिवेशन

---

१. संविधान-सभा के सदस्यों में डा० सच्चिदानंद सिनहा सबसे अधिक वयोवृद्ध थे। अतएव अध्यक्ष के अभाव में, संविधान-सभा की बैठक उन्हीं की अध्यक्षता में आरंभ हुई।

के लिए स्थगित कर दिया। २३ दिसम्बर को संविधान-सभा २० जनवरी सन् १९४७ तक के लिए स्थगित कर दी गयी। दूसरे अधिवेशन में संविधान-सभा ने लक्ष्य-संबंधी प्रस्ताव को स्वीकार किया और संविधान के विभिन्न अंगों से संबंधित अनेक कमेटियाँ नियुक्त कीं।[1] २२ जुलाई को राष्ट्रीय झंडा निर्धारित किया गया। १५ अगस्त सन् १९४७ को, भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट के अंतर्गत, उसने प्रभु-सत्ता-युक्त होकर, देश का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया। इसी बीच में उसकी विभिन्न कमेटियों की रिपोर्टों पर विचार हुआ। २९ अगस्त को संविधान की प्रारूप-कमेटी नियुक्त हुई। इसका काम संविधान के उस प्रारूप की जाँच तथा आवश्यक संशोधनों की सिफारिशें करना था जिसे संविधान-सभा के निर्णयों के अनुसार, उसके कार्यालय ने तैयार किया था। डा० अंबेडकर इसके अध्यक्ष थे। कमेटी के अन्य सदस्यों के नाम इस प्रकार हैं—श्री अलादीकृष्ण स्वामी अय्यर, श्री एन० गोपाल स्वामी आयंगर, श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, सैयद मुहम्मद सादुल्ला, सर बी० एल० मित्र और श्री डी० पी० खेतान। लगभग ६ महीने के विचार के पश्चात् इस कमेटी ने भी अपनी रिपोर्ट संविधान-सभा में पेश की। ४ नवंबर सन् १९४८ को डाक्टर अंबेडकर

---

१. मुख्य कमेटियाँ इस प्रकार थीं—Union Powers Committee, Union Constitution Committee; Advisory Committee on Minorities and Fundamental Rights; Committee on Chief Commissioners & Financial Relations between the Union and the States and the Advisory Committee on Tribal areas.

ने संविधान-सभा में यह प्रस्ताव रखा कि वह प्रारूप-कमेटी की रिपोर्ट पर विचार करे। कुछ लोगों के विरोध करने पर भी, प्रारूप पर विचार आरंभ हुआ और इस प्रकार स्वतंत्र भारत के संविधान का अंतिम रूप निर्धारित होने लगा।

संविधान के प्रारूप की विशेषताएँ—उक्त प्रस्ताव के संबंध में दिये गये अपने भाषण में, डा० अंबेडकर ने प्रारूप की निम्नलिखित विशेषताओं पर प्रकाश डाला—

१—राष्ट्रपति की व्यवस्था, पर अध्यक्षात्मक सरकार की नहीं। प्रारूप में, अमरीका के संविधान की भाँति, देश के सर्वोच्च शासकीय अधिकारी को राष्ट्रपति कहा गया था, पर वहाँ पर प्रचलित अध्यक्षात्मक सरकार की व्यवस्था न की गयी थी। उसमें अधिकार विभाजन तत्त्व को किसी प्रकार का स्थान न मिला था।

२—केंद्रीकरण की ओर झुके हुए संघ-संविधान की व्यवस्था—प्रारूप में संघ-संविधान की व्यवस्था की गयी थी। पर वह एकात्मक दिशा की ओर अत्यधिक झुका हुआ था। संयुक्त-राज्य अमरीका के संविधान की भाँति न तो उसमें दोहरी नागरिकता की व्यवस्था थी और न संघांतरित अंगों की वह सत्ता, जिसके कारण वे अपने संविधानों को स्वयं निर्धारित कर सकते थे। समवर्ती विषयों की सूचियाँ भी इसी उद्देश्य से बनायी गयी थीं।

३—समस्त भारत के लिए एक ही न्यायपालिका की व्यवस्था थी। संघीय-न्यायालय और हाईकोर्ट एक ही इकाई के विभिन्न अंग थे।

४—प्रारूप बहुत बड़ा था, उसमें ३१५ अनुच्छेद और आठ अनुसूचियाँ थीं।

इन विशेषताओं को बतलाने के पश्चात् डा० अंबेडकर ने जनता द्वारा की गयीं प्रारूप की आलोचनाओं पर भी प्रकाश डाला। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

१—संविधान के प्रारूप में मौलिकता का अभाव था। उसका महत्वपूर्ण अंश भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट पर आधारित था।

२—प्रारूप में भारतीयता का अभाव था।

३—नागरिकों की व्यवस्था संतोषप्रद न थीं।

अपने भाषण में उन्होंने इन आलोचनाओं के संबंध में अपना मत प्रगट तथा उनका खंडन किया।

प्रारूप की प्रस्तावना—साधारणतया प्रत्येक संविधान की प्रस्तावना होती है। उसमें उन उद्देश्यों का उल्लेख होता है जिनकी पूर्ति के लिए संविधान का निर्माण आवश्यक समझा गया है। भारत के संविधान के प्रारूप की भी प्रस्तावना थी। इसमें उसी लक्ष्य को सम्मिलित किया गया था जिसे संविधान-सभा जनवरी सन् १९४७ में स्वीकार कर चुकी थी। प्रस्तावना इस प्रकार थी—

"हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण सत्ताधारी प्रजातंत्रात्मक गण-राज्य निर्माण करने तथा उसके समस्त जनपदों को न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक; स्वतंत्रता, विचार की, अभिव्यक्ति की, विश्वास की, धर्म की और उपासना की ; समता, प्रस्थिति की और अवसर की, प्राप्त कराने तथा उन सब में बंधुता, जिससे व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुरक्षित हो, वर्धन करने के हेतु, कृत दृढ़ संकल्प, अपनी इस संविधान-सभा में आज तारीख·········मई १९४८ ई० को, इसके द्वारा इस संविधान को अंगीकार करते हैं, अधिनियम का रूप देते हैं और अपने आपको अर्पण करते हैं।"

प्रस्तावन से स्पष्ट है कि प्रारूप के अंतर्गत् भारत के लिए सार्वभौम सत्तायुक्त लोकतन्त्र, सब नागरिकों के साथ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय, सब के लिए विचार, भाषण और धर्म की स्वतन्त्रता, तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए सब की समानता और सब के लिए समान सुअवसर की व्यवस्था की गयी थी। किंतु उक्त अधिकारों के कारण राष्ट्रीय एकता का उल्लंघन न किया गया था और सरकार उनके दुरुपयोग को रोक तथा तत्संबंधी कानून बना सकती थी। प्रारूप में भारत और ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के संबंध में कोई सिफारिश न थी। उसका विचार भविष्य के लिए छोड़ दिया गया था।

भारतीय संघ और उसका राज्य-क्षेत्र—प्रारूप के प्रथम भाग में भारतीय संघ, उसके राज्यक्षेत्र, तथा क्षेत्राधिकार का विवरण था। भारत के अंतर्गत् पूर्वकालीन प्रांतों, सम्मिलित भारतीय रियासतों तथा अंडमान और निकोबार द्वीप-समूहों और उन प्रदेशों की गणना थी, जिसे संघ अवाप्त करे। संघांतरित प्रदेशों को राज्य की उपाधि मिली थी। नये राज्यों के सम्मिलित करने तथा उनके निर्माण और स्थापना की व्यवस्था की गयी थी। भाषा के आधार पर नये राज्यों के निर्माण के संबंध में प्रारूप में कोई व्यवस्था न थी। पर आंध्र प्रांत संबंधी, डोमीनियन-सरकार के वक्तव्य का उल्लेख करते हुए प्रारूप-कमेटी ने निम्नलिखित सुझाव पेश किया था—"न केवल आंध्र वरन् भाषा के आधार पर बनने वाले सभी प्रांतों के संबंध में महत्वपूर्ण बातों की जाँच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया जाय, जो आदेशानुकूल ऐसे समय पर अपनी रिपोर्ट पेश करे कि नये संविधान के लागू होने के पूर्व ही सन् १९३५ के संविधानांतर्गत इन प्रांतों का निर्माण हो जाय जिससे प्रारूप के स्वीकृत होने पर संबंधित अनुसूचियों

में उनका उल्लेख कर दिया जाय।" इस व्यवस्था में कोई नयी बात न कही गयी थी। सन् १९३५ का भारतीय शासन संबंधी ऐक्ट अप्रैल सन् १९३७ से लागू हुआ था किंतु सिंध और उड़ीसा के प्रांत इसके पूर्व सन् १९३६ में ही बन गये थे। कालांतर में ऐसा कमीशन नियुक्त हुआ, पर उसकी रिपोर्ट तत्कालीन परिस्थिति में भाषावर प्रांतों के अनुकूल न थी। भारतीय संघ-राज्य को फेडेरेशन (Federation) न कह कर युनियन और संघांतरित प्रदेशों को प्रांत न कह कर (State) कहा गया था। युनियन नाम में दक्षिणी अफ्रीका के संविधान का प्रभाव प्रगट होता था और संघांतरित प्रदेशों को राज्य (State) कहने में आस्ट्रेलिया और संयुक्त-राज्य-अमरीका के संविधानों का। प्रारूप-कमेटी के मतानुकूल युनियन शब्द का प्रयोग किसी विशेष कारण से नहीं किया गया था किंतु इस शब्द से साधारणतया केंद्रीकरण की ओर झुकाव का आभास होता है। कालांतर में सुदृढ़ केंद्रीय शासन की व्यवस्था के कारण फेडेरेशन की अपेक्षा 'युनियन' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ।

नागरिकता के अधिकार आदि—प्रारूप के दूसरे भाग में नागरिकता के अधिकारों का विवरण था और तीसरे भाग में नागरिकों के मूल अधिकारों का। चौथे भाग में राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धांतों का विवरण था। जनता के विकास तथा उसकी भलाई के लिए राज्य में सामाजिक शांति की आवश्यकता, राज्य की नीति संबंधी कुछ सिद्धांतों का निरूपण, काम करने एवं शिक्षा के अधिकार तथा विशेष परिस्थितियों में सामाजिक सहायता आदि बातों का उल्लेख इस भाग में किया गया था।

युनियन की कार्यपालिका—प्रारूप के पाँचवें भाग में युनियन की कार्यपालिका की व्यवस्था थी। युनियन के सर्वोच्च

अधिकारी को 'प्रधान' (President) का नाम दिया गया[1] था। इसके निर्वाचन की व्यवस्था थी और निर्वाचन में युनियन पार्लमेंट के सदस्यों और संघांतरित राज्यों के लेजिस्लेचरों के निर्वाचित सदस्यों को वोट देने का अधिकार था। प्रधान का कार्य-काल पाँच बरस निर्धारित किया गया था। उनका पुनर्निर्वाचन हो सकता था, किंतु एक बार से अधिक नहीं। निर्वाचन के समय प्रधान के लिए कम से कम ३५ बरस का होना आवश्यक था और उनमें उन सब योग्यताओं का भी होना आवश्यक था, जो युनियन पार्लमेंट की लोक-सभा के सदस्यों के लिए आवश्यक थी। वे न तो युनियन लेजिस्लेचर का सदस्य हो सकते थे और न राज्यों के लेजिस्लेचरों के। यदि किसी लेजिस्लेचर का कोई सदस्य प्रधान चुना जाता तो पदासीन होने के दिन, लेजिस्लेचर में उसका स्थान रिक्त समझा जाता। वैतनिक सरकारी पदाधिकारी भी प्रधान न हो सकते थे। मंत्री लोग इस बंधन से मुक्त समझे गये थे। संविधान के उल्लंघन करने पर राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग की व्यवस्था थी। इसकी कार्रवाई लेजिस्लेचर की किसी सभा में आरंभ हो सकती थी। कार्य-प्रणाली इस प्रकार थी—किसी सभा के ३० सदस्यों के लिखित हस्ताक्षर पर तत्संबंधी प्रस्ताव उस सभा में पेश किया जाता। यदि वह सभा कुल सदस्यों के $\frac{2}{3}$ मतों से उसे स्वीकार करती तो दूसरी सभा, लगाये गये आरोपों की जाँच करती। यदि वह भी आरोपों को कुल सदस्यों के $\frac{2}{3}$ बहुमत से स्वीकार कर लेती तो प्रधान को अपना पद छोड़ना पड़ता। एक

---

१ प्रारूप के हिंदी अनुवाद में President के लिए प्रधान शब्द का प्रयोग हुआ था, पर नये संविधान में उसके लिए राष्ट्रपति शब्द का प्रयोग किया गया है।

उप-प्रधान की भी व्यवस्था थी। यह युनियन पार्लमेंट की राज्य-परिषद् का अध्यक्ष होता और युनियन पार्लमेंट की दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक में एकाकी हस्तांतरीय (Single Transferrable) वोट की अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार गोपकीय मत द्वारा चुना जाता। इसका कार्य-काल भी पाँच बरस निर्धारित हुआ था। प्रधान की भाँति उप-प्रधान के लिए भी ३५ बरस का होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त उनमें उन सब योग्यताओं का भी होना आवश्यक था जो यूनियन पार्लमेंट की राज्य-परिषद् के सदस्यों के लिए निर्धारित की गयी थीं। प्रधान के स्थान के रिक्त होने पर उप-प्रधान को उनके स्थान पर काम करने का अधिकार था। प्रधान और उप-प्रधान के निर्वाचन संबंधी सब मामलों का निर्णय सर्वोच्च न्यायालय करता और उसका निर्णय सर्वमान्य होता।

युनियन के शासन-संबंधी समस्त अधिकार प्रधान को थे और उनकी सहायता और मंत्रणा के लिए उत्तरदायी मंत्रियों की व्यवस्था थी। मंत्रियों का सामूहिक नाम मंत्रि-परिषद् (Council of Ministers) था। उसमें एक प्रधान-मंत्री अन्य तथा मंत्री होते। प्रधान मंत्री की नियुक्ति का अधिकार प्रधान को था। प्रधान मंत्री की सिफारिश पर वे अन्य मंत्रियों को भी नियुक्त करते। प्रधान मंत्री मंत्रि-परिषद् के प्रमुख होते और सारा मंत्रि-परिषद्, संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धांतानुसार युनियन पार्लमेंट की लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होता। युनियन के सब काम प्रधान के नाम पर किये जाने को थे। प्रधान के सूचना माँगने पर, प्रधान मंत्री का यह कर्तव्य था कि वह उन्हें शासन-संबंधी बातों तथा प्रस्तावित नियमों से अवगत कराता। युनियन के लिए एक एटर्नी जनरल की व्यवस्था थी। उसका स्थान भारतीय युनियन में

न्यूनाधिक वही होता जो भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट में एडवोकेट जनरल का था।

प्रधान को साधारण अधिकार दिये गये थे और असाधारण परिस्थितियों का सामना करने के लिए कुछ विशेष अधिकार भी। साधारण अधिकारों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) वे युनियन पार्लमेंट की राज्य-परिषद् के १५ सदस्यों को मनोनीत कर सकते थे।

(२) वे निर्धारित मामलों में क्षमा दे तथा दंड को निलंबित और विलंबित कर सकते थे।

(३) उनको सरकारी निवास-स्थान, तथा उतना वेतन और भत्ता मिलता जिसे युनियन पार्लमेंट निश्चित करती।

(४) प्रधान मंत्री के परामर्श से, जब पार्लमेंट के अधिवेशन न होते हों, वे ऑर्डिनेंसें जारी कर सकते थे, किंतु युनियन पार्लमेंट के अधिवेशन आरंभ होने के छः सप्ताह पश्चात् ये आर्डिनेंसें स्वयं समाप्त समझी जातीं।

असाधारण अधिकारों में से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) असाधारण परिस्थिति में वे लोक-सभा के कार्य-काल को अधिक से अधिक एक साल तक बढ़ा सकते थे।

(२) संघांतरित राज्यों में गवर्नरों द्वारा असाधारण परिस्थिति की घोषणा होने पर, वे या तो उस घोषणा को रद्द कर सकते थे या संबंधित प्रांत का शासन और विधि-निर्माण का काम अपनी घोषणा के अनुसार युनियन के अधीन कर सकते थे। प्रारूप की उक्त व्यवस्था सन् १९३५ के संविधान की धारा ९३ के आधार पर की गयी थी।

युनियन कार्यपालिका की उपरिवर्णित व्यवस्था की निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

(१) प्रधान के निर्वाचन का ढंग न्यूनाधिक वही था जो तीसरी रिपब्लिक में फ्रांस के राष्ट्रपति का था।

(२) उप-प्रधान के संबंध में संयुक्त-राज्य-अमरीका के उप-राष्ट्रपति की व्यवस्था स्वीकार की गयी थी।

(३) प्रधान के साधारण अधिकार न्यूनाधिक वे ही थे जो इङ्गलैंड के संविधान में वहाँ के सम्राट के थे। किंतु विशेषाधिकारों में भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट की कुछ झलक थी यद्यपि इन अधिकारों का प्रयोग राष्ट्रपति अपने 'विवेक' अथवा 'व्यक्तिगत' निर्णय के अनुसार न करके, मंत्रियों के परामर्श के अनुसार करने को थे।

(४) मंत्रि-परिषद् के संयुक्त उत्तरदायित्व की व्यवस्था इंगलैंड के संविधान के अनुसार थी।

(५) प्रधान के विरुद्ध महाभियोग की व्यवस्था कुछ अपूर्व-सी थी। साधारणतया इस प्रकार की कार्रवाई में छोटी सभा अभियोग चलाती और बड़ी सभा उसका निर्णय करती है। भारतीय संविधान के प्रारूप में किसी सभा को महाभियोग चलाने और दूसरी सभा को निर्णय करने का अधिकार था।

(६) प्रधान के पुनर्निर्वाचन के संबंध में अमरीका का आदर्श अपनाया गया था। उस देश में यह व्यवस्था प्रथाओं पर अवलंबित है, पर भारत के लिए संविधान के प्रारूप में उसकी व्यवस्था की गयी थी।

(७) असाधारण परिस्थितियों में युनियन-सरकार के अधीन संघांतरित राज्यों के किये जाने की व्यवस्था के कारण संविधान का केंद्रीकरण की ओर स्पष्ट झुकाव था। अतएव फेडेरेशन के स्थान पर युनियन शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त था।

युनियन पार्लमेंट—युनियन पार्लमेंट सामूहिक नाम था राष्ट्रपति तथा युनियन पार्लमेंट की दोनों सभाओं का। बड़ी और छोटी सभाओं के नाम क्रमशः राज्य-परिषद् (Council of State) और लोकसभा (House of Peoples) थे। राज्य-परिषद् के सदस्यों की संख्या २५० थी। इनमें से २३५ स्थान संघातरित राज्यों को दिये गये थे, और शेष १५ साहित्य, कला, विज्ञान आदि के प्रतिनिधियों को। इन्हें मनोनीत करने का अधिकार प्रधान को था। उप-प्रधान इस सभा के अध्यक्ष थे। लोकसभा के सदस्यों की संख्या ५०० थी। ये वयस्क मताधिकार के आधार पर संघांतरित राज्यों द्वारा इस प्रकार चुने जाने को थे कि प्रत्येक ७,५०,००० जनता के लिए कम से कम एक प्रतिनिधि हो और ५,००,००० जनता के लिए एक से अधिक प्रतिनिधि न हो। इस सभा को अपने सदस्यों में से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को चुनने का अधिकार था। राज्य-परिषद् एक चिरकालीन संस्था थी किंतु प्रति दूसरे बरस उसके एक तिहाई सदस्यों के चुनाव की व्यवस्था थी। लोकसभा का कार्य-काल पाँच बरस था किंतु प्रधान असाधारण परिस्थिति में उसके कार्य-काल को अधिक से अधिक एक साल तक बढ़ा सकते थे। सभाओं के अधिवेशन कराने तथा उनके सत्रावसान और विघटन की व्यवस्था न्यूनाधिक वही थी जो सन् १९३५ के संविधान की। किंतु दो अधिवेशनों के बीच में छः महीने से अधिक का अंतर न हो सकता था। सदस्यों की अयोग्यताओं तथा नियम-निर्माण की प्रक्रिया में भी सन् १९३५ के संविधान का प्रभाव स्पष्ट था। किंतु संयुक्त अधिवेशनों के विषय में एक महत्वपूर्ण अंतर कर दिया गया था। इन अधिवेशनों में लोकसभा का अध्यक्ष सभापति का स्थान ग्रहण करने को था। साधारणतया संयुक्त अधिवेशनों में बड़ी सभा के सभापति को

इस प्रकार का अधिकार दिया जाता है। प्रारूप कमेटी के विचारानुकूल यह परिवर्तन इस लिए आवश्यक था कि लोकसभा के सदस्यों की संख्या राज्य-परिषद् के सदस्यों की संख्या की अपेक्षा अधिक थी। राष्ट्रपति के दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में भाषण देने के अधिकार तथा वित्तीय प्रस्तावों के विचार में इंगलैंड की व्यवस्था का अनुकरण किया गया था। युनियन पार्लमेंट का सारा काम हिंदी या अंगरेजी भाषा में होता किंतु यदि कोई सदस्य इन भाषाओं में से एक को भी न बोल सकता था तो सभा के अध्यक्ष की अनुमति से वह अपनी मातृ-भाषा में भाषण दे सकता था।

युनियन पार्लमेंट को युनियन संबंधी सब विषयों की विधियाँ बनाने का अधिकार था। वह एक प्रभुतायुक्त विधि-निर्माण करने वाली संस्था थी। विशेष परिस्थितियों में मंत्रियों की मंत्रणा से राष्ट्रपति आर्डीनेंसें जारी कर सकते थे किन्तु पार्लमेन्ट के अधिवेशन के आरंभ होने के छः सप्ताह पश्चात् उनकी अवधि के स्वतः समाप्त होने की व्यवस्था थी।

युनियन न्यायालय—भारतीय युनियन के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था थी जिसमें एक प्रधान न्यायाधीश और कम से कम सात न्यायाधीश होते। प्रधान न्यायाधीश तथा न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को था। केनाडा के सर्वोच्च न्यायालय की प्रथा की भाँति भारतीय यूनियन के प्रधान न्यायाधीश, हाईकोर्टों के न्यायाधीशों को, निर्धारित काल के लिए सर्वोच्च न्यायालय के विचारों में भाग लेने के लिए नियुक्त कर सकते थे। इंगलैंड और अमरीका की भाँति, सर्वोच्च न्यायालय के विचारों में अवकाश गृहीत न्यायाधीशों के उपस्थित

होने की व्यवस्था थी। सर्वोच्च न्यायालय के तीन प्रकार के अधिकार-क्षेत्र थे—

(१) मौलिक अधिकार-क्षेत्र,

(२) अपीलों के सुनने का अधिकार-क्षेत्र,

(३) परामर्श देने का अधिकार-क्षेत्र।

मौलिक अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत वे सब मामले थे जो युनियन और संघांतरित राज्यों अथवा स्वयं संघांतरित राज्यों के बीच में किसी ऐसी विधि अथवा बात से संबंधित होते जिस पर किसी कानूनी अधिकार का अस्तित्व तथा उसकी सीमा निर्भर थी अपीलों के सुनने के अधिकार-क्षेत्र में संविधान की व्याख्या के तथा वे सब मामले थे जिनकी अपीलें सन् १६३५ के संविधान के अनुसार संघीय न्यायालय या प्रिवी कौंसिल में होती थीं। दीवानी के मामलों की अपीलें सर्वोच्च न्यायालय में तभी हो सकती थी जब वे कम से कम २०,००० रुपये के होते। सर्वोच्च न्यायालय उन सब बातों में परामर्श दे सकता था, जिनके विषय में प्रधान उसका परामर्श माँगते। विशेष आज्ञा द्वारा इस न्यायालय में, भारत के किसी न्यायालय के किसी निर्णय के विरुद्ध, अपील करने की व्यवस्था थी। प्रारूप कमेटी ने एक नोट में अमरीका की उस प्रथा की ओर ध्यान आकर्षित किया था जिसके अनुसार वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय के सब न्यायाधीश एक साथ विचाराधीन मामले पर विचार करते थे। वहाँ न्यायाधीशों के डिवीजन बेंचों में बैठने की प्रथा न थी। कमेटी की राय में भारत में इस प्रथा का अनुकरण होना चाहिये था, विशेष रूप से उन मामलों पर विचार करते समय, जिनका संबंध संविधान की व्याख्या से था या जिनके विषय में प्रधान सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श माँगते।

युनियन न्यायालय की उक्त व्यवस्था में केनाडा, युनाइटेड किंगडम और संयुक्तराज्य अमरीका का प्रभाव स्पष्ट था। युनियन के संघात्मक संविधान के कारण, अधिकार संबंधी कुछ मतभेद का होना अनिवार्य था। अतएव भारत के सर्वोच्च न्यायालय को, अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय की भाँति, संविधान की व्याख्या करने तथा उसकी अंतिम रूप-रेखा के निश्चित करने का अधिकार था। ऐसी अवस्था में समस्त न्यायाधीशों द्वारा विचाराधीन प्रश्न पर एक साथ विचार करना उचित ही था। न्यायाधीशों की निष्पक्षता तथा निर्भीकता की भी समुचित व्यवस्था थी। निर्धारित वेतन पाने के अतिरिक्त, वे ६५ बरस की अवस्था तक अपने पद पर रह सकते थे, यदि वे प्रधान द्वारा इसके पूर्व न निकाले जाते। प्रधान किसी न्यायाधीश को उसी समय अपने पद से हटा सकते थे जब युनियन पार्लमेंट की दोनों सभाएँ, एक ही अधिवेशन में, दो तिहाई बहुमत से, अयोग्यता तथा दुराचरण के लिए, उसे निकालने के लिए उनसे प्रार्थना करतीं।

संघांतरित राज्यों का शासन—भारतीय युनियन के संघांतरित राज्य, न्यूनाधिक वे ही थे जो पहले गवर्नरों के प्रांत थे। प्रत्येक राज्य के लिए एक गवर्नर की व्यवस्था थी। वह वहाँ का सर्वोच्च संवैधानिक अधिकारी होता। उसके पदासीन होने के लिए प्रारूप कमेटी ने दो वैकल्पिक मार्गों पर प्रकाश डाला था। संविधान-सभा ने अपने एक पूर्व निर्णय द्वारा यह निश्चित किया था कि राज्य के गवर्नर उन्हीं मताधिकारियों द्वारा चुने जायँ जो राज्य के लेजिस्लेचर की छोटी सभा के निर्वाचन में भाग ले सकते थे। कमेटी ने संविधान सभा के इस निर्णय को अस्वीकार किये बिना, एक वैकल्पिक मार्ग का सुझाव पेश किया था। वह इस प्रकार है—राज्य का लेजिस्लेचर एकाकी हस्तांतरीय वोट की

अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार चार व्यक्तियों के एक पैनेल (समिति) को निर्वाचित करे। इस पैनेल में सम्मिलित किये जानेवाले व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक न था कि वे उसी राज्य के निवासी होते। तत्पश्चात् राष्ट्रपति इनमें से किसी एक व्यक्ति को गवर्नर नियुक्त करते। संविधान के प्रारूप में उक्त दोनों मार्ग सम्मिलित किये गये थे।

गवर्नरों का कार्य-काल पाँच बरस निश्चित किया गया था। संविधान के उल्लंघन करने पर उनके विरुद्ध भी महाभियोग चलाया जा सकता था। कमेटी ने डिप्टी-गवर्नर की आवश्यकता पर भी विचार किया और उन्हें अनावश्यक बतलाया। पर असाधारण परिस्थितियों के लिए उसने राज्य के लेजिस्लेचर अथवा प्रधान द्वारा किये गये विशेष प्रबंध की आवश्यकता पर भी जोर दिया था।

गवर्नर की सहायता के लिए एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था थी। साधारणतया गवर्नर, अपने अधिकारों का प्रयोग मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा के अनुसार करने को थे। किंतु निम्नलिखित कामों को वे स्वयं कर सकते थे—

(१) लेजिस्लेचर के अधिवेशन का कराना तथा उसका सत्रावसान।
(२) राज्य के पब्लिक सर्विस कमीशन के सभापति तथा सदस्यों की नियुक्ति।
(३) राज्य के ऑडीटर जनरल की नियुक्ति।
(४) ऐसी असाधारण परिस्थिति की घोषणा जिसके कारण राज्य की शांति और व्यवस्था में बाधा पड़ने की आशंका थी। इसका कार्यकाल अधिक से अधिक दो सप्ताह हो सकता था। ऐसी परिस्थिति में उन्हें संविधान के कुछ अंशों

के निलंबित करने का अधिकार था। गवर्नर के लिए यह आवश्यक था कि वे असाधारण परिस्थिति की घोषणा की सूचना प्रधान को दें। ऐसी अवस्था में प्रधान को गवर्नर की घोषणा को रद्द करने या संबंधित राज्य के शासन और विधि-निर्माण के अधिकार को युनियन सरकार के अधीन करने का अधिकार था।

इन अधिकारों के अतिरिक्त गवर्नर अपने अन्य अधिकारों का प्रयोग मंत्रियों की मंत्रणा से करने को थे। वे ऑर्डीनेंसें भी जारी कर सकते थे पर उसी समय जब लेजिस्लेचर के अधिवेशन न होते हों। ये आर्डिनेंसें लेजिस्लेचर के अधिवेशन के आरंभ होने के छः सप्ताह पश्चात् स्वतः समाप्त हो जातीं। राज्य के सारे काम गवर्नर के नाम पर किये जाने को थे। राज्य के मुख्य मंत्री का यह कर्तव्य था कि वह गवर्नर के माँगने पर राज्य के शासन संबंधी मामलों तथा विचाराधीन नियमों की सूचना उन्हें दें। युनियन की भाँति, राज्यों के लिए भी एडवोकेट जनरल की व्यवस्था की गयी थी। इस पदाधिकारी के अधिकार सन् १९३५ के संविधान के अनुसार थे। राज्य के मुख्य मंत्री के पद-त्याग पर एडवोकेट जनरल का कार्य-काल भी समाप्त हो जाने को था।

संघांतरित राज्यों के लेजिस्लेचर—संघांतरित राज्यों में से कुछ में दो सभाओं के लेजिस्लेचरों की व्यवस्था थी और कुछ में केवल एक सभा के। प्रारूप कमेटी ने उन राज्यों का नाम न बतलाया था जहाँ के लेजिस्लेचर दो सभाओं के होते। गवर्नर भी अपने-अपने राज्य के लेजिस्लेचर के अंग होते। छोटी सभा का नाम लेजिस्लेटिव असेंबली रखा गया था और बड़ी सभा का लेजिस्लेटिव कौंसिल। असेंबली के अधिक से अधिक ३००

और कम से कम ६० सदस्य हो सकते थे। इनका चुनाव प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों में वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली से होने को था। प्रत्येक एक लाख जनसंख्या के लिए एक सदस्य की व्यवस्था थी। आसाम के स्वायत्त शासन भोगी ज़िलों (Antonomous Districts) के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों में यह नियम लागू होने को था। कौंसिल के सदस्यों की संख्या असेंबली के सदस्यों की संख्या की २५ प्रतिशत निर्धारित की गयी थी। इसके आधे सदस्य कार्यात्मक (Functional) आधार पर निर्मित सदस्यों को समितियों में से चुने जाने को थे। एक तिहाई सदस्य, एकाकी हस्तांतरीय वोट की अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार असेंबली द्वारा चुने जाने को थे और शेष सदस्यों को गवर्नर मनोनीत करने को थे। असेंबली का कार्य-काल पाँच बरस निर्धारित हुआ था, किंतु कौंसिल एक चिरकालीन संस्था थी और प्रति तीसरे बरस उसके एक तिहाई सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था थी। लेजिस्लेचरों की भाषा अंगरेजी, हिंदी या राज्य की मातृभाषा निर्धारित की गयी थी। यदि कोई सदस्य इनमें से किसी भाषा को न बोल सकता था, तो सभा के सभापति की अनुमति से वह अपनी मातृभाषा में भाषण दे सकता था।

राज्यों के हाईकोर्ट—राज्यों के हाईकोर्टों के संबंध में प्रारूप में वही व्यवस्था थी जो सन् १९३५ के संविधान के अनुसार प्रांतीय हाईकोर्टों की थी। हाईकोर्ट के न्यायाधीश, प्रारूप के अनुसार, ६५ बरस की अवस्था तक अपने पद पर रह सकते थे। यह भी व्यवस्था की गयी थी कि हाईकोर्ट के किसी अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश को युनियन के किसी भाग में वकालत करने की

आज्ञा न होगी। अमरीका और ब्रिटेन की भाँति भारत में भी अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश हाईकोर्ट की बैठकों में बुलाये जा सकते थे। यह व्यवस्था भी की गयी थी कि युनियन पार्लमेंट कानून द्वारा किसी प्रांत के हाईकोर्ट के कार्य-क्षेत्र को अन्य प्रांत तक बढ़ा या घटा सकेगी।

चीफ़ कमिश्नरों के राज्य—प्रारूप के सातवें भाग में उन राज्यों की व्यवस्था थी जो पहले चीफ कमिश्नरों के प्रांत के नाम से प्रसिद्ध थे। इनमें से मुख्य दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग और पंच-पिपलोदा थे। प्रारूप में चीफ-कमिश्नर या लेफ्टिनेंट गवर्नर या गवर्नर या पास की भारतीय रियासत के शासक के जरिये, इनके शासन की व्यवस्था की गयी थी। किसी विशिष्ट प्रदेश के बारे में क्या किया जाय, यह राष्ट्रपति पर छोड़ दिया गया था। वे इस संबंध में मंत्रियों की मंत्रणा से आज्ञा निकाल सकते थे। राष्ट्रपति को इन प्रदेशों के लिए लेजिस्लेचर और परामर्शदात्री कौंसिलें स्थापित करने तथा इनके संगठन और अधिकारों को निश्चित करने का अधिकार दिया गया था। उन भारतीय रियासतों का शासन, जो उड़ीसा की रियासतों की भाँति, अपने अधिकारों को युनियन की सरकार को समर्पित करती, केंद्र द्वारा शासित प्रदेशों की भाँति होने को था, या चीफ कमिश्नर, या लेफ्टिनेंट गवर्नर, या गवर्नर या पास की भारतीय रियासत के शासक के जरिये, जिसकी व्यवस्था आवश्यकतानुकूल किसी विशेष प्रदेश के संबंध में की जाती।

युनियन और राज्यों का परस्पर संबंध—प्रारूप के आठवें भाग में अंडमान और निकोबार द्वीप समूहों की व्यवस्था थी और नवें भाग में युनियन और संघांतरित राज्यों के संबंध

की। कार्य-विभाजन का आधार न्यूनाधिक वही था जो संविधान-सभा की युनियन अधिकार-निर्धारण (Union Powers) कमेटी ने निश्चित किया था और जिसे संविधान-सभा स्वीकार कर चुकी थी। तीन प्रकार के विषयों की सूचियाँ बनायी गयी थीं—(१) युनियन के विषय, (२) राज्यों के विषय और (३) समवर्त्ती विषय। प्रारूप कमेटी ने इस बात पर भी जोर दिया था कि यदि राज्य के विषयों का कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो, तो युनियन की पार्लमेंट उसके लिए भी विधि बना सकेगी। अनधिकार-पूर्ण हस्तक्षेप को रोकने के लिए यह आवश्यक समझा गया था कि इस प्रकार की कार्रवाई तभी आरंभ की जाय, जब युनियन पार्लमेंट का राज्य-परिषद् दो तिहाई बहुमत से इस संबंध का प्रस्ताव पास करे। तत्कालीन असामान्य परिस्थिति के कारण नये संविधान के कार्यान्वित होने के पाँच बरस पश्चात् तक कुछ आवश्यक वस्तुओं (जैसे रूई, कपड़े, खाद्य पदार्थ, पैट्रोलियम) का उत्पादन, वितरण और व्यापार तथा उन व्यक्तियों की सहायता और पूर्व स्थिति की प्राप्ति का प्रयत्न जो बिना घरबार के हो गये थे, संयुक्त विषय के समान समझा जाने को था। संघांतरित राज्यों का शासन-संचालन इस प्रकार होने को था कि युनियन पार्लमेंट द्वारा बनायी गयी विधियाँ या उस समय की विधियाँ जो संघांतरित राज्यों में लागू थीं कार्यान्वित हो सकें तथा इस काम में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। भारतीय रियासतें समझौते द्वारा भारतीय युनियन, या संघांतरित राज्यों को अपने शासकीय, नियम-निर्माण तथा न्याय संबंधी अधिकारों को समर्पित कर सकती थी। प्रधान को मतभेद की बातों के निबटाने, तथा पुलिस के संबंध में सब राज्यों की समान नीति के लिए, एक अंतर्राज्यीय कौंसिल के स्थापित करने का अधिकार दिया गया था।

दस से पंद्रहवें भाग तक—प्रारूप के दसवें से लेकर पंद्रहवें भाग तक का आधार भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ का ऐक्ट था। दसवें भाग में युनियन और संक्रांतरित राज्यों की आर्थिक व्यवस्था का उल्लेख था। पाँच बरस तक युनियन और राज्यों में आय-विभाजन के वे ही नियम लागू रहने को थे जिनकी व्यवस्था सन् १९३५ के ऐक्ट में की गयी थी। इस अवधि के पश्चात् एक अर्थ कमीशन नियुक्त होता और वह इस संबंध में अपनी रिपोर्ट पेश करता। ग्यारहवें भाग में संकटकालीन अधिकारों की व्यवस्था थी और इसका आधार भी भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ का ऐक्ट था। बारहवें भाग में सरकारी नौकरियों के नियमों का उल्लेख था। इस संबंध के ब्यौरेवार नियमों के बनाने का अधिकार उपयुक्त लेजिस्लेचरों को दिया गया था। किंतु सन् १९३५ के संविधान के अंतर्गत युनियन और राज्यों के पब्लिक सर्विस कमीशनों की व्यवस्था की गयी थी। तेरहवें भाग में निर्वाचन की व्यवस्था थी और चौदहवें भाग में अल्प-संख्यकों के संरक्षण की। दस बरस तक के लिए मुसलमानों, अछूतों, परिगणित जातियों (Scheduled tribes) और ईसाइयों (केवल मद्रास और बंबई की राज्यों में) के लिए भारतीय लोकसभा और राज्यों की असेंबलियों में स्थान सुरक्षित रखे गये थे। इसी अवधि के लिए एंग्लो-इंडियन जाति के (नौकरी और शिक्षा की सहायता में) अधिकारों के जारी रखने की विशेष व्यवस्था की गयी थी। युनियन और राज्यों में अल्प-संख्यकों की देखभाल के लिए विशेष अधिकारियों की तथा पिछड़ी हुई जातियों की अवस्था की जाँच करने के लिए निर्धारित समयों पर कमीशनों के नियुक्ति की व्यवस्था की गयी थी। परिगणित जातियों के भी शासन के संबंध में रिपोर्ट देने के

लिए इसी प्रकार एक कमीशन के नियुक्ति की व्यवस्था की गयी थी। पंद्रहवें भाग में प्रधान और गवर्नरों को अपने कार्य-काल में फौजदारी और दीवानी मुकदमों से सुरक्षित रखने की व्यवस्था थी।

संविधान में संशोधन—प्रारूप के सोलहवें भाग में संविधान में संशोधन की व्यवस्था का उल्लेख था। साधारण संशोधन के लिए यह आवश्यक था कि उसे युनियन पार्लमेंट की दोनों सभाएं कुल सदस्यों के बहुमत तथा वोट देनेवाले उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से स्वीकार करतीं। यदि कोई संशोधन कार्य-विभाजन की सूचियों में परिवर्तन या युनियन पार्लमेंट में संघांतरित राज्यों के प्रतिनिधित्व में रद्दोबदल करने या सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों के संबंध में होता, तो उक्त दोनों शर्तों की पूर्ति के अतिरिक्त उसे संघांतरित राज्यों के कम से कम आधे और सम्मिलित भारतीय रियासतों के एक तिहाई लेजिस्लेचरों द्वारा स्वीकृत होना चाहिये था। कुछ निर्धारित बातों के संबंध में संघांतरित राज्यों तथा सम्मिलित भारतीय रियासतों को भी संविधान में संशोधन करने का अधिकार था। इस प्रकार के संशोधन प्रधान के पास अनुमति के लिए भेजे जाते। उनकी अनुमति मिल जाने पर ही संशोधन कार्यान्वित किये जा सकते थे। दस बरस तक मुसलमानों, अछूतों, परिगणित जातियों और ईसाइयों के संरक्षण के संबंध में किसी प्रकार का संशोधन न किया जा सकता था।

संक्रमण काल की व्यवस्था—प्रारूप के सत्रहवें भाग में संक्रमण काल की व्यवस्था का उल्लेख था। इस संबंध में निम्न-लिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) जितने मौजूदा नियम हैं वे सब लागू रहेंगे, जब तक वे प्रधान के आर्डर द्वारा, नये संविधान के अनुकूल बनाने के लिए, संशोधित तथा परिवर्तित न किये जायँ।

(२) जब तक युनियन पार्लमेंट का निर्वाचन न हो, संविधान-सभा युनियन पार्लमेंट के सब अधिकारों का उपयोग करेगी और उसके इस काम का अध्यक्ष, प्रमुख के अधिकारों का।

(३) जब तक युनियन का प्रधान न चुना जाय, संविधान-सभा द्वारा निर्वाचित व्यक्ति प्रधान की हैसियत से काम करेगा।

(४) संविधान कार्यान्वित होने के दिन से, डोमीनियन सरकार के मंत्री अस्थायी प्रधान के मंत्री समझे जायँगे।

(५) प्रांतीय गवर्नरों, लेजिस्लेचरों और मंत्रियों के विषय में भी यही व्यवस्था लागू होगी।

(६) संघीय न्यायालय के न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की भाँति काम करेंगे और हाईकोर्ट के न्यायाधीश नयी हाईकोर्टों के न्यायाधीशों की भाँति।

(७) युनियन पार्लमेंट के संगठित होने तक अस्थायी प्रधान को किसी कठिनाई के समाप्त करने के लिए ऑर्डर जारी करने का अधिकार होगा।

नये संविधान के लागू होने की तिथि—प्रारूप के अंतिम भाग में नये संविधान के लागू होने की तिथि का उल्लेख था। समिति ने इस बात को भविष्य के निर्णय पर छोड़ दिया था। किंतु यह स्पष्ट कर दिया था कि जिस दिन से यह लागू होगा उस दिन से भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट सन् १९४७, भारतीय शासन संबंधी ऐक्ट १९३५ तथा उसमें संशोधन और परिवर्तन करनेवाले समस्त ऐक्ट रद्द समझे जायँगे।

नये संविधान का निर्माण—संविधान-सभा ने अपने अंतिम अधिवेशनों में संविधान के प्रारूप पर विचार करके उसके विभिन्न अनुच्छेदों को मौलिक एवं संशोधित रूप में स्वीकार किया और तत्पश्चात् उसे प्रारूप-कमेटी के पास पुनः अपने निर्णयानुसार दोहराने के लिए भेजा। कमेटी ने ३ नवंबर सन् १९४९ को, संशोधित प्रारूप को संविधान-सभा के अध्यक्ष के सम्मुख उपस्थित किया और २६ नवंबर को संविधान-सभा ने उसे स्वीकार कर लिया। प्रारूप कमेटी ने, जिसकी नियुक्ति २९ अगस्त सन् १९४७ को हुई थी, १४१ दिन में संविधान के प्रारूप को निश्चित किया था और संविधान-सभा ने ११४ दिन तक विचार के पश्चात् उसे स्वीकार किया। लगभग ७६३५ संशोधनों की सूचना दी गयी और उनमें से २४७३ पर विचार भी हुआ। संविधान के निर्माण में लगभग ६४,००,००० रुपये खर्च हुए। लगभग ५३,००० व्यक्तियों ने दर्शक की हैसियत से संविधान-सभा की कार्रवाई को देखा। यह संविधान २६ जनवरी सन् १९५० से देश पर लागू कर दिया गया है।

———

पाँचवाँ परिच्छेद

भारत के गणतंत्रात्मक संविधान की विशेषताएँ

प्राक्कथन—नये संविधान की विशेषताएँ—प्रभुता-संपन्न लोकतंत्रात्मक गण राज्य—भारतीयों द्वारा निर्मित—बड़ा आकार—केंद्रीकरण की ओर झुका हुआ संघात्मक संविधान—उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था—विदेशी संविधानों का प्रभाव—अल्प-संख्यकों की रक्षा—क्रांतिकारी परिवर्तनों की व्यवस्था—नमनीय संविधान—भारतीय संविधान के विविध अंग—संविधान में संशोधन की व्यवस्था—संक्रमण-कालीन व्यवस्था।

प्राक्कथन—भारत के नये संविधान की आलोचना विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। कुछ उसे संवैधानिक प्रयोगों में एक नया पग समझते हैं, जिसके व्यावहारिक रूप से संसार बहुत कुछ सीख सकेगा। उसमें इङ्गलैंड और संयुक्त-राज्य अमरीका में प्रचलित विरोधात्मक सिद्धांतों के समन्वय का प्रयत्न किया गया है। यह प्रयोग सफल होगा अथवा नहीं, यह बतलाना इस समय संभव नहीं। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसके निर्माताओं में मौलिकता का सर्वथा अभाव न था। दूसरे लोग उसे भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट का अनुकरण मात्र समझते हैं जिसके निर्माण में समय और धन व्यर्थ ही नष्ट किया गया है। यदि किंचित काल के लिए हम अपने को इस मतभेद से अलग रखें और संपूर्ण संविधान पर विचार करें, तो हमें उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलेंगी, जो उसे संसार के अन्य

संविधानों से अलग कर देती हैं। उनमें से निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) प्रभुता-संपन्न लोकतन्त्रात्मक गण-राज्य— नये संविधान द्वारा भारत के लिए प्रभुता-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गण-राज्य की व्यवस्था की गयी है। यह उसकी प्रस्तावना से ही स्पष्ट है। प्रस्तावना इस प्रकार है–"हम भारत के निवासी, भारत को सर्व-प्रभुता-संपन्न लोकतन्त्रात्मक गण-राज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त निवासियों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुरक्षित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए, दृढ़-संकल्प होकर, अपनी इस संविधान-सभा में आज (२६ नवंबर १९४९ को) एतद्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

यदि हम इस प्रस्तावना का विश्लेषण करें तो हमें नये संविधान की तीन आधारभूत बातें मिलती हैं—(अ) लोकतंत्रात्मक गणतंत्र की व्यवस्था (ब) राज्य की प्रभु-सत्ता का जनता के हाथ में होना, और (स) संविधान का न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की आधार-शिलाओं पर अवलंबित होना। प्रस्तावना के संबंध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वह लक्ष्य संबंधी उस प्रस्ताव का अंतिम स्वरूप है जिसे पं० जवाहरलाल नेहरू ने संविधान-सभा के प्रथम अधिवेशन में पेश किया था। प्रस्ताव के महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—...(४) यह संविधान-सभा स्वाधीन

प्रभुत्व संपन्न लोकतंत्रात्मक गणतंत्र के रूप में भारत के भावी शासन-प्रबंध के लिए, संविधान बनाने के हेतु अपना पुनीत संकल्प घोषित करती है। (५) संविधान में भारत की समस्त जनता के लिए न्याय, स्थिति की समानता, अवसर की समानता, कानून के समक्ष समानता, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, व्यवसाय, सभा तथा कार्य की स्वाधीनता की व्यवस्था, कानून तथा नीति के अंतर्गत करेगी।"[१]

(२) **भारतीयों द्वारा निर्मित**—नये संविधान के निर्माण का श्रेय भारतीयों को है। इसके पूर्व आधुनिक काल में भारत के लिए जितने संविधान बने थे, वे ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा निर्मित होकर भारत पर एक प्रकार लादे से गये थे। किंतु नवीन संविधान उनसे सर्वथा भिन्न है। इसे स्वयं भारतीयों ने स्वतंत्र भारत में बनाया है। इसमें संदेह नहीं कि संविधान-सभा का निर्वाचन प्रौढ़ मताधिकार के अनुसार न हुआ था। फलस्वरूप उसे समस्त भारत की प्रतिनिधि-संस्था कहने में कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती थी। फिर भी यह बात निर्विवाद है कि नया संविधान भारतीयों द्वारा निर्मित हुआ है। उसके निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से विदेशियों के हाथ तथा प्रभाव का सर्वथा अभाव है।

(३) **बड़ा आकार**—सन् १९३५ के संविधान की भाँति भारत के नये संविधान का आकार बहुत बड़ा है। उसमें कुल

---

१. Constituent Assembly Debates Vol. 1 No. 5 p. 57.

मिलाकर २२ भाग, ३९५ अनुच्छेद (Articles) और ८ अनु-सूचियाँ (Schedules) हैं। संविधान में अनेक ऐसी बातों को स्थान मिला है, जो वास्तव में ब्यौरे की हैं और जिनका संविधान में होना अनिवार्य नहीं है। निर्माताओं ने उसे यथाशक्ति इस प्रकार का बनाना चाहा है कि वह समस्त परिस्थितियों का सामना कर सके। पं० कैलाशनाथ काटजू के मतानुकूल ऐसा करना मनुष्य की बुद्धि के परे है। संविधान के बड़े आकार के कारण यह भी संभव है कि उसके कार्यान्वित रूप में कुछ कठिनाइयाँ आ उपस्थित हों। अधिक ब्यौरेवार संविधान साधारणतः दोषपूर्ण सिद्ध होते हैं। जर्मनी का वाइमर (Weimar) संविधान युद्धोपरांत युरुप का सबसे बड़ा संविधान था। कुछ आलोचकों के मतानुकूल वह लोकतंत्र का सर्वश्रेष्ठ पाठ्य-ग्रंथ था। पर उसी के अंतर्गत जर्मनी में हिटलरशाही स्थापित हुई। भारतीय शासन-संबंधी सन् १९१९ और १९३५ के ऐक्ट भी, अधिक ब्यौरेवार होने के कारण संवैधानिक संकटों के जन्मदाता तथा व्यवहार में असफल सिद्ध हुए। भारत के नये संविधान के व्यावहारिक रूप में संवैधानिक संकटों की आशंका सर्वथा निर्मूल नहीं है। श्री० बी० दास के मतानुकूल "भारत का नया संविधान संवैधानिक इतिहास के महाभारत के समान है। जिस प्रकार नशे में चूर सिपाही इधर-उधर भटकता है, उसी प्रकार प्रारूप-कमेटी का मस्तिष्क इधर-उधर भटकता फिरा है।" नजीरुद्दीन अहमद के विचार में नया संविधान वकीलों का स्वर्ग होगा।

(४) केंद्रीकरण की ओर झुका हुआ संघात्मक संविधान—भारत का नया संविधान संघात्मक है। उसके द्वारा भारत, संघांतरित राज्यों का संघ घोषित किया गया है। संघांतरित राज्य इस प्रकार हैं।

अ वर्ग	ब–वर्ग	स–वर्ग	द–वर्ग
१. आसाम	१. हैदराबाद	१. अजमेर	अंडमान और निकोबार टापू
२. बिहार	२. जम्मू और कश्मीर	२. भूपाल	
३. बम्बई	३. मध्य भारत	३. विलासपुर	
४. मध्य-प्रदेश	४. मैसूर	४. कूच-बिहार	
५. मद्रास	५. पटियाला और पूर्वी पंजाब का रियासती संघ	५. कुर्ग	
६. उड़ीसा	६. राजस्थान	६. दिल्ल	
७ पंजाब	७. सौराष्ट्र	७. हिमाचल प्रदेश	
८. उत्तर प्रदेश	८. ट्रावनकोरकोचिन	८. कच्छ	
९. पश्चिमी बंगाल	९. विंध्य प्रदेश	९. मनीपुर	
		१०. त्रिपुरा	

अ वर्ग में वे राज्य सम्मिलित हैं जो ब्रिटिश भारत के प्रांत थे और ब वर्ग में वे जो पहले भारतीय रियासतों के रूप में थे और जो इस समय या तो स्वतन्त्र ईकाइयों के रूप हैं या जिन्हें मिलाकर रियासती संघ स्थापित किये गये हैं। स वर्ग में वे राज्य

सम्मिलित हैं जो केंद्रीय शासन के अधीन हैं। इनमें से कुछ तो पहले ही से केंद्रीय शासन के अधीन थे और कुछ स्वतन्त्रता के पश्चात् केंद्रीय शासन के अधीन किये गये हैं। आजकल ब वर्ग का विंध्य-प्रदेश चीफ कमिश्नर के अधीन है और स वर्ग का कूच-विहार का राज्य पश्चिमी बंगाल में मिला दिया गया है।

संघात्मक संविधान के नाते, भारत के नये संविधान में सरकारी कामों का बँटवारा किया गया है और उनकी शासन-व्यवस्था के लिए पृथक समानांतर शासन संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। पर उक्त व्यवस्था शांतिकालीन है। संकट के दिनों तथा असाधारण परिस्थितियों में, अपने अनुच्छेदों के अंतर्गत, संविधान सरलता से एकात्मक बनाया जा सकता है।[1] संविधान की इस व्यवस्था से बहुत से लोग असंतुष्ट हैं। इस संबंध में राष्ट्रपति के असाधारण अधिकारों की आलोचना विशेष रूप से की जाती है। श्री संपूर्णानंद के विचारानुकूल, "संविधान द्वारा संघांतरित राज्य केंद्र के कठोर आधिपत्य में रखे गये हैं और ऐसी एकरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है जो अंत में अहितकर सिद्ध हो सकती है।" संपूर्ण व्यवस्था का परिणाम यह है कि संघांतरित राज्यों के अधिकार केंद्रीय राष्ट्रपति के अधिनायकत्व में कर दिये गये हैं और उनके ऊपर अपनी आत्मा तथा प्रधानमंत्री की सत्ता के अतिरिक्त कोई दूसरी रुकावट नहीं है।

(५) उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था—नये संविधान

---

१. डाक्टर अंबेदकर के विचारानुकूल "नये संविधान में युद्ध और शांति दोनों समयों में देश को एक बनाये रखने की सामर्थ्य है।" संविधान सभा में भाषण Constituent Assembly Debates vol. 3 no. 1, pp. 34-35.

द्वारा भारत के लिए उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था की गयी है। इसके पूर्व ब्रिटिश राष्ट्र-समूह की कुछ डोमीनियनों में संघात्मक आधार पर उत्तरदायी सरकार स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था। उनकी सफलता के विषय में मतैक्य का अभाव है। आस्ट्रेलिया के विषय में यह कहा जाता है कि वहाँ संघात्मक सरकार के साथ उत्तरदायी सरकार का समन्वय अपने अभीष्ट की पूर्ति में असफल रहा है। इसके विपरीत संयुक्त-राज्य-अमरीका का संविधान अधिकार-विभाजन (Separation of Powers) और शक्ति-संतुलन (Balance of Powers) के सिद्धांतों पर अवलंबित है। अमरीका में दृढ़ शासन अधिक महत्वपूर्ण समझा गया है और ब्रिटिश डोमीनियनों में उत्तरदायी शासन। भारत के नये संविधान में उत्तरदायी सरकार का सिद्धांत अधिक ग्राह्य समझा गया है। पर दृढ़ शासन का आदर्श भी सम्मुख रखा गया है। इन दोनों का समन्वय हो सकेगा या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर संविधान के कार्यान्वित रूप पर निर्भर करेगा। श्री संपूर्णानंद के मतानुकूल भारत के नये संविधान में संघात्मक रचना के साथ, भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के समन्वय का प्रयत्न किया गया है। यह ऐक्ट ब्रिटिश संविधान पर अवलंबित था। "हमें यह देखना है कि इस संमिश्रण का व्यावहारिक रूप क्या होगा।" बहुत संभव है कि भारत इस समन्वय में सफल हो जाय। भारत का नया संविधान केवल कहने ही को संघात्मक है। एकात्मक दिशा की ओर उसका झुकाव इतना अधिक है कि उक्त समन्वय के सफलता की आशा बिल्कुल निराधार नहीं प्रतीत होती।

(६) **विदेशी संविधानों का प्रभाव**—भारत के नये संविधान में विदेशी संविधानों का प्रभाव स्पष्ट है। संयुक्त-राज्य

अमरीका, इंगलड, आस्ट्रेलिया, कैनाडा, आयर्लैंड, जापान आदि देशों के संविधानों के गुण-दोष के अध्ययन के पश्चात् संविधान-निर्माताओं ने इस बात का प्रयत्न किया है कि भारतीय संविधान में विभिन्न संविधानों के गुणों का समावेश हो जाय। भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट की कुछ धाराएँ ज्यों की त्यों उतार ली गयी हैं। उक्त प्रभावों के कारण कुछ आलोचकों के मतानुकूल, संविधान में मौलिकता का अभाव है। उसमें भारतीयता की कमी है। संविधान में उन लोगों की इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रयत्न नहीं किया गया है। जिन्होंने गाँधी जी के नेतृत्व में तीस साल तक स्वतंत्रता की लड़ाई में भाग लिया था। श्री ठाकुर दास भार्गव के विचारानुकूल "प्रारूप-कमेटी में गाँधी जी का मस्तिष्क न था। अतएव संविधान-निर्माण द्वारा वह उस काम को करने में असफल रही, जिसे गाँधी जी चाहते थे।" इस आलोचना में कुछ तथ्य है। किंतु आधुनिक लोकतंत्रात्मक संविधानों में किस सीमा तक मौलिकता का अस्तित्व, तथा विदेशी प्रभावों से बचाव हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। लोकतंत्र की समस्याएँ प्रायः सभी देशों में एक समान हैं। फलस्वरूप उनके संवैधानिक ढांचे में समानता का होना कुछ अनिवार्य सा है। आवश्यक परिवर्तन विशेष परिस्थितियों के कारण किये जाते हैं। भारत के नये संविधान में इस प्रकार के कई परिवर्तन हैं; जैसे ग्राम-शासन, अस्पृश्यता आदि की व्यवस्था। अतएव संविधान में मौलिकता है। पर उसमें गाँधीवादी और समाजवादी दोनों प्रकार की विचार-धाराओं का अभाव है।

(७) अल्प-संख्यकों की रक्षा—भारत के नये संविधान में अल्प-संख्यकों की रक्षा की व्यवस्था की गयी है। भारत की अंगरेजी सरकार ने भी इस दिशा में कुछ काम किया था, पर

स्वार्थवश उसकी व्यवस्था इस प्रकार की थी कि उसके कारण भारतीय राष्ट्रीयता के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। उसने मुसलमानों को हिंदुओं से सर्वथा अलग करके, उन्हें पृथक निर्वाचनाधिकार दिया और दलित जातियों के साथ भी वह यही कर डालती, यदि गाँधी जी अपने प्राणों की बाजी लगाकर उसे रोकने के लिए प्रयत्नशील न होते। आधुनिक संसार में अल्पसंख्यकों का संरक्षण आवश्यक है। डा० अंबेडकर के विचारानुकूल "अल्पसंख्यकों की शक्ति का विस्फोट राज्य के समस्त तंत्र का विनाश कर सकता है।" पर संरक्षण इस प्रकार का होना चाहिये कि राष्ट्रीयता के विकास पर उसका कुप्रभाव न पड़े। भारत के नये संविधान में अल्प-संख्यकों के संरक्षण की व्यवस्था न्यूनाधिक इसी प्रकार की है। निर्वाचन संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली के अनुसार होंगे। पर दलित जातियों के लिए विधान-सभाओं और स्थानीय संस्थाओं में स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। यह व्यवस्था दस बरस तक चलेगी। तत्पश्चात् इस प्रश्न पर पुनः विचार करके, आवश्यक कार्रवाई की जायगी।

(८) क्रांतिकारी परिवर्तनों की व्यवस्था—भारत के नये संविधान में कुछ क्रांतिकारी परिवर्तनों की व्यवस्था की गयी है। उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—पृथक निर्वाचन-पद्धति के स्थान पर संयुक्त निर्वाचन-पद्धति; नागरिकों के मूल अधिकारों का निश्चित किया जाना, तथा संविधान द्वारा उनकी गारंटी; राज्य का पार्थिव आधार; अस्पृश्यता का अंत; देवनागरी लिपि के हिंदी को देश की राष्ट्र-भाषा बनाना; वयस्क मताधिकार; ग्राम-स्वायत्त शासन की व्यवस्था। उक्त समस्याएँ भारतीय जनता एवं नेताओं के सम्मुख बहुत दिनों से थीं। उनका हल

कुछ असंभव सा प्रतीत होता था। पर नये संविधान में, उक्त परिवर्तनों द्वारा वे आसानी से हल हो गयी हैं।

(९) **नमनीय संविधान**—भारत का नया संविधान नमनीय संविधान है। जिन लोगों ने इसे बनाया है वे किसी वर्ग अथवा दल से सीमित न होकर अपने को समस्त भारत का प्रतिनिधि समझते थे। अतएव उनका संविधान सार्वजनिक आधार पर अवलंबित है। यदि कालांतर में राजनीतिक दलों के शासन और उनके उद्देश्य की पूर्ति के लिए संविधान में संशोधन करना आवश्यक प्रतीत हो, तो यह कार्रवाई आसानी से की जा सकेगी। इस संबंध में भारतीय संविधान-निर्माताओं की मनोवृत्ति संयुक्त-राज्य अमरीका के संविधान-निर्माताओं की मनोवृत्ति से भिन्न थी। संयुक्त-राज्य अमरीका के संविधान-निर्माता अपनी सीमाओं से परिचित थे। किंतु वे यह भी समझते थे कि उनका संविधान इतना अच्छा है कि उस पर कुछ समय तक अमल होना चाहिये। भारत के संविधान-निर्माताओं में इस प्रकार की मनोवृत्ति का सर्वथा अभाव था। पर नमनीयता सदा गुण के ही रूप में नहीं होती। अतएव संविधान के कुछ भागों को अनमनीय होना चाहिये। श्री संतानम के मतानुकूल "संविधान हमारी स्वतंत्रता की हड्डियों के समान है और हड्डियों को नमनीय न हो कर अनमनीय होना चाहिये।" भारतीय संविधान के कुछ अंश इस प्रकार के भी हैं। उनमें संशोधन करने के लिए विशेष पद्धति का अनुसरण आवश्यक समझा गया है।

भारतीय संविधान के विविध अंग—जिन विधियों, नियमों, उपनियमों आदि के अनुसार किसी देश का शासन होता

है उन्हें सामूहिक रूप में उसका संविधान कहते हैं। भारतीय संविधान के निम्न-लिखित अंग उल्लेखनीय हैं—

(१) भारत का नया संविधान। इसे संविधान-सभा ने बनाया है और यह २६ जनवरी सन् १९५० से देश पर लागू कर दिया गया है।

(२) भारतीय शासन-संबंधी पूर्वकालीन ऐक्ट—नये संविधान के कार्यान्वित होने के कारण भारतीय शासन संबंधी अनेक पूर्वकालीन ऐक्ट रद्द हो गये हैं। फिर भी कुछ ऐसे ऐक्ट हैं जो अब तक प्रचलित हैं और जिनके अनुसार देश के शासन का संचालन हो रहा है। इस संबंध में हमें यह न विस्मरित करना चाहिये कि नवीन संविधान के अनुसार संगठित भारतीय संसद् प्रभुता-संपन्न है और संविधान के अंतर्गत् वह किसी भी पूर्वकालीन ऐक्ट को रद्द कर सकती, तथा नवीन ऐक्ट को बना सकती है।

(३) भारतीय संसद् द्वारा निर्मित ऐक्ट—भारतीय संसद् अपने प्रत्येक अधिवेशन में अनेक कानून (विधियाँ) स्वीकार करती है। देश के शासन में उनका महत्वपूर्ण स्थान होता है। वे भी भारतीय संविधान के अंग हैं।

(४) कार्यपालिका द्वारा जारी किये गये अध्यादेश—भारतीय कार्यपालिका के सर्वोच्च अधिकारियों को शीघ्र कार्य-संपादन के लिए अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। अपने कार्य-काल में वे भी भारतीय संविधान के अंग होते हैं।

(५) न्यायालयों के निर्णय—भारत का नया संविधान संघात्मक है। उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व कार्यपालिका के अतिरिक्त न्यायपालिका का है। उच्चतम न्यायालय को संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों की व्याख्या करके उनके वास्तविक अर्थ बतलाने का अधिकार है। उसका अर्थ सर्व-मान्य होता है। यदि संविधान

पर किसी प्रकार का अतिक्रमण होता है तो उच्चतम न्यायालय ऐसे कामों को असंवैधानिक ठहरा कर उन्हें रद्द कर देता है। न्यायालय के उक्त प्रकार के निर्णयों की गणना संविधान के अंगों में की जाती है।

(६) संविधान संबंधी प्रथाएँ—भारत के नये संविधान के संबंध में अभी तक अपनी ही प्रथाओं का अभाव है। फिर भी संविधान द्वारा जिस प्रकार के शासन की व्यवस्था की गयी है उसके संबंध में अन्य देशों में कुछ प्रथाएँ प्रचलित हैं। सन् १९३५ के भारतीय शासन संबंधी ऐक्ट के कुछ वाक्यांश ज्यों के त्यों नवीन संविधान में उतार लिये गये हैं। उनका प्रयोग, उन दिनों शब्दार्थ के अतिरिक्त एक निश्चित अर्थ में किया जाता था। नवीन संविधान में भी उनका वही अर्थ समझा जायगा। उदाहरण के लिए राष्ट्रपति और उनकी मंत्रि-परिषद् के संबंध का उल्लेख किया जा सकता है। "राष्ट्रपति को अपने कार्य-संपादन में मंत्रणा और सहायता देने के लिए, प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रि-परिषद् होगी।" इस भाषा का तात्पर्य अब तक यही समझा जाता था कि सर्वोच्च शासकीय अधिकारी अपने सब कामों को मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा के अनुसार करेगा। नये संविधान में भी इसका यही अर्थ होना चाहिये।

(७) संविधान में संशोधन—कोई भी संविधान सदा के लिए संतोषप्रद नहीं हो सकता। समयानुकूल उसमें संशोधन एवं परिवर्तन होते रहते हैं। इन संशोधनों की गणना संविधान के अंगों में की जाती है।

संविधान में संशोधन की व्यवस्था—नये संविधान में संशोधन करने के लिए दो प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं। पहली के

अनुसार संशोधनों को संसद् के दोनों सदनों में अलग-अलग कुल सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से स्वीकृत होना चाहिये। तत्पश्चात् वे राष्ट्रपति की अनुमति के लिए उनके समक्ष उपस्थित किये जायँगे और यदि राष्ट्रपति अपनी अनुमति दे देंगे तो संविधान में तदनुकूल परिवर्तन हो जायँगे। संविधान का अधिकांश इस प्रकार संशोधित किया जा सकता है। किंतु उसमें कुछ ऐसे अनुच्छेद भी निर्धारित किये गये हैं जिनके संशोधन के लिए उक्त व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ अन्य बातों की पूर्ति आवश्यक समझी गयी है। इन अनुच्छेदों का संबंध निम्नलिखित बातों से है—

(१) राष्ट्र-पति के चुनाव का आधार तथा ढंग।

(२) संघ-सरकार की कार्य-पालिका शक्ति।

(३) संघांतरित राज्यों की कार्य-पालिका शक्ति।

(४) पृष्ठ १५२ पर दी गयी तालिका के स-वर्ग के राज्यों में उच्च न्यायालय स्थापित या किसी मौजूदा न्यायालय को उच्च न्यायालय घोषित करनेवाले संसद् के अधिकार।

(५) संघीय न्यायपालिका का संगठन और अधिकार-क्षेत्र।

(६) उच्च न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र और संगठन।

(७) संघ और संघांतरित राज्यों का संबंध।

(८) संघीय, राज्य की और समवर्ती सूचियों के विषय।

(९) संघीय संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व।

(१०) संविधान में संशोधन की व्यवस्था।

इनके संबंध में संशोधन करने के लिए उपरिवर्णित व्यवस्था के अतिरिक्त यह भी आवश्यक समझा गया है कि पृष्ठ १५२ पर दी गयी तालिका के अ और ब वर्ग के राज्यों में से कम से कम आधे के विधान-मंडल उनके पक्ष में हों।

संक्रमण-कालीन व्यवस्था—नये संविधान के अनुसार समस्त सरकारी संस्थाओं का संगठन तुरंत ही नहीं किया जा सकता। निरंकुश नौकरशाही को उच्च कोटि के लोकतंत्र में बदलने का काम सरल नहीं है। अतएव नये संविधान के कार्यान्वित करने के लिए संक्रमण-कालीन व्यवस्था की गयी है। उसका विवरण संविधान के २१ वें भाग में दिया गया है। उसकी निम्न-लिखित बातें विशेषतया उल्लेखनीय हैं—

(१) संविधान के लागू होने की तिथि से पाँच बरस तक संघीय संसद्, सूती और ऊनी वस्त्रों, कच्ची रुई, बिनौले, कागज, खाद्य-पदार्थ, कोयले, लोहे, ईस्पात और अभ्रक का किसी राज्य के अंदर व्यापार और वाणिज्य तथा उनके उत्पादन और वितरण के संबंध में समवर्ती विषयों की भाँति विधि (कानून) बना सकेगी।

(२) संविधान के आरंभ से दस बरस की कालावधि या संसद् द्वारा निर्धारित अल्पतर या दीर्घतर कालावधि के भीतर, पृष्ठ १५२ पर दी गयी तालिका के ब वर्ग में उल्लिखित प्रत्येक संघांतरित राज्य की सरकार, राष्ट्रपति के नियंत्रण में रहेगी तथा उनके ऐसे विशिष्ट निर्देशों का अनुवर्त्तन करेगी जिसे वे समय-समय पर दें।

(३) संविधान द्वारा रद्द किये गये ऐक्टों के अतिरिक्त, संविधान के प्रारंभ में प्रवृत्त विधियाँ (कानून) तब तक प्रवृत्त बनी रहेंगी जब तक वे उपयुक्त विधान-मंडल या अधिकारी द्वारा बदली या संशोधित न की जायँ।

(४) संविधान के आरंभ से ठीक पहले संघीय न्यायालय के न्यायाधीश, यदि वे अन्यथा कुछ और निर्णय न कर चुके हों,

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश हो जायँगे और तत्पश्चात् संविधान के अंतर्गत निर्धारित वेतन, भत्ते, छुट्टी आदि के अधिकारी होंगे। यही व्यवस्था उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों, महालेखा परीक्षक (Auditor General) लोक-सेवा-आयोगों (Public Service Commissions) के सदस्यों के विषय में भी की गयी है।

(५) जब तक नये संविधान के अंतर्गत संसद् के दोनों सदन सम्यक् रूप से गठित न हो जायँ तब तक संविधान-सभा अंतःकालीन संसद् का काम करेगी। वह संविधान द्वारा प्रदत्त सब शक्तियों का प्रयोग तथा कर्तव्यों का पालन करेगी।

(६) जब तक संविधान द्वारा निर्धारित व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति का निर्वाचन न हो, तब तक संविधान-सभा द्वारा निर्वाचित व्यक्ति राष्ट्रपति की भाँति काम करेगा। यदि मृत्यु, पद-त्याग या हटाये जाने के कारण ऐसे राष्ट्रपति का स्थान रिक्त होगा, तो अंतःकालीन संसद् दूसरे राष्ट्रपति का निर्वाचन करेगी और जब तक ऐसा न हो, उच्चतम न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश, राष्ट्रपति की भाँति काम करेगा।

(७) जब तक नये संविधान के अंतर्गत संघांतरित राज्यों के विधान-मंडल अथवा सभाएँ सम्यक् रूप से गठित न हो जायँ, तब तक संविधान के आरंभ में मौजूदा प्रांतों के विधान-मंडल और सभाएँ संघांतरित राज्यों के विधान-मंडल और सभाओं की भाँति काम करेंगी। वे उन शक्तियों का प्रयोग तथा कर्तव्यों का पालन भी करेंगी जो उन्हें संविधान के अंतर्गत प्राप्त हैं।

संविधान की उपरिवर्णित व्यवस्था के कारण, नया संविधान २६ जनवरी सन् १६५० को कार्यान्वित किया गया है। अभी तक केवल राष्ट्रपति का ही निर्वाचन हुआ है। शेष सरकारी संगठन भारत के डोमोनियन संविधान का है। पर उनके अधिकारों, वेतन आदि में नये संविधान के अनुसार परिवर्तन हो गये हैं।

छठा परिच्छेद

मूल अधिकार और निदेशक तत्व

प्राक्कथन—भारतीय नागरिकता—मूल अधिकारों के सिद्धांत का उदय—भारत में मूल अधिकारों की मांग—समता का अधिकार—स्वतंत्रता का अधिकार—शोषण के विरुद्ध अधिकार—धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार—संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार—संपत्ति का अधिकार—संवैधानिक उपचारों का अधिकार—मूल अधिकार संबंधी अन्य बातें—राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व।

प्राक्कथन—नये संविधान में नागरिकों के मूल अधिकार तथा राज्य की नीति के निदेशक तत्वों का उल्लेख है। दोनों में महत्वपूर्ण अंतर है। मूल अधिकार नागरिकता के अनिवार्य अंग हैं। संविधान द्वारा उनकी गारंटी की गयी है। निर्धारित परिस्थितियों के अतिरिक्त राज्य भी उनका अपहरण नहीं कर सकता। प्रचलित विधियों (कानूनों) में जो उनसे असंगत हैं, संविधान के प्रारंभ के दिन से रद्द हो गयी हैं। उच्चतम न्यायालय को उनके संरक्षण का अधिकार दिया गया है। अतएव इन अधिकारों की रक्षा, तथा इन्हें किसी प्रकार के अतिक्रमण से बचाने की समुचित व्यवस्था कर दी गयी है। राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व इनसे सर्वथा भिन्न हैं। उनकी प्रकृति न्यूनाधिक उन आदेश-पत्रों की सी है जो भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अंतर्गत गवर्नर जनरल और गवर्नरों को दे दिये जाते थे। इन अधिकारियों से आशा की जाती थी कि वे उनके

अनुसार शासन करेंगे, किंतु यदि वे ऐसा न करते थे, तो आदेश-पत्रों के आधार पर उनके द्वारा किये गये काम असंवैधानिक न ठहराये जा सकते थे। न्यूनाधिक यही व्यवस्था नये संविधान द्वारा निर्धारित राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों के संबंध में की गयी है। वे ऐसे सिद्धांत हैं जिनके अनुसार शासन संचालन राज्य का कर्त्तव्य निर्धारित हुआ है। किंतु अनिवार्य रूप से उनके माने जाने की गारंटी नहीं की गयी है। यदि राज्य उनकी अवहेलना करे, तो संविधान के आधार पर उसके काम को गलत न ठहराया जा सकेगा।

भारतीय नागरिकता—मूल अधिकारों के उपभोग के लिए देश की नागरिकता का प्राप्त करना आवश्यक होता है। अतएव नये संविधान द्वारा निर्धारित नागरिकों के मूल अधिकारों की व्यवस्था के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उसके द्वारा की गयी भारतीय नागरिकता की व्यवस्था का कुछ ज्ञान हो जाय। संविधान में उन शर्तों का उल्लेख नहीं है जिनकी पूर्ति से नागरिकता प्राप्त और जिनके उल्लंघन से वह खोई जा सकती है। यह शक्ति संसद् को दी गयी है। अपनी विधियों द्वारा वह यह निश्चित करेगी कि कोई व्यक्ति किस प्रकार भारतीय नागरिकता प्राप्त तथा उसे खो सकेगा। इस प्रकार समस्त भारतीय संघ के लिए नागरिकता प्राप्त करने तथा उसे खोने के समान नियम होंगे। कुछ आलोचकों के मतानुकूल नागरिकता की यह व्यवस्था संविधान के केंद्रीकरण की ओर झुकाव की परिचायक है।

नये संविधान में केवल इस बात की व्यवस्था की गयी है कि उसके आरंभ के दिन कौन-कौन से व्यक्ति भारतीय नागरिक समझे जायँ। ऐसे व्यक्ति तीन वर्गों में विभाजित किये गये हैं—
(१) वे व्यक्ति भारत के नागरिक निर्धारित हुए हैं जिनका अधि-

वास संविधान के आरंभ के दिन भारत में था और जो या तो भारत में जन्मे थे, या जिनके जनकों में से दोनों या कोई एक भारत में जन्मा था, या जो नये संविधान के आरंभ के पूर्व पाँच बरस तक सामान्यतः भारत के निवासी थे। (२) वे व्यक्ति जो १९ जुलाई सन् १९४८ के पूर्व या पश्चात् पाकिस्तान के राज्य-क्षेत्र से भारत के राज्य-क्षेत्र में आये थे। पहले प्रकार के व्यक्ति संविधान के आरंभ के दिन दो शर्तों पर भारतीय नागरिक समझे गये हैं, पहली यदि वे स्वयं या उनके जनकों या महाजनकों (Grand Parents) में से कोई अखंड भारत में जन्मा हो और दूसरी यदि प्रव्रजन (Migration) के दिन से वे सामान्यतः भारत के राज्य-क्षेत्र में रहे हों। (३) पाकिस्तान से आये हुए दूसरे प्रकार के व्यक्ति भी दो शर्तों पर भारतीय नागरिक समझे गये हैं; पहली यदि वे स्वयं या उनके जनकों या महाजनकों में से कोई अखंड भारत में जन्मा हो और दूसरी यदि संविधान के पूर्व, वे निर्धारित अधिकारी द्वारा, बतौर भारतीय नागरिक रजिस्टर कर लिये गये हों। रजिस्टर होने के लिए छः महीने पूर्व भारत के राज्य-क्षेत्र में निवास आवश्यक समझा गया है। वे व्यक्ति जो भारत के राज्य-क्षेत्र को छोड़ कर पाकिस्तान के राज्य-क्षेत्र में चले गये हैं, भारतीय नागरिकता को खो बैठे हैं। पर जो वहाँ जाकर लौट आये हैं वे भारतीय नागरिकता उन्हीं शर्तों पर प्राप्त कर सके हैं जिन शर्तों पर १६ जुलाई सन् १९४८ के पश्चात् पाकिस्तान से आये हुए व्यक्ति। पाकिस्तान से लौटे हुए व्यक्तियों के संबंध में उक्त विस्तृत व्यवस्था इस कारण की गयी है कि स्वतंत्रता के पूर्व भारत एक ही देश था और पाकिस्तान राज्य-क्षेत्र के निवासी लाखों व्यक्ति भारतीय नागरिकता प्राप्त करने के इच्छुक थे। (४) विदेशों में रहने वाले भारतीय दो शर्तों पर भारतीय

नागरिक समझे गये हैं, पहली यदि वे स्वयं या उनके जनकों य महाजनकों में से कोई अखंड भारत में जन्मा हो और दूसरी यदि उन्होंने विदेशों में स्थित भारतीय प्रतिनिधियों के कार्यालय में, निर्धारित पद्धति के अनुसार, बतौर भारतीय नागरिक अपनी रजिस्ट्री करा ली हो।

विभिन्न देशों में नागरिकता-निर्धारण के तीन मुख्य सिद्धांतों का प्रचलन है। पहला सिद्धांत रक्त-वंशाधिकार (Jus Sanguinis) का सिद्धांत है। इसके अनुसार बच्चों की नागरिकता माता-पिता की नागरिकता द्वारा निर्धारित होती है। नागरिकता का संबंध जन्म-स्थान से न होकर केवल रक्त से होता है। दूसरा सिद्धांत भूमि सीमाधिकार (Jus Soli) का सिद्धांत है। इसके अनुसार नागरिकता जन्म-स्थान पर निर्भर करती है। तीसरा सिद्धांत इन दोनों सिद्धांतों का सम्मिश्रण है। यह इंगलैंड और संयुक्त-राज्य अमरीका में प्रचलित है। अपने नागरिकों के बच्चों की नागरिकता वे रक्त द्वारा निर्धारित करते हैं और विदेशियों के बच्चों की जन्म-स्थान द्वारा। नये संविधान द्वारा जिस सिद्धांत के अनुसार भारतीय नागरिकता दी गयी है, वह भी उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों का सम्मिश्रण है।

मूल अधिकारों के सिद्धांत का उदय—प्रायः सभी आधुनिक लोकतंत्रात्मक संविधानों में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख पाया जाता है। इन अधिकारों के सिद्धांत का उदय युरुप के अनियंत्रित राजतंत्र के युग में हुआ था। मध्यकाल में प्रधानतया सामंततंत्र का प्रचार था। विभिन्न सामंत परस्पर लड़ा करते थे और इस प्रकार जनता के जीवन में न तो स्थायित्व था और न स्थिरता। फलस्वरूप उसने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से राजाओं के अधिकारों की वृद्धि करके, सामंततंत्र के विरुद्ध राजतंत्र को सहायता

पहुँचायी। बदले में राजाओं ने भी शांति और व्यवस्था की स्थापना की। कालांतर में जनता को यह विदित होने लगा, कि उसने शांति और व्यवस्था के लिए अत्यधिक मूल्य चुकाया है। जनता के हित का ध्यान न करके राजा लोग अनियंत्रित रूप से अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगे। अपने अधिकारों की रक्षा के लिए उन्होंने राजाओं की ईश्वरीय उत्पत्ति के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। फल-स्वरूप जनता को अपने हित के लिए मूल अधिकारों के सिद्धांत का सहारा पकड़ना पड़ा। कालांतर में मूल अधिकारों का सिद्धांत परिमित शासनाधिकार के सिद्धांत में परिवर्तित हो गया। सरकार चाहे राजतंत्रात्मक हो या लोकतंत्रात्मक, उसके अधिकारों को असीमित न होना चाहिये। अतएव प्रायः सभी आधुनिक संविधानों में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख पाया जाता है।

भारत में मूल अधिकारों की माँग—भारत में अंगरेजों का शासन अपनी निरंकुशता में अद्वितीय था। जनता को न तो विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता थी, न सभा करने की और न शरीर की। राष्ट्र-भावना के उदय तथा पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के कारण, उक्त बंधन क्रमशः असह्य होते गये, यहाँ तक कि असहयोग आंदोलन के परिणाम-स्वरूप, जब जनता में निर्भीकता आयी, उसने प्रभावशाली ढंग से अपने मूल अधिकारों की माँग प्रस्तुत की। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट (सन् १९२८) में इनका सर्वप्रथम प्रामाणिक उल्लेख मिलता है। "हमारा सर्वप्रथम प्रयत्न मूल अधिकारों की ऐसी गारंटी के लिए होना चाहिये कि वे किसी भी परिस्थिति में वापस न लिये जा सकें।" कमेटी के मतानुकूल भारत के लिए ऐसे अधिकारों की आवश्यकता अन्य देशों की अपेक्षा अधिक थी। क्रमशः भारत के सभी वर्ग इन अधिकारों की

आवश्यकता पर जोर देने लगे। मजदूर-संघों ने आर्थिक अधिकारों की माँग उपस्थित की और स्त्रियों के संगठनों ने स्त्रियों और पुरुषों की समानता की। भारतीय कांग्रेस ने अपने सन् १६३२ के अधिवेशन में इस संबंध में महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया। भारतीय रियासती-प्रजा-सम्मेलन भी पीछे न रहा। रियासती प्रजा अपने नरेशों की निरंकुशता से उतनी ही व्यथित थी जितनी ब्रिटिश भारत की प्रजा अपने ब्रिटिश शासकों से। अतएव अपने ज्ञापन (Memorandum) में उसने मूल अधिकारों की घोषणा को अनिवार्य बतला कर, उनके भारत के संघ-संविधान में सम्मिलित करने पर जोर दिया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस प्रकार की घोषणा के विरोधी थे। "जब तक उन्हें कार्यान्वित करने की इच्छा तथा साधन न हों, इस प्रकार की सैद्धांतिक घोषणाएँ निरर्थक सिद्ध होती हैं।" भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के ऐक्ट के प्रारूप पर विचार करते समय, संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी में, सर तेज बहादुर सप्रू ने, ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के उक्त मत का खंडन इस प्रकार किया था—"भारत की अनोखी परिस्थिति में, विशेषतया, अल्प-संख्यकों और दलित जातियों में रक्षा की भावना उत्पन्न करने के लिए, यह आवश्यक था कि मूल अधिकारों के संबंध में पुरातनवादी ब्रिटिश कानूनी दृष्टिकोण पर विशेष जोर न दिया जाय और उनमें से कुछ नये ऐक्ट में सम्मिलित भी कर लिये जायँ।" सन् १९४४ में प्रस्तुत किये गये अपने संवैधानिक सुझावों में भी उन्होंने इसी आशय के विचार प्रगट किये थे। मूल अधिकारों की उक्त ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि में यह अनिवार्य था कि भारत के नये संविधान में वे सम्मिलित किये जाते। अतएव नये संविधान में उनकी यथेष्ट व्यवस्था की गयी है। संसार के अन्य संविधानों में इन अधिकारों का उल्लेख अति सूक्ष्म

भाषा में पाया जाता है। किंतु भारतीय संविधान में वे अधिक ब्यौरेवार दिये गये हैं। अतएव उनके संबंध में भ्रांतक विचारों के फैलने की आशंका है। कुछ आलोचकों के मतानुकूल वे इतने दृढ़ नहीं हैं कि जनता की शासकों की धाँधली से पूर्णरूपेण रक्षा हो सके।

समता का अधिकार—नये संविधान में, मूल अधिकारों के संबंध में सर्वप्रथम समता के अधिकार का उल्लेख है। निर्धारित परिस्थितियों के अतिरिक्त, केवल[1] धर्म, मूलवंश (Race), जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर राज्य द्वारा किसी नागरिक के विरुद्ध किसी प्रकार का भेदभाव न किया जायगा। उक्त बातों के आधार पर दूकानों या सार्वजनिक होटलों या मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश या राज्यद्वारा पोषित अथवा सर्वसाधारण के लिए समर्पित कुँओं, तालाबों, सड़कों आदि के उपयोग के संबंध में भी किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाया जायगा। इसी अधिकार के अंतर्गत अस्पृश्यता और सेना और विद्या-संबंधी उपाधियों के अतिरिक्त, अन्य उपाधियों का अन्त कर दिया गया है। भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता। वे व्यक्ति भी, जो भारतीय नागरिक नहीं हैं, पर भारतीय राज्य के अधीन किसी लाभ या विश्वास के पद पर हैं, राष्ट्रपति (President) की सम्मति के बिना, विदेशी राज्यों से कोई उपाधि नहीं ले सकते।

---

१. 'केवल' शब्द का प्रयोग जान बूझकर किया गया है। इसका अर्थ यह निकलता है कि इन बातों के अतिरिक्त, अन्य आधारों पर, राज्य को नागरिकों के साथ भेदभावपूर्ण बर्ताव करने का अधिकार है। इसके कारण समता का अधिकार निरर्थक हो सकता है।

समता के उक्त अधिकार के कई अपवाद हैं। इसके होते हुए भी राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष व्यवस्था करने का अधिकार है। "इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष उपबंध बनाने में बाधा न होगी।" इसी प्रकार समता के अधिकार के होते हुए भी राज्य ने पिछड़ी जातियों की नियुक्ति के कुछ अपवादपूर्ण अधिकार अपने अधीन रखे हैं। "इस अनुच्छेद की किसी बात से, राज्य को पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिए उपबंध करने में कोई बाधा न पड़ेगी।" संविधान सभा के कुछ सदस्य उक्त अपवाद के विरोधी थे। पर अंत में वह स्वीकृत हो गया। राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से ये अपवाद अनुचित नहीं प्रतीत होते। भारत की मौजूदा परिस्थिति में उनके बिना न तो स्त्रियों और बालकों की उन्नति हो सकती है और न दलित जातियों की।

स्वतंत्रता का अधिकार— दूसरे मूल अधिकार का संबंध स्वतंत्रता से है। सब नागरिकों को वाक् और अभिव्यक्ति, शांतिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन, संस्था और संघ-निर्माण, भारत के राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र बिना रोकटोक आने-जाने तथा निवास करने, धन कमाने, रखने और खर्च करने, तथा रोजगार, व्यापार और कारबार करने की स्वतंत्रता का अधिकार है। कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए तब तक दोषी न ठहराया जायगा, जब तक अपराध करते समय उसने किसी प्रचलित कानून को न तोड़ा हो और न उसे उस समय के निर्धारित दंड से अधिक दंड दिया जायगा। किसी व्यक्ति को एक अपराध के लिए एक बार से अधिक दंड न दिया जायगा और न उसे अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए

बाध्य किया जायगा। कोई व्यक्ति कानून द्वारा निर्धारित तरीके के अतिरिक्त प्राण अथवा शारीरिक स्वाधीनता से वंचित न किया जायगा। पकड़े गये व्यक्ति २४ घंटे के भीतर निकटतम मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित किये जायँगे और उसके आदेशानुकूल ही निर्धारित समय से अधिक समय तक हवालात में रखे जायँगे। समय की गणना में वह समय न गिना जायगा जो बंदीकरण के स्थान से मजिस्ट्रेट के न्यायालय तक आने में लगा हो।

समता के अधिकार की भाँति स्वतंत्रता के अधिकार के भी कई अपवाद हैं। स्वतंत्रता के अधिकार का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिये कि सार्वजनिक शांति और व्यवस्था पर किसी प्रकार का कुप्रभाव न पड़े। वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार के कारण, अपमानसूचक शब्द तथा लेख का प्रयोग न होना चाहिये और न राजद्रोह अथवा शिष्टता या सदाचार विरोधी या राज्य की सत्ता को मिटाने तथा उसकी नीव उखाड़ने वाले प्रयत्नों का। अतएव स्वतंत्रता के अधिकार के होते हुए भी राज्य की उस शक्ति में कोई रुकावट नहीं है जिसके कारण वह "अपमान-लेख, अपमान-वचन, मान-हानि, न्यायालय-अवमान (Contempt of Court) अथवा शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले किसी विषय" की विधि बना सकता है। इसी प्रकार बंदी किये गये व्यक्तियों को मैजिस्ट्रेट के सम्मुख उपस्थित करने के संबंध में भी कुछ अपवाद हैं। उपरिवर्णित व्यवस्था उन व्यक्तियों पर लागू न होगी, जो बंदीकरण के समय विदेशी शत्रु हों या जो "व्यक्ति-निवारक-निरोध उपबंधित करने वाली किसी विधि के अधीन बंदी या निरुद्ध किये गये हों।" निवारक-निरोध की निरुद्धि तीन महीने से अधिक की न होगी किंतु किसी बोर्ड

की सहमति से, जिसके सदस्य उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के समकक्ष हों, यह अवधि तीन माह से भी अधिक हो सकती है।

स्वतंत्रता के अधिकार के उक्त अपवादों की कड़ी आलोचना हुई है। संविधान-सभा में ही कुछ सदस्यों ने विरोधात्मक विचार प्रगट किये थे। सेठ दामोदर स्वरूप के मतानुकूल स्वातंत्र्य अधिकार के अनुच्छेद के "एक भाग में जो अधिकार दिये गये हैं वे दूसरे भाग में छीन लिये गये हैं।" सरदार हुकुम सिंह के विचार में "जितनी कुछ स्वाधीनता इस अनुच्छेद द्वारा जनता को दी गयी है वह अपवाद संबंधी वाक्यांशों से छीन ली गयी है।" आलोचकों के मतानुकूल मूल अधिकारों को ऐसा होना चाहिये कि उन पर कार्यपालिका अथवा विधान-मंडल का कुप्रभाव न पड़े। उनकी रक्षा का भार न्यायपालिका पर होना चाहिये। भारत के नये संविधान की व्यवस्था इससे भिन्न है। अपवाद इतने अस्पष्ट तथा व्यापक हैं कि कार्यपालिका शक्ति जब चाहे, उन्हें प्रभावशून्य बना सकती है।

इस आलोचना में सत्य का अंश अवश्य है, किंतु उतना नहीं जितना प्रयुक्त भाषा से प्रगट होता है। मनुष्य के अधिकारों में एक भी ऐसा नहीं है जिसका दुरुपयोग न हो सके। अन्य अधिकारों की अपेक्षा स्वातंत्र्य अधिकार के दुरुपयोग की आशंका अधिक होती है। अतएव यह आवश्यक है कि उसके दुरुपयोग के संबंध में आवश्यक प्रतिबंध हों। भारत के नये संविधान की व्यवस्था इसी प्रकार की है। पर उसके द्वारा लगाये गये प्रतिबंध इतने अस्पष्ट तथा व्यापक हैं कि सरकार द्वारा उनके दुरुपयोग के कारण, जनता के स्वातंत्र्य-अधिकार पर अतिक्रमण की आशंका सर्वथा निराधार नहीं है।

शोषण के विरुद्ध अधिकार—अंगरेजी शासन-काल में ब्रिटिश भारत के कुछ भागों में बेगार की प्रथा प्रचलित थी। भारतीय रियासतों में उसका प्रचलन ब्रिटिश भारत की अपेक्षा अधिक था। कहीं-कहीं राजकुमारियों के विवाह में दासियाँ भी दहेज की भाँति दी जाती थीं। श्रम-जीवियों से आवश्यकता से अधिक काम लिया जाता था। कभी कभी सुकुमार बच्चों तथा स्त्रियों से इस प्रकार का काम लिया जाता था कि उनका स्वास्थ्य सदा के लिए बिगड़ जाता था।

नये संविधान द्वारा नागरिकों को शोषण के विरुद्ध रक्षा का अधिकार प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद द्वारा "मानव का पण्य और बेट-बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य जबरदस्ती लिया गया श्रम प्रतिषिद्ध" कर दिया गया है। "इस उपबंध का कोई भी उल्लंघन अपराध होगा जो विधि के अनुसार दंडनीय होगा।" "चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी कारखाने अथवा खान में नौकर न रखा जायगा और न किसी दूसरी संकटमय नौकरी में लगाया जायगा।" संविधान द्वारा प्रदत्त इस मूल अधिकार के कारण भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन का कई बुराइयों की इतिश्री हो गयी है। पर इसका भी एक अपवाद है। राज्य को सार्वजनिक प्रयोजन के लिए बाध्य सेवा लगाने का अधिकार प्राप्त है। पर इस संबंध में, केवल धर्म, मूलवंश, जाति या वर्ग या इनमें से किसी के आधार पर, वह नागरिकों के साथ विभेद न करेगा।

धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार—सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य की रक्षा के अंतर्गत, सब नागरिकों का निर्बाध रूप से अपना धर्म मानने, उस पर आचरण तथा उसको

प्रचार करने का समान अधिकार दिया गया है। इसी शर्त पर प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय को धार्मिक और दातव्य संस्थाओं की स्थापना और पोषण, धार्मिक कार्यों संबंधी विषयों के प्रबंध, जंगम और स्थावर संपत्ति की प्राप्ति और स्वामित्व तथा ऐसी संपत्ति के कानून के अनुसार प्रबंध का अधिकार दिया गया है। यह भी व्यवस्था की गयी है कि किसी व्यक्ति को जबरदस्ती ऐसे कर न देने पड़ें, जिनकी आय किसी धर्म विशेष या धार्मिक संप्रदाय की उन्नति या पोषण के लिए विनियुक्त कर दी गयी हो। सरकार द्वारा पोषित किसी शिक्षण-संस्था में धार्मिक शिक्षा न दी जायगी। पर यदि कोई संस्था ऐसे दान या न्यास द्वारा स्थापित की गयी है जिसके अनुसार उसमें धार्मिक शिक्षा का देना आवश्यक हो, तो सरकार द्वारा प्रशासित होने पर भी, उसमें धार्मिक शिक्षा पर प्रतिबंध न लगाया जायगा। राज्य द्वारा अभिज्ञात (Recognized) अथवा सहायता प्राप्त किसी शिक्षण-संस्था में विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाध्य न किया जायगा।

नये संविधान द्वारा प्रदत्त धर्म-स्वातंत्र्य का उक्त अधिकार भी अनियंत्रित नहीं है। नागरिकों को इस अधिकार का उपभोग इस प्रकार करना चाहिये कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य-रक्षा पर किसी प्रकार का कुप्रभाव न पड़े। अन्यथा राज्य संविधान की अन्य धाराओं के अंतर्गत उनके विरुद्ध आवश्यक कार्रवाई करेगा। राज्य को धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं के विनियमन और निर्बंधन का अधिकार है। वह किसी ऐसी विधि को भी बना सकेगा जो सामाजिक कल्याण और सुधार उपबंधित करती हो अथवा हिंदुओं की सार्वजनिक प्रकार की

धर्म-संस्थाओं को हिंदुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोलती हो। संविधान की यह व्यवस्था परिगणित जातियों और आदिवासियों के लिए इस उद्देश्य से की गयी है कि उन्हें हिंदू-समाज में समान धार्मिक अधिकार प्राप्त हों।

शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के संबंध में संविधान-सभा मतैक्य का अभाव था। उसके कुछ सदस्य धार्मिक शिक्षा के विरोधी थे और कुछ उसके पक्षपाती। विरोधी पक्ष वाले चाहते थे कि धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था किसी प्रकार को शिक्षण-संस्था में न हो। उनके मतानुकूल, राज्य द्वारा संचालित अथवा राज्य की सहायता प्राप्त संस्थाओं की तो कौन कहे, धार्मिक संस्थाओं में भी धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। दूसरे पक्ष वाले चाहते थे कि शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था हो, पर कोई भी व्यक्ति उसे प्राप्त करने के लिए बाध्य न किया जाय। संविधान-सभा ने इन दृष्टिकोणों पर विचार के पश्चात्, मध्यवर्ती मार्ग को ग्रहण किया और संविधान में उस व्यवस्था को स्थान दिया जिसका सारांश ऊपर दिया गया है।

संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार—नये संविधान द्वारा नागरिकों को अपनी संस्कृति तथा शिक्षा का अधिकार दिया गया है। "भारत के राज्य-क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति हो, उसे बनाये रखने का अधिकार है।" केवल धर्म, मूल वंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई भी नागरिक राज्य द्वारा पूर्णतया या आंशिक रूप में पोषित किसी शिक्षण-संस्था में प्रवेश पाने के अधिकार से वंचित न किया जायगा। धर्म या भाषा पर आधारित अल्प-संख्यकों को अपनी रुचि की शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना और

प्रबंध का अधिकार है। शिक्षण-संस्थाओं को सहायता देते समय राज्य उनमें से किसी के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्प-संख्यक वर्ग के प्रबंध में है।

इस व्यवस्था का संबंध प्रधानतया अल्प-संख्यकों से है। जब संविधान-सभा में उस पर विचार हो रहा था, अल्प-संख्यकों के प्रतिनिधियों ने उसके संबंध में अपने मत को बड़े प्रभावशाली ढङ्ग से प्रगट किया था। श्री जेड० एच० लारी के मतानुकूल राज्य को अल्प-संख्यक वर्गों को भाषा, लिपि और संस्कृति की केवल स्वधीनता ही न देनी चाहिये वरन् उनकी रक्षा की भी व्यवस्था करनी चाहिये। काजी कमरुद्दीन ने ऐसे अल्प-संख्यकों के बालकों के लिए, जिनको अपनी भाषा और लिपि है, राज्य द्वारा उनकी भाषा और लिपि में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था पर जोर दिया था। संविधान-सभा ने इन तर्कों पर विचार करने के पश्चात वह व्यवस्था निश्चित को जिसका सारांश ऊपर दिया गया है। देखने से ही स्पष्ट है कि यह व्यवस्था एक समझौते के समान है। राज्य ने अल्प-संख्यकों को उनकी भाषा और लिपि में शिक्षा देना तो स्वीकार नहीं किया, पर यदि वे स्वयं इस प्रकार के प्रयत्न करें, तो राज्य उन्हें आर्थिक सहायता देते समय अल्प-संख्यक होने के नाते, किसी प्रकार का विभेद न करेगा।

संपत्ति का अधिकार—नये संविधान द्वारा नागरिकों को अपनी सपत्ति का अधिकार दिया गया है। उसकी यह व्यवस्था न तो पूर्णरूपेण व्यष्टिवादी है और न पूर्णरूपेण समाजवादी। व्यष्टिवादी संपत्ति के अधिकार को पुनीत समझते हैं। वे उस पर किसी प्रकार के आघात को सहन नहीं करते। समाजवादी निजी संपत्ति के विरोधी हैं। वे प्रतिकर दिये बिना निजी संपत्ति का

समाजीकरण करना चाहते हैं। संविधान-सभा ने इन दोनों के मध्यमवर्ती मार्ग को अपनाया। उसके निर्णय में निजी संपत्ति का अधिकार पुनीत समझा गया है पर प्रतिकर देकर वह समाज के कल्याण के लिए, छीनी भी जा सकती है। संविधान द्वारा निर्धारित संपत्ति के अधिकार की व्यवस्था इस प्रकार है—

कोई भी व्यक्ति कानूनी आधार के बिना अपनी संपत्ति से वंचित न किया जायगा। कोई भी जंगम या स्थापर संपत्ति, (जिसमें ऐसे स्वत्व भी सम्मिलित हैं जो किसी व्यापारिक या औद्योगिक कार्य अथवा उस पर स्वामित्व रखने वाली किसी कंपनी से संबद्ध हों) सार्वजनिक प्रयोजन के लिए, किसी विधि के अंतर्गत् तब तक अधिकृत न की जायगी जब तक उस विधि के द्वारा अधिकृत संपत्ति के प्रतिकर की रकम या उसके निर्धारण के सिद्धांत, निर्धारित न कर दिये गये हों। उक्त विधि यदि किसी संघांतरित राज्य के विधान-मंडल द्वारा बनायी गयी है, तो वह तब तक लागू न होगी जब तक उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किये जाने के पश्चात, उनकी अनुमति न मिल गयी हो। यदि, संविधान के आरंभ होने के पूर्व, कोई प्रस्ताव किसी राज्य के विधान-मंडल के विचाराधीन है, या अट्ठारह महीने पहले स्वीकृत हो चुका है, तो राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात, उसके संबंध में, प्रतिकर के विरुद्ध होने के कारण, किसी न्यायालय में प्रश्न न उठाया जा सकेगा।

भारत का समाजवादी दल संपत्ति के अधिकार की इस व्यवस्था से संतुष्ट नहीं है। सैद्धांतिक मतभेद के अतिरिक्त वह प्रतिकर के संबंध में न्यायालय के अधिकार की आलोचना करता है। "यह बात समझ में नहीं आ सकती कि अगर कांग्रेस की कुछ योजनाओं के संबंध में न्यायालय में मुआवजे के प्रश्न पर

बहस अनुचित है, तो आगे चल कर दूसरी योजनाओं के संबंध में इस प्रश्न पर न्यायालय में बहस क्यों ठीक समझी गयी है।"[1] कारण स्पष्ट है। संविधान के आरंभ होने के पूर्व कई संघांतरित राज्यों के विधान-मंडल जिमींदारी उन्मूलन प्रस्तावों पर विचार कर रहे हैं। संविधान की उक्त व्यवस्था द्वारा इस बात का प्रयत्न किया गया है कि उनके द्वारा निर्धारित प्रतिकर के नियमों को न्यायालय असंवैधानिक न ठहरा सकें।

संवैधानिक उपचारों का अधिकार—नागरिकों के उक्त मूल अधिकारों की संविधान द्वारा गारंटी की गयी है। संविधानांतर्गत व्यवस्था के अतिरिक्त वे निलंबित नहीं किये जा सकते। यदि राष्ट्रपति संकट-काल की घोषणा करें और तत्पश्चात दूसरी घोषणा से मूल अधिकारों को निलंबित करें, तभी वे निलंबित हो सकते हैं। यदि सरकारी अधिकारी या कोई अन्य व्यक्ति उनका उल्लंघन करेगा, तो उच्चतम न्यायालय में उसके विरुद्ध कारवाई की जा सकेगी। उच्चतम न्यायालय को उनकी रक्षा का अधिकार है। वह आदेश (Direction), निदेश (Order) या लेख (Writ) जारी करके उनको रक्षा करता है। संसद के आदेशानुसार उच्चतम न्यायालय के अंतर्गत अन्य न्यायालय भी, इस प्रकार के अधिकार का उपभोग कर सकते हैं।

मूल अधिकार संबंधी कुछ अन्य बातें—उपरिवर्णित बातों के अतिरिक्त, मूल अधिकारों के संबंध की निम्नलिखित बातें भी उल्लेखनीय हैं—

(१) यदि किसी क्षेत्र में सैनिक कानून (Martial Law) जारी

---

१. प्रो० मुकुट बिहारी लाल—भारतीय संविधान की समीक्षा, पृष्ठ १०

किया जायगा, तो सैनिक कानून के काल के लिए मूल अधिकार निलंबित रहेंगे।

(२) सेना में कड़े अनुशासन की आवश्यकता के कारण, संसद को सेना के संबंध में इन अधिकारों को संकुचित या समाप्त करने का अधिकार प्राप्त है।

(३) मूल अधिकारों के निलंबित करने की व्यवस्था ऐसी है, कि असाधारण परिस्थितियों में संघात्मक संविधान सुगमता से एकात्मक में परिवर्तित किया जा सके।

(४) मूल अधिकारों की सूची इतनी पर्याप्त नहीं है कि उसमें सब अधिकार आ गये हों। कांग्रेस द्वारा स्वीकृत मूल अधिकारों में से शस्त्र रखने और धारण करने का अधिकार तथा प्राण-दंड मिटाने की व्यवस्था नये संविधान में नहीं की गयी है। अन्य न्यूनताएँ निम्नलिखित हैं—(१) काम करने का अधिकार; (२) विश्राम का अधिकार; (३) प्रेस की स्वतंत्रता का अधिकार (४) वृद्ध अथवा रोग-ग्रस्त लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार, जीवित रहने का अधिकार इत्यादि।

राज्य की नीति के निदेशक तत्व—नागरिकों को मूल अधिकारों के अतिरिक्त, नये संविधान में राज्य की नीति के कुछ निदेशक तत्त्व भी सम्मिलित किये गये हैं। संविधान-सभा में उनके ऊपर बड़ी बहस हुई थी। आलोचकों के मतानुकूल वे "अत्यंत अस्पष्ट और अनिश्चित हैं।" "संविधान द्वारा यह गारंटी नहीं की गयी है, कि उन पर किसी प्रकार का अतिक्रमण न होगा।" उनके पीछे किसी प्रकार का कानूनी बल नहीं है। वे केवल आदर्श मात्र हैं जिन्हें कार्यान्वित करने का अवसर संभवतः राज्य को न मिलेगा। निदेशक तत्वों के प्रतिपोषकों के विचार

इनसे भिन्न थे। वे उन्हें भारतीय जीवन के उत्थान के लिए आवश्यक समझते थे। पं० जवाहरलाल नेहरू के मतानुकूल, स्पष्ट शब्दावली के प्रयोग के बिना भारतीय संविधान में आर्थिक लोकतंत्र, राजनीतिक लोकतंत्र तथा समाजवादी समाज की व्यवस्था की गयी है। संभवतः निदेशक तत्त्वों के द्वारा ही इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकी है। डा० अंबेडकर कानूनी आधार के बिना भी निदेशक तत्त्वों को आवश्यक समझते थे। "मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि निदेशक तत्त्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है परंतु मैं यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हूँ कि उनके पीछे किसी प्रकार का बंधन भी नहीं है।" वे सन् १९३५ के भारतीय शासन संबंधी ऐक्ट के आदेश-पत्रों के समान हैं। अंतर केवल इतना ही है कि ये केवल कार्यपालिका के लिए नहीं वरन् कार्यपालिका और विधान-मंडल दोनों के लिए आदेश हैं। संविधान द्वारा निर्धारित मुख्य निदेशक तत्व निम्नलिखित हैं—

(१) राज्य यथाशक्ति लोक-कल्याण के लिए ऐसी सामाजिक व्यवस्था का प्रयास करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे।

(२) राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा संचालन करेगा कि—

(क) "समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो;

(ख) समुदाय की भौतिक संपत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बँटा हो कि उससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो;

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि उससे धन और

उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकर केंद्रण न हो ;

(घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो।

(ङ) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े, जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो।

(च) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।

(३) राज्य ग्राम-पंचायतों का संगठन करने के लिए तैयार रहेगा और उन्हें ऐसी शक्तियाँ और अधिकार देगा जो उन्हें स्थानीय स्वशासन की सफल इकाई बनाने के लिए आवश्यक हों।

(४) "राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने का, शिक्षा पाने के तथा बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहानि तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का कार्यसाधक उपबंध करेगा।"

(५) "राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए उपबंध करेगा।"

(६) "उपयुक्त विधान या आर्थिक संघटन द्वारा अथवा और किसी दूसरे प्रकार से राज्य कृषि के उद्योग के या अन्य प्रकार के सब श्रमिकों को काम, निर्वाह-मजूरी, शिष्ट

जीवन-तर तथा अवकाश का संपूर्ण उपभोग सुनिश्चित करनेवाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा तथा विशेषरूप से ग्रामों में कुटीर-उद्योगों को वैयक्तिक तथा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।"

(७) "भारत के समस्त राज्य-क्षेत्र में नागरिकों के लिए राज्य एक समान व्यवहार-संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा।"

(८) "राज्य इस संविधान के प्रारंभ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबंध कराने का प्रयास करेगा।"

(९) "राज्य जनता के दुर्बलतर विभागों की विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों की शिक्षा तथा अर्थ-संबंधी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषणों से उनका संरक्षण करेगा।"

(१०) "राज्य अपने लोगों के आहार-पुष्टि-तल (Level of nutrition) और जीवन-स्तर को ऊँचा करने तथा लोक-स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में से मानेगा तथा विशेषतया स्वास्थ्य के लिए हानिकर मादक पेयों और औषधियों के औषधीय प्रयोजनों से अतिरिक्त उपभोग का प्रतिबंध करने का प्रयास करेगा।"

(११) "राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संघटित करने का प्रयास करेगा तथा विशेष-तया गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरों

की नस्ल के परि-रक्षण और सुधारने के लिए तथा उनके वध का प्रतिषेध करने के लिए अग्रसर होगा।"

(१२) "संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व वाले घोषित कलात्मक या ऐतिहासिक अभिरुचिवाले प्रत्येक स्मारक या स्थान या चीज का यथास्थित लुंठन, विरुपन, विनाश, अपनयन, व्ययन अथवा विपत्ति से रक्षा करना राज्य का आभार होगा।"

(१३) "राज्य की लोक-सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए, राज्य अग्रसर होगा।"

(१४) "राज्य—

(क) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा का,

(ख) राष्ट्रों के बीच न्याय और सभ्यतापूर्ण संबंधों को बनाये रखने का,

(ग) संघटित लोगों के एक दूसरे से व्यवहारों में अंतर्राष्ट्रीय विधि और संधि संबंधों के प्रति आदर बढ़ाने का,

(घ) अंतर्राष्ट्रीय विवादों के मध्यस्थता द्वारा निबटाने के लिए प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगा।"

राज्य की नीति के उक्त निदेशक तत्त्वों में उन सब कामों का उल्लेख है जिनका किया जाना भारतीय जीवन को उन्नत बनाने के लिए आवश्यक है। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनकी गणना नागरिकों के मूल अधिकारों में होनी चाहिये। परंतु किस सीमा तक वे कार्यरूप में परिणत होंगे, यह बतलाना इस समय संभव नहीं। निदेशक तत्त्वों के पीछे किसी प्रकार का कानूनी बल नहीं है पर नैतिक बंधन अवश्य है।

———

सातवाँ परिच्छेद

भारतीय संघ

कार्य-विभाजन और वित्तीय व्यवस्था

भारतीय संघ और उसका राज्य-क्षेत्र—संघ और संघांतरित राज्यों में विधायिनी शक्ति का विभाजन—संघ-सूची—राज्य-सूची—समवर्ती सूची—अवशिष्ट विषय—विधायिनी शक्ति के विभाजन की आलोचना—संघ और राज्यों में कार्यपालिका संबंध—संघ और संघांतरित राज्यों में वित्तीय संबंध—संघ की आय—संघांतरित राज्यों की आय—वित्त आयोग—संपूर्ण वित्तीय व्यवस्था पर दृष्टिपात।

भारतीय संघ और उसका राज्य-क्षेत्र—अंगरेजी शासन-काल में भारत के कुछ प्रदेशों को प्रांत और कुछ को रियासतें कहा जाता था। इनका शासन-संगठन विभिन्न प्रकार का था। नये संविधान में इन सबका नाम बदलकर राज्य कर दिया गया है। इनकी सूची पृष्ठ १५२ पर दी गयी है। भारत इन्हीं राज्यों का तथा जो राज्य भविष्य में अर्जित किये जायँ, उनका संघ है। संसद् को, विधि द्वारा, नये राज्यों को प्रविष्ट करने तथा स्थापना का अधिकार है। वह किसी राज्य से उसका प्रदेश अलग करके, अथवा दो या अधिक राज्यों या राज्यों के भागों को मिलाकर नया राज्य बना सकती है, किसी राज्य का राज्य-क्षेत्र बढ़ा या घटा सकती है अथवा किसी राज्य की सीमाओं और नाम को बदल सकती है। परंतु इस काम के लिए कोई भी विधेयक

राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना संसद के किसी सदन में पेश न किया जायगा। यदि विधेयक द्वारा अ और ब वर्ग के राज्यों की सीमा में परिवर्तन होता हो, तो राष्ट्रपति संबद्ध राज्यों के विधान-मंडलों के मत को निश्चित रूप से जानने के पश्चात् ही अपनी सिफारिश करेंगे। सीमा के उक्त परिवर्तन संविधान में संशोधन न समझे जायँगे। अतएव वे केवल बहुमत के आधार पर ही कर दिये जायँगे। किस प्रकार से संघांतरित राज्य, संघ से अलग हो सकते हैं, संविधान में इसका उल्लेख नहीं है। चूँकि संविधान भारत के निवासियों द्वारा स्वीकृत हुआ है, अतएव उसके किसी अंग को अलग होने की आज्ञा देने का अधिकार भारत के निवासियों को ही है, किसी अन्य संस्था या अधिकारी को नहीं।

संघ और संघांतरित राज्यों में विधायिनी शक्ति का विभाजन—प्रत्येक संघ-राज्य की एक विशेषता यह होती है कि उसमें संविधान द्वारा ही संघ और संघांतरित राज्यों में कार्य-विभाजन कर दिया जाता है। इस संबंध में दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं, पहली संयुक्त-राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया की और दूसरी कैनाडा की। पहली के अनुसार संघ का कार्य-क्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है और अवशिष्ट विषय संघांतरित राज्यों को छोड़ दिये जाते हैं। दूसरी के अनुसार संघांतरित राज्यों का कार्य-क्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है और अवशिष्ट विषय संघ के अधीन कर दिये जाते हैं। भारतीय संविधान में कार्य-विभाजन का ढंग कैनाडा का सा है। केंद्रीकरण की ओर उसका झुकाव संभवतः कैनाडा से भी अधिक है। तीन सूचियाँ बनायी गयी हैं। पहली का नाम संघ-सूची है दूसरी का राज्य-सूची और तीसरी का समवर्ती सूची।

संघ-सूची—संघ-सूची में वे विषय हैं जिनमें समस्त भारत की एक ही नीति का होना आवश्यक समझा गया है। देश के विभाजन के पूर्व इस सूची में केवल तीन विषय, पर-राष्ट्र संबंध, रक्षा और यातायात के साधन, रखे गये थे। उन दिनों भारत के सम्मुख एक दुर्बल संघ का आदर्श था। किंतु विभाजन के पश्चात् भारत में एक सबल और सुदृढ़ संघ स्थापित किया गया है। फलस्वरूप संघ-सूची में ९७ विषय सम्मिलित किये गये हैं। इनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—(१) भारत तथा उसके प्रत्येक भाग की रक्षा; (२) नौ, स्थल और विमान-बल, तथा संघ का कोई अन्य सशस्त्र बल; (३) कटक क्षेत्रों (Cantonment Areas) का परिसीमन और उनमें स्थानीय स्वायत्त शासन; (४) नौ, स्थल और विमान बल की कर्म-शालाएँ; (५) शस्त्रास्त्र, अग्न्यस्त्र, युद्धोपकरण और विस्फोटक; (६) अणुशक्ति, (७) केंद्रीय गुप्त वार्ता और अनुसंधान-विभाग; (८) विदेशीय कार्य; (९) राज-नायिक, वाणिज्य-दूतिक तथा व्यापारिक प्रतिनिधित्व; (१०) संयुक्त-राष्ट्र-संघटन; (११) युद्ध और शांति, (१२) विदेशीय क्षेत्राधिकार; (१३) नागरिकता, (१४) प्रत्यर्पण (Extradition) (१५) भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थ-यात्राएँ; (१६) रेल, (१७) प्रकाश-स्तंभ; (१८) संसद् द्वारा घोषित महापत्तन (Major Ports); (१९) पत्तन-निरोधा (Port Quarantine), (२०) वायु-पथ, (२१) डाक, तार, दूर-भाष (Telephone), बेतार प्रसारण और अन्य समरूप संचार, (२२) संघ का लोक-ऋण, (२३) विदेशी ऋण; (२४) रिजर्व बैंक, (२५) डाकघर बचत बैंक, (२६) भारत-सरकार या किसी राज्य की सरकार द्वारा संघटित लाटरी, (२७) अंतर्राज्यिक व्यापार और वाणिज्य, (२८) महाजनी (Banking), (२९) विनिमय-पत्र, चेक,

पत्र आदि; (३०) बाँटों और मापों का मान-स्थापन;
जल-प्रांगण से परे मछली पकड़ना और मीन क्षेत्र, (३२)
की खेती, निर्माण और निर्यात के लिए विक्रय, (३३)
के लिए चल-चित्रों की मंजूरी, (३४) काशी हिंदू-
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, और दिल्ली विश्व-
३५) उच्चतर शिक्षा और गवेषण, (३६) जन-गणना,
संघ और राज्यों के लेखाओं की लेखा-परीक्षा,
अंतर्राज्यीय प्रव्रजन और निरोधा; (३९) कृषि-आय
अन्य आय पर कर, (४०) सीमा-शुल्क जिसमें
शुल्क भी सम्मिलित है। (४१) निगम-कर (Corporation
(४२) कृषि-भूमि को छोड़ कर अन्य संपत्ति के
प्रकार के बारे में शुल्क आदि।

सूची—इस सूची में वे विषय सम्मिलित किये गये
में संघांतरित राज्यों को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल
से अधिक स्वाधीनता देना आवश्यक समझा गया है।
वेषय निम्नलिखित हैं—(१) सार्वजनिक व्यवस्था, (२)
जिसके अंतर्गत रेलवे और ग्राम पुलिस भी आती है,
न्याय-प्रशासन, (४) कारागार, सुधारालय आदि, (५)
स्वशासन, (६) सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता,
यात्राएँ, (८) अंगहीनों और नौकरी के लिए अयोग्य
की सहायता, (६) शव गाड़ना और कबरस्थान,
और श्मशान, (१०) शिक्षा, (११) पुस्तकालय,
आदि; सड़कें, पुल, नौका, घाट; (१२) कृषि; (१३) पशु
का परि-रक्षण ; (१४) जल संभरण, सिंचाई और
(१५) बन; (१६) मीन-क्षेत्र; (१७) गैस और गैस
(१८) बाजार और मेले, (१९) कृषि-ऋणता का उद्धार

(२०) नाट्यशाला, नाट्य-अभिनय, (२१) पण लगाना और जुआ; (२२) राज्य के विधान-मंडल के निर्वाचन; (२३) राज्य के मंत्रियों के वेतन और भत्ते; (२४) राज्य लोक-सेवाएँ और राज्य लोक-सेवा आयोग, (२५) राज्य का लोक-ऋण; (२६) कृषि-भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क; (१७) विद्युत उपभोग या विक्रय पर कर; (२८) पथ-कर; (२९) प्रति व्यक्ति-कर; (३०) भूमि और भवनों पर कर।

समवर्ती सूची—इस सूची में वे विषय सम्मिलित किये गये हैं जिसमें संघ और संघांतरित राज्यों दोनों को अधिकार दिया गया है। साधारणतया इन विषयों में राज्यों की स्वतंत्रता की व्यवस्था है, पर उनके संबंध में समस्त देश की एक ही नीति की आवश्यकता के कारण, संघीय नियंत्रण भी आवश्यक समझा गया है। इन विषयों की संघीय और संघांतरित राज्यों की विधि में यदि विरोध होगा, तो संघीय विधि ठीक, और संघांतरित राज्यों की विधि विरोधात्मक अंश तक रद्द समझी जायगी। किंतु यदि किसी राज्य की विधि राष्ट्र-पति के विचार के लिए सुरक्षित रखे जाने के पश्चात, उनकी अनुमति प्राप्त कर लेगी, तो संघीय विधि से असंगत होने पर भी वह उस राज्य के लिए ठीक समझी जायगी। समवर्ती सूची के निम्नलिखित विषय मुख्य हैं—(१) दंड-विधि (Criminal Law) (२) दंड-प्रक्रिया (Criminal Procedure), (३) राज्य की सुरक्षा संबंधी निवारक निरोध; (४) विवाह और विवाह-विच्छेद; (५) दिवाला और शोधा-क्षमता, (Insolvency) (६) न्यास और न्यासी; (७) साक्ष्य और शपथें; (८) न्यायालय अवमान; (९) उन्माद और मनोवैकल्य; (१०) पशुओं के प्रति निर्दयता का निवारण; (११) खाद्य पदार्थों और अन्य वस्तुओं में अपमिश्रण; (१२) आर्थिक और सामाजिक

योजना; (१३) वाणिज्यिक और औद्योगिक एकाधिपत्य; (१४) व्यापार-संघ; औद्योगिक और श्रमिक विवाद; (१५) सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा; (१६) श्रमिकों का व्यावसायिक और शिल्पी प्रतिरक्षण; (१७) पाकिस्तान से स्थानांतरित व्यक्तियों की सहायता और पुनर्वास; (१८) जीवन संबंधी सांख्यकी (Vital Statistics) (१९) मूल्य-नियंत्रण; (२०) कारखाने; (२१) वाष्पयंत्र; (२२) विद्युत; (२३) समाचार-पत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय।

अवशिष्ट विषय—किसी संविधान-सभा के सदस्य चाहे कितने ही योग्य क्यों न हों और वे अपने काम को चाहे कितनी ही योग्यता से क्यों न करें, वे विषयों की ऐसी सूचियाँ नहीं बना सकते, जिनके अंतर्गत सब विषय आ जायँ। जो विषय इस प्रकार बचते हैं उन्हें अवशिष्ट विषय कहा जाता है। अन्य संघात्मक देशों में इनके तथा अंतर्निहित अधिकारों के संबंध में मतभेद के कारण न्यायालयों का आश्रय लेना पड़ता है। किंतु भारत के संविधान में अवशिष्ट विषय स्पष्ट रूप से संघ के अधीन कर दिये गये हैं।

विधायिनी शक्ति के विभाजन की आलोचना—विधायिनी शक्ति के उक्त विभाजन से हम भारतीय संघ के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

(१) भारतीय संविधान अत्यधिक एकात्मक दिशा की ओर झुका हुआ है। संघीय संसद, संघीय, समवर्ती तथा अवशिष्ट विषयों की विधि वना सकती है। समवर्ती विषयों में उसकी विधि राज्य की विधि से श्रेष्ठतर होगी और यदि राज्य की विधि उससे असंगत होगी, तो संघीय विधि ठीक और राज्य की विधि

असंगत अंश तक रद्द समझी जायगी। यह राज्य सूची के विषयों की भी विधि बना सकती है। इसके लिए तीन शर्तों की पूर्ति आवश्यक है—(क) यदि संघीय राज्य-सभा दो तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पास करे; (ख) यदि संबद्ध राज्यों के विधान-मंडल संसद् से इस प्रकार की विधि बनाने की प्रार्थना करें; (ग) यदि असाधारण परिस्थिति की घोषणा की जाय। ऐसी अवस्था में संसद् को राज्य-सूची के विषयों की भी विधि (कानून) बनाने का अधिकार मिल जाता है। इस प्रकार की विधि असाधारण परिस्थिति के अंत की घोषणा के पश्चात ६ महीने तक लागू रहती है।

(२) उक्त व्यवस्था के अंतर्गत, संघ और संघांतरित राज्य दोनों, अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में प्रभुता-संपन्न हैं।

(३) भारतीय संविधान में विधायिनी शक्ति-विभाजन की सूचियाँ अत्यधिक ब्यौरेवार बनायी गयी हैं।

(४) भारतीय संविधान में असाधारण परिस्थिति की व्यवस्था एक अनोखी बात है। संसार के अन्य संघ संविधानों में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं पायी जाती।

संघ और राज्यों में कार्यपालिका संबंध-कार्यपालिका संबंध के विषय में यह निश्चित कर दिया गया है कि राज्य अपनी कार्या-पालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करेंगे कि संसद द्वारा निर्मित विधि का पालन हो और संघ की कार्य-पालिका शक्ति पर न तो किसी प्रकार का कुप्रभाव पड़े और न उसके प्रयोग में अड़चन। संघ की सरकार राज्यों की सरकारों को यह आदेश दे सकेगी कि वे राष्ट्रीय महत्त्व के यातायात के मार्गों को बनावें और अपने राज्य-क्षेत्र के भीतर स्थित इन मार्गों तथा रेलों का संरक्षण करें। राष्ट्रपति राज्य की सरकार की अनुमति से, उसके किसी पदा-

धिकारी को ऐसे काम दे सकेंगे जो संघीय कार्य-क्षेत्र से संबद्ध हों। भारतीय रियासतों की समस्त सशस्त्र सेनाएँ संघ-सरकार के अधीन हो गयी हैं। संकट के काल में राष्ट्रपति, राज्यपालों को आवश्यक आदेश दे सकेंगे और आवश्यकतानुकूल राज्य का आंशिक अथवा समस्त शासन अपने अधीन कर सकेंगे। यदि कोई राज्य, राष्ट्रपति के नियमानुकूल जारी किये गये कार्यपालिका आदेश का उल्लंघन करेगा, तो राष्ट्रपति इसे संवैधानिक कार्य-पद्धति की विफलता समझेंगे और संबद्ध राज्य के कार्यपालिका अधिकार अपने अधीन कर सकेंगे।

संघ और संघांतरित राज्यों की कार्यपालिका के संबंध से भी हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जिस निष्कर्ष पर, विधायिनी शक्ति के विभाजन से। संघ-सरकार की प्रभुता प्रायः प्रत्येक विषय में कायम रखी गयी है। राज्यों की सरकारों के अधिकार बड़े परिमित हैं और अनेक अवसरों पर उन्हें न्यूनाधिक संघ-सरकार के अधीन काम करना पड़ता है। सारांश यह कि भारतीय संविधान देखने में तो संघात्मक है, पर वास्तव में वह एकात्मक दिशा की ओर झुका हुआ है।

संघ और संघांतरित राज्यों का वित्तीय संबंध—नये संविधान की वित्तीय व्यवस्था समझने के लिए हमें निम्नलिखित बातों को स्मरण रखना चाहिये—

(१) इसका संबंध १५२ पृष्ठ पर दी गयी तालिका के अ और ब वर्ग के राज्यों से ही है।

(२) "भारत की संचित निधि" तथा विभिन्न राज्यों की "संचित निधियाँ" बनायी गयी हैं। संघ और राज्यों की समस्त आय अपनी-अपनी निधियों में जमा होती है।

(३) भारत की या राज्य की संचित निधि में से कोई धन विधि की अनुकूलता से तथा इस संविधान में उपबंधित प्रयोजनों और रीति से अन्यथा विनियुक्त नहीं किया जायगा।

(४) संसद् अपनी विधि द्वारा और राज्य का विधान-मंडल अपनी विधि द्वारा, अग्रदाय के रूप में "आकस्मिक निधि" की स्थापना करेंगे। यह विधि राष्ट्रपति, राज्यपाल या राज्यप्रमुख के अधीन होगी और इसमें से वे आकस्मिक व्यय के लिए अग्रिम धन दे सकेंगे।

(५) विधि के अधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित और न संगृहीत किया जायगा।

(६) संविधान द्वारा संघ और संघांतरित राज्यों के आय के साधन निर्धारित कर दिये गये हैं। संघांतरित राज्यों की आय की मदों की सब आय राज्यों को मिलेगी। इसके अतिरिक्त उन्हें संघीय आय की कुछ मदों का अंश भी मिलेगा।

संघ की आय—नये संविधान की वित्तीय व्यवस्था पूर्वकालीन व्यवस्था का विकसित स्वरूप है। विधायिनी-शक्ति वितरण की संघ तथा राज्य-सूचियों में कुछ ऐसे विषय हैं, जिन्हें हम आय और व्यय के विषय कह सकते हैं। विभिन्न सरकारों की आय, आय की इन्हीं मदों से होती हैं और वे अपनी आय को अपने कामों के करने में खर्च करती हैं। संघीय आय की मदों में बहिःशुल्क, केंद्रीय उत्पादन-शुल्क, निगम-कर (Corporation Tax), आय-कर, अफीम, ब्याज, मुद्रा और टक्साल, डाकघर और तारघरों तथा रेलों से खर्च के पश्चात् आय आदि मुख्य हैं। उसके व्यय की मदें निम्नलिखित हैं—रक्षा, आवपाशी, असैनिक शासन, मुद्रा और टक्साल सार्वजनिक काम, पेंशन, संघांतरित राज्यों को अनुदान; आकस्मिक व्यय आदि।

संघांतरित राज्यों की आय—संघांतरित राज्यों की आय सात प्रकार के विभिन्न साधनों से होती है। (१) वे साधन जिनकी सारी आय राज्यों को मिलती है। राज्य ही इन करों को लगाते तथा उगाहते हैं। इनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—भूमि-कर, कृषि-आय पर कर, शराब तथा कुछ नशीली वस्तुओं पर कर, भूमि और भवनों पर कर, स्थानीय क्षेत्र में वस्तुओं के प्रवेश पर कर, समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़ कर अन्य विज्ञापनों पर कर, पथ-कर, प्रति व्यक्ति-कर, वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर, जुआ और मनोरंजनों के साधनों पर कर, स्टांप-कर आदि।

(२) कुछ कर ऐसे हैं जो संघ द्वारा लगाये जायँगे, पर राज्य उन्हें उगाहेंगे तथा अपने पास रख लेंगे। इनमें से मुख्य ये हैं—(क) विनिमय-बिल, चेक, शेयर, बीमा आदि पर जो स्टांप से आय होगी। (ख) दवाई और शृङ्गार की वस्तुओं में प्रयुक्त, नशीली वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क।

(३) वे कर जो संघ द्वारा लगाये तथा उगाहे जायँगे, पर जिनकी सारी आय संघांतरित राज्यों को मिलेगी। इनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की संपत्ति का उत्तराधिकार कर; कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य संपत्ति के बारे में संपत्ति-शुल्क; रेल या समुद्र या वायु से ले जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा-कर; समाचार-पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर आदि।

(४) कुछ कर ऐसे हैं जिन्हें संघ-राज्य लगावेगा तथा वसूल करेगा पर जिनकी आय का कुछ अंश वह संघांतरित राज्यों को देगा। जैसे कृषि-आय के अतिरिक्त अन्य आय-कर।

(५) संविधान द्वारा संघ को संघांतरित राज्यों की आर्थिक सहायता का अधिकार है। संघीय अनुदान विशेष रूप से राज्य की विकास-योजनाओं की सफलता तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिनिवासियों के कल्याण के कामों के लिए दिये जायँगे। आसाम को इस संबंध में विशेष रूप से सहायता मिलेगी।

(६) पटसन पर जो निर्यात लगेगा, उसका राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित अंश पश्चिमी बंगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसा के राज्यों को संघ की संचित निधि से मिलेगा।

(७) पृष्ठ १५२ पर दी गयी तालिका के ब वर्ग के राज्यों से, संघ-सरकार निम्नलिखित बातों के संबंध में समझौता कर सकेगी— (क) किसी राज्य में संघ द्वारा लगाये जाने वाले करों के लगाने और उगाहने तथा उनकी आय के वितरण के संबंध में। (ख) भारत-सरकार द्वारा इस संविधान के अधीन लगाये जाने वाले किसी कर से राज्य को जो हानि पहुँचती है, उसके बदले उस राज्य की वित्तीय सहायता के संबंध में। (ग) भारतीय नरेशों को प्रिवी पर्स (Privy Purse) के बदले उनके राज्यों द्वारा केंद्र को दिये जाने वाले धन के संबंध में।

वित्त-आयोग—संविधान के आरंभ से दो बरस के भीतर और तत्पश्चात प्रत्येक पाँचवें बरस की समाप्ति पर, अथवा उससे पहले ऐसे समय पर जिसे राष्ट्रपति आवश्यक समझें, राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा एक वित्त-आयोग नियुक्त करेंगे, जिसके सभापति के अतिरिक्त चार अन्य सदस्य होंगे। संसद्, विधि द्वारा, सदस्यों की योग्यताएँ तथा उनके संवरण की विधि निर्धारित करेगी। आयोग का काम निम्नलिखित बातों को सिफारिश करना है—(क) संघ और संघांतरित राज्यों में ऐसे करों की शुद्ध आय

का विभाजन, जो इस प्रकार वितरित किये जाने को हैं, (ख) संघ द्वारा संघांतरित राज्यों को सहायक अनुदान के सिद्धांत; (ग) पृष्ठ १५२ पर दी गयी तालिका के ब वर्ग के राज्यों के साथ किये गये किसी समझौते के चालू रखने अथवा उसके रूप-भेद करने के विषय में। (घ) सुदृढ़ वित्त के हित में राष्ट्रपति द्वारा सौंपे गये किसी अन्य विषय के बारे में।

संपूर्ण वित्तीय व्यवस्था पर दृष्टिपात—यदि हम उपरि-वर्णित संपूर्ण वित्तीय व्यवस्था पर दृष्टिपात करें, तो उसके संबंध में हमें निम्नलिखित बातें मालूम होंगी—(१) वित्तीय व्यवस्था का संबंध समस्त भारत से है। इसमें पूर्वकालीन ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के आधार पर किसी प्रकार का विभेद नहीं किया गया है। भारतीय रियासतों और भारत के वित्तों (Finances) का एक प्रकार से एकीकरण कर दिया गया है। (२) संघ की वित्तीय स्थिति अधिक से अधिक सुदृढ़ बनायी गयी है। उसे आय के ऐसे साधन मिले हैं जिनके आगम के बढ़ने की संभावना है। पूर्वकालीन मेस्टन निर्णय (Meston Award) की भाँति संघ, संघांतरित राज्यों द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता पर निर्भर नहीं है। (३) संघांतरित राज्यों को राष्ट्र-निर्माण के प्रायः सभी काम दिये गये हैं। पर उनकी आय के साधन ऐसे नहीं हैं जिनके आगम से उनका सारा खर्च निकल सके। अतएव उनके लिए संघीय अनुदान और संघीय आय की कुछ मदों के आगम के वितरण की व्यवस्था की गयी है। उसके कारण भी भारतीय संघ एकात्मक दिशा की ओर झुका हुआ संघ बन गया है।

आठवां परिच्छेद

संघीय कार्य-पालिका

राष्ट्रपति—उप-राष्ट्रपति—निर्वाचन संबंधी मतभेद—प्रथम राष्ट्रपति—राष्ट्रपति के अधिकार—कार्यपालिका के अधिकार—विधि-निर्माण संबंधी अधिकार—आर्थिक अधिकार—न्याय संबंधी अधिकार—मंत्रि-परिषद्—प्रधान मंत्री का स्थान—राष्ट्रपति और मंत्रि-परिषद का संबंध—भारत में उत्तरदायी शासन पर दृष्टिपात।

राष्ट्रपति—नये संविधान द्वारा भारतीय संघ की सर्वश्रेष्ठ कार्यपालिका-शक्ति निर्वाचित राष्ट्रपति को दी गयी है। वह उसका प्रयोग संविधान के अंतर्गत या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है। संघ के रक्षा-बलों का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में निहित है और उसका प्रयोग विधि से विनियमित होता है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन का अधिकार एक ऐसे निर्वाचक गण (Electoral College) को दिया गया है जिसमें संघीय संसद् के दोनों सदनों तथा संघांतरित राज्यों के विधान-मंडलों के सब निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होंगे। सब सदस्यों के वोटों में समतुल्यता प्राप्त कराने के लिए एक विशेष व्यवस्था की गयी है। किसी राज्य के कुल मतदाताओं की संख्या को उसके कुल निर्वाचित सदस्यों से विभाजित करने से जो भजन-फल आवे, उसमें १००० से भाग दिया जायगा और इस प्रकार जो भजन-फल आवे, उतने वोट उस राज्य के प्रत्येक सदस्य के होंगे। यदि

भाग देने के पश्चात् शेष ५०० या उससे अधिक होगा तो उस राज्य के प्रत्येक सदस्य को एक वोट और मिलेगा और यदि ५०० से कम, तो पूर्ववत्। इसी प्रकार समस्त राज्यों के सदस्यों के जितने कुल वोट होंगे, उनमें संसद् के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग दिया जायगा और जो भजनफल आवे, उतने वोट संसद् के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के होंगे। शेष वोट यदि भाजक के आधे या आधे से अधिक होंगे तो प्रत्येक सदस्य को एक वोट और मिल जायगा, और यदि कम होंगे तो वे छोड़ दिये जायँगे। निर्वाचन एकाकी हस्तांतरीय मताधिकार की अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली (Proportional Representation by Single Transferrable Vote) के अनुसार पाँच बरस के लिए होगा। पुनर्निर्वाचन के संबंध में किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं है। अतएव एक व्यक्ति एक बार से अधिक भी राष्ट्रपति चुना जा सकेगा।[1]

भारत का प्रत्येक नागरिक जिसकी अवस्था ३५ बसर की हो और जो संघीय संसद् की लोक-सभा का सदस्य चुना जा सकता हो, राष्ट्रपति के पद के लिए अभ्यर्थी हो सकता है। संघ अथवा संघांतरित राज्यों के अधीन लाभप्रद पद के अधिकारी, उम्मेदवारी के अधिकार से वंचित कर दिये गये हैं। पर राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, राज्यपाल, राजप्रमुख और संघ अथवा राज्य के मंत्रियों पर इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है। सरकारी निवास-स्थान

१—संविधान के प्रारूप में केवल एक ही बार पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था थी। किंतु संविधान में सब प्रतिबंध हटा दिये गये हैं। फलस्वरूप संविधान के अन्य उपबंधों के अतिरिक्त एक व्यक्ति जितनी बार चाहे, राष्ट्रपति के पद के लिए अभ्यर्थी हो सकता है।

के अतिरिक्त राष्ट्रपति के लिए १०,०००) माहवारी वेतन की व्यवस्था की गयी है। संसद् द्वारा की गयी नवीन व्यवस्था के पूर्व उन्हें वह भत्ता भी मिलेगा जो संविधान के आरंभ में भारतीय डोमीनियन के गवर्नर जनरल को मिलता था। अपने कार्य-काल में राष्ट्रपति किसी अन्य लाभप्रद पद को नहीं ग्रहण कर सकते। पदासीन होने के पूर्व राष्ट्रपति को निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ती या प्रतिज्ञान करना पड़ता है—

"मैं......अमुक $\frac{\text{ईश्वर की शपथ लेता हूँ}}{\text{सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करताहूँ}}$ कि मैं श्रद्धा-पूर्वक भारत के राष्ट्रपति-पद का कार्य-पालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं भारत की जनता की सेवा में निरत रहूँगा।"

उपराष्ट्रपति के पास, अपने हस्ताक्षर में त्यागपत्र भेज कर, राष्ट्रपति अपने पद से अलग हो सकते हैं। संविधान के उल्लंघन के कारण, महाभियोग द्वारा दोषी ठहराये जाने पर राष्ट्रपति के अपदस्थ करने की व्यवस्था है। महाभियोग चलाने का अधि-कार संसद् की किसी सभा को है। यदि एक चौथाई सदस्यों द्वारा १४ दिन के नोटिस के पश्चात् संसद् की एक सभा कुल सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से महाभियोग का प्रस्ताव स्वीकार करती है तो दूसरी सभा या तो स्वयं उसकी जाँच करेगी अथवा जाँच करने की व्यवस्था करेगी। तत्पश्चात् राष्ट्रपति की सफाई सुनने के पश्चात्, यदि वह भी महाभियोग के प्रस्ताव को कुल सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पास कर देगी तो राष्ट्रपति अपदस्थ हो जायँगे। यदि मृत्यु या त्यागपत्र या किसी अन्य कारण से राष्ट्रपति का स्थान रिक्त होगा, तो दूसरे राष्ट्रपति के

निर्वाचन की व्यवस्था जल्दी से जल्दी छः महीने के भीतर होनी चाहिये। राष्ट्रपति की पदावधि के समाप्ति से हुई रिक्तता की पूर्ति के लिए, निर्वाचन अवधि समाप्ति के पूर्व ही कर लिया जायगा। जब तक राष्ट्रपति के उत्तराधिकारी का निर्वाचन न हो जाय, तत्कालीन राष्ट्रपति अपने पद के कर्तव्यों का पालन करते रहेंगे।

राष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं—(१) परोक्ष-निर्वाचन ; (२) विभिन्न निर्वाचकों के वोटों में समतुल्यता ; (३) एकाकी हस्तांतरीय मताधिकार की अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार निर्वाचन ; (४) पुनर्निर्वाचन में प्रतिबंध का अभाव ; (५) महाभियोग की नयी व्यवस्था। साधारणतः महाभियोग चलाने का अधिकार विधान-मंडल की छोटी सभा को होता है और बड़ी सभा निर्णायक की हैसियत से उसका निर्णय करती है। भारतीय संविधान में संसद् की किसी सभा को महाभियोग की कार्रवाई आरंभ करने का अधिकार है।

उप-राष्ट्रपति—नये संविधान द्वारा भारतीय संघ के लिए एक निर्वाचित उप-राष्ट्रपति की भी व्यवस्था है। निर्वाचनाधिकार एकाकी हस्तांतरीय मताधिकार की अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार संसद् की दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन को है। कार्यावधि पाँच बरस निर्धारित हुई है। उम्मेदवारों में भारतीय नागरिकता और ३५ बरस अवस्था की योग्यताओं के अतिरिक्त संघीय राज्य-सभा के सदस्यों की योग्यताओं का होना आवश्यक है। राष्ट्रपति की भांति उप-राष्ट्रपति भी अपने कार्य-काल में किसी अन्य लाभप्रद पद को ग्रहण नहीं कर सकते और न संसद् के किसी सदन के सदस्य ही हो सकते हैं। राष्ट्रपति के पास,

अपने हस्ताक्षर में त्यागपत्र भेजकर, वे अपने पद से अलग हो सकते हैं। राज्य-सभा भी, जिसके वे पदेन सभापति होंगे, अपने कुल सदस्यों के बहुमत से, उन्हें अपदस्थ करने का प्रस्ताव, चौदह दिन के नोटिस के पश्चात् पास कर सकेगा। यदि इस प्रस्ताव को लोक-सभा भी स्वीकार कर ले, तो उप-राष्ट्रपति अपदस्थ हो जायंगे यदि राष्ट्रपति का स्थान मृत्यु, त्यागपत्र, अपदस्थ होने तथा किसी अन्य कारण से रिक्त होगा, तो उप-राष्ट्रपति उस समय तक राष्ट्रपति भांति काम करेंगे जब तक नये राष्ट्रपति का निर्वाचन न हो जाय। यदि अनुपस्थिति, बीमारी या किसी अन्य कारण से राष्ट्रपति अपने कर्तव्य-पालन में असमर्थ होंगे, तो भी जब तक राष्ट्रपति अपने कर्तव्यों को पुनः न संभाले, उप-राष्ट्रपति उनके स्थान पर काम करेंगे। इस अवधि में उनको राष्ट्रपति की सब शक्तियों, उन्मुक्तियों तथा ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का, जिन्हें संसद् विधि द्वारा निश्चित करे, अधिकार होगा। उप-राष्ट्रपति के भी पुनर्निर्वाचन में किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं है। अवधि समाप्त हो जाने पर अपने उत्तराधिकारी के पद-ग्रहण तक वे पदासीन रहेंगे।

निर्वाचन-संबंधी मतभेद—राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न सब विवादों की जाँच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका विनिश्चय अंतिम होगा। यदि उक्त न्यायालय, राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन को शून्य घोषित करेगा तो इसके कारण, यथास्थिति राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति के पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन में विनिश्चय की तारीख को या उसके पूर्व किये गये कार्य अमान्य न हो जायँगे।

प्रथम राष्ट्रपति—राष्ट्रपति के निर्वाचन की जिस व्यवस्था

का वर्णन ऊपर दिया गया है, उसके अनुसार प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्र प्रसाद का निर्वाचन नहीं हुआ है। संविधान की संक्रमण-कालीन व्यवस्था के अनुसार, उनका चुनाव संविधान-सभा द्वारा किया गया है। जब तक नये संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचन-संबंधी निर्वाचक-संघ का निर्माण होकर, नये राष्ट्रपति का निर्वाचन या मौजूदा राष्ट्रपति का पुनर्निर्वाचन न हो जाय, तब तक मौजूदा राष्ट्रपति, भारतीय संघ के राष्ट्रपति के कर्तव्यों का पालन तथा अधिकारों का उपभोग करते रहेंगे। उप-राष्ट्रपति का स्थान अभी तक रिक्त है। यदि किसी कारण से राष्ट्रपति का स्थान रिक्त हो जायगा, तो जब तक नये राष्ट्रपति का निर्वाचन न हो जाय, उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति, राष्ट्रपति की भांति काम करेंगे।

राष्ट्रपति के अधिकार—नये संविधान द्वारा राष्ट्रपति को अनेक महत्वपूर्ण अधिकार दिये गये हैं। हम उन्हें चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) कार्यपालिका के अधिकार—भारतीय संघ के समस्त शासकीय अधिकार राष्ट्रपति को हैं। वे उनका उपयोग या तो स्वयं करेंगे या अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा। प्रधान मंत्री, उनकी मंत्रणा पर अन्य मंत्रियों, संघांतरित राज्यों के राज्यपालों, उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के प्रधान न्यायाधीशों तथा अन्य न्यायाधीशों आदि की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। वे भारत की रक्षा की सेनाओं के सर्वोच्च अधिकारी तथा केंद्र-शासित प्रदेशों के शासन के लिए उत्तरदायी हैं। उन्हें प्रति पाँचवें साल संघ और संघांतरित राज्यों में टैक्सों के बँटवारे के विषय में सिफारिश करने के लिए एक वित्त-कमीशन की नियुक्ति

का अधिकार है। वे विदेशों में भारत के राजदूत नियुक्त करते हैं। भारत में विदेशों के राजदूत उनके पास भेजे जाते हैं। उन्हें भारत की ओर से युद्ध की घोषणा तथा संधि करने का अधिकार है।

राष्ट्रपति के उपर्युक्त शासन-संबंधी अधिकारों का संबंध साधारण काल से है। किंतु नये संविधान में संकट के काल की भी व्यवस्था की गयी है। भारत या उसके किसी भाग में युद्ध, आक्रमण या आंतरिक विप्लव का भय होने पर राष्ट्रपति को संकट की स्थिति की घोषणा का अधिकार है। ऐसी ही घोषणा वे उस समय भी कर सकेंगे जब किसी राज्यपाल या राजप्रमुख की रिपोर्ट पर उन्हें यह विश्वास हो जाय कि संविधान-युक्त शासन का चलाना असंभव है। आर्थिक संकट की संभावना पर भी राष्ट्रपति को संकट काल की घोषणा का अधिकार है। ऐसी घोषणाओं की अवधि दो मास निर्धारित हुई है; किंतु यदि इस बीच में संसद की दोनों सभाएँ उसके संबंध में अनुमति-सूचक प्रस्ताव पास करती हैं, तो उसकी अवधि छः महीने हो सकती है। संसद् के दूसरे अनुमति-सूचक प्रस्तावों के आधार पर छः छः महीने करके, यह अवधि अधिक से अधिक तीन साल तक बढ़ायी जा सकती है। राष्ट्रपति की दूसरी घोषणा द्वारा, संकट काल की घोषणा के निराकरण की व्यवस्था की गयी है।

संकट काल में संविधान द्वारा राष्ट्रपति को ऐसे अधिकार दिये गये हैं कि संघात्मक शासन सरलतापूर्वक एकात्मक में परिवर्तित हो जाय। ऐसी अवस्था में संघीय संसद् राज्य सूची के विषयों के भी कानून बना सकेगी और राष्ट्रपति संघीय विषयों के अतिरिक्त इन विषयों के शासन की भी व्यवस्था करेंगे। वे राज्यपालों और राजप्रमुखों को भी तत्संबंधी आदेश दे सकेंगे

जिनका पालन करना उनके लिए अनिवार्य होगा। संकट काल की घोषणा के पश्चात् दूसरी घोषणा द्वारा वे नागरिकों के मूल अधिकारों को निलंबित कर सकेंगे। फलस्वरूप घोषणा की अवधि तक न तो उनकी गारंटी रह जायगी और न उनके संबंध में उच्चतम न्यायालय में अभियोग ही चलाये जा सकेंगे।

आर्थिक संकट की आशंका के कारण संकट की घोषणा के काल में संघ की कार्यापालिका शक्ति इतनी विस्तृत हो जायगी कि वह राज्यों को वित्तीय औचित्य के सिद्धांतों का निदेश दे सकेगी। इस प्रयोजन के लिए राष्ट्रपति भी आवश्यक और समुचित निदेश दे सकेंगे। किसी ऐसे निदेश के अंतर्गत राष्ट्रपति यह प्रबंध कर सकते हैं कि राज्य के कार्यों के संबंध में सेवा करने वाले व्यक्तियों के सब या किन्हीं वर्गों के वेतनों और भत्तों में कमी की जाय और धन-संबंधी सब विधेयक, राज्यों के विधान-मंडलों या सभाओं में स्वीकृत होने के पश्चात्, उनके विचार के लिए रक्षित रखे जायँ। घोषणा की अवधि में, वे संघ के कार्यों के संबंध में सेवा करने वाले व्यक्तियों के सब या किसी वर्ग के वेतनों और भत्तों में भी कमी का निदेश दे सकेंगे। उच्चतम तथा उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश भी इस व्यवस्था से मुक्त नहीं हैं।

(२) विधि-निर्माण संबंधी अधिकार—राष्ट्रपति संघीय संसद् के अंग हैं। वे राज्य-सभा (Council of State) के बारह सदस्यों को मनोनीत करते, संघीय संसद् के अधिवेशन कराते, तथा लोक-सभा को विघटित कर सकते हैं। संसद् द्वारा स्वीकृत कोई विधेयक उनकी अनुमति के बिना ऐक्ट नहीं बन सकता। वे विधेयक को संसद् के पास पुनर्विचार के लिए भेज सकते हैं। यदि पुनर्विचार के पश्चात् विधानमंडल उस विधेयक को पुनः

मौलिक या संशोधित रूप में पास करता है, तो राष्ट्रपति अपनी अनुमति देने से इनकार नहीं कर सकते। दोनों सदनों के मत-भेद में, राष्ट्रपति को उनके संयुक्त-अधिवेशन के कराने का अधिकार है। वे दोनों सदनों के संयुक्त-अधिवेशन तथा किसी सदन में अपना भाषण दे तथा संदेश भेज सकते हैं। जिन दिनों संसद् के अधिवेशन न होते हों, वे अध्यादेश (ऑर्डिनेंसें) जारी कर सकते हैं। ये ऑर्डीनेंसें संसद् के दोनों सदनों के समक्ष उपस्थित की जायँगी और यदि छः सप्ताह के भीतर स्वीकृत न हों, तो रद् समझी जायँगी।

(३) **आर्थिक अधिकार**—राष्ट्रपति प्रति वर्ष संघीय आय-व्यय का व्यौरा संघीय संसद् के समक्ष उपस्थित करेंगे। उनकी सिफारिश के बिना किसी प्रकार के व्यय की स्वीकृति न दी जायगी। राष्ट्रपति संघ और संघांतरित राज्यों में आय-कर का बँटवारा तथा पश्चिमी बंगाल, आसाम, बिहार और उड़ीसा को जूट के निर्यात-कर के बदले सहायक अनुदान दे सकेंगे। उन्हें संविधान के आरंभ के दो साल भीतर और तत्पश्चात् प्रति पाँचवें साल एक वित्त आयोग की नियुक्ति का अधिकार है। इन बातों का विवरण सातवें परिच्छेद में वित्तीय व्यवस्था के संबंध में दिया जा चुका है। राष्ट्रपति के संकट कालीन आर्थिक अधिकारों का विवरण पूर्व पैरा में दिया गया है।

(४) **न्याय संबंधी अधिकार**—पूर्व कालीन गवर्नर जनरल की भाँति राष्ट्रपति को निर्धारित प्रकार के अपराधियों को क्षमा-प्रदान करने का अधिकार है। वे उनके दंड को घटा, विलंबित तथा निलंबित कर सकते हैं। इस प्रकार के अधिकार

का प्रयोग वे तीन प्रकार के मामलों में कर सकते हैं—(१) उन सब मामलों में जिनमें दंड अथवा दंडादेश सेना-न्यायालय द्वारा दिया गया हो; (२) उन सब मामलों के संबंध में जिनमें दंड या दंडादेश ऐसे विषय संबंधी किसी विधि के विरुद्ध, अपराध के लिए दिया गया हो जिस विषय तक संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार हो; और (३) उन सब मामलों में जिनमें अपराधी को प्राण-दंड मिला हो। उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति संबंधी राष्ट्रपति के अधिकारों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

राष्ट्रपति के उपरिवर्णित अधिकारों से यह स्पष्ट है कि वे बड़े व्यापक हैं। शासन, विधि-निर्माण, न्याय, वित्त आदि सभी विषयों में उनके अधिकार हैं। पर क्या वे इन अधिकारों का वास्तविक प्रयोग कर सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि संघीय मंत्रि-परिषद् और उसके साथ राष्ट्रपति के संबध का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय।

मंत्रि परिषद्—नये संविधान द्वारा राष्ट्रपति को अपने कर्तव्यों के पालन करने में मंत्रणा और सहायता देने के लिए प्रधान मंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था की गयी है। प्रधान मंत्री की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है, पर राजनीतिक दलों की स्थिति के कारण उन्हें, निकट भविष्य में, इस काम में अधिक स्वतंत्रता न होगी। यदि राजनीतिक दलों की संख्या बढ़ी और उनमें से एक भी ऐसा न रह गया जिसके साथ संसद् की लोक-सभा के कुल सदस्यों के आधे से अधिक सदस्य हों, तब राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री की नियुक्ति में कुछ स्वतंत्रता से काम कर सकेंगे।

प्रधान मंत्री की सिफ़ारिश पर राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद् के अन्य मंत्रियों को नियुक्त करेंगे। संविधान में इस आशय का एक भी अनुच्छेद नहीं है कि मंत्रियों को संसद् का निर्वाचित सदस्य होना चाहिये। पर व्यवहार में प्रत्येक मंत्री को संसद् के किसी न किसी सभा का सदस्य होना चाहिये। यदि ऐसे व्यक्ति मंत्री नियुक्त होंगे जो संसद् के सदस्य नहीं हैं तो उन्हें छः महीने की अवधि के भीतर या तो संसद् का सदस्य बनना पड़ेगा या मंत्रि-पद से अलग होना पड़ेगा। इसके बिना उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था निष्फल होगी। "राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत मंत्री अपने पद धारण करेंगे।" व्यवहार में इस वाक्यांश का अर्थ शाब्दिक न होकर कुछ और ही होगा। चूँकि संविधान के अनुसार मंत्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी निर्धारित हुई है, इसलिए राष्ट्रपति ऐसे मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों को निकालने में अपने को असमर्थ पावेंगे, जिसके साथ लोक सभा का बहुमत हो।

नये संविधान द्वारा भारत के लिए उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गयी है। इस संबंध के कई खंड संविधान में विद्यमान हैं। "राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का संपादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होगी।" "मंत्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।" इन खंडों के कारण भारत में उत्तरदायी सरकार का आधार इंगलैंड, आस्ट्रेलिया, कैनाडा आदि से भिन्न होगा। इन देशों में उत्तरदायी सरकार का क्रमशः विकास हुआ है। वह संविधान के अनुच्छेदों पर नहीं, उसके संबंध की प्रथाओं पर अवलंबित है। भारत की उत्तरदायी सरकार संविधान पर अवलंबित है। इस संबंध में उसने कुछ अंश में आयरलैंड की पद्धति को अपनाया है।

किसी मंत्री द्वारा पद-ग्रहण के पूर्व राष्ट्रपति उससे पद और गोपनीयता की शपथें निम्नलिखित शब्दों में लेंगे—

"मैं......अमुक...... ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्य-निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा, संघ के मंत्री के रूप में अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक और शुद्ध अंत:करण से निर्वहन करूँगा तथा भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना मैं सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान और विधि के अनुसार न्याय करूँगा।"

"मैं......अमुक...... ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि जो विषय संघ-मंत्री के रूप में मेरे विचार के लिए लाया जायगा अथवा मुझे ज्ञात होगा, उसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को, उस अवस्था को छोड़कर जब कि ऐसे मंत्री के रूप में अपने कर्तव्यों के उचित निर्वहन के लिए ऐसा करना आपेक्षित हो, अन्य अवस्था में मैं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में संसूचित या प्रगट नहीं करूँगा।"

मंत्रियों के वेतन और भत्ते ऐसे होंगे जैसे समय समय पर, संसद् विधि द्वारा, निर्धारित करेगी। इस व्यवस्था के कारण संसद् के सदस्यों को मंत्रियों के कामों की आलोचना करने का अधिक अवसर मिलेगा।

प्रधान मंत्री का स्थान—नये संविधान में प्रधान मंत्री के स्थान के विषय में केवल निम्नलिखित बातों का उल्लेख है—
(१) वह मंत्रि-परिषद् का नेता है। फल-स्वरूप भारतीय शासन में उसका वही स्थान है जो इंगलैंड के शासन में वहाँ के प्रधान

मंत्री का। (२) राष्ट्रपति, अन्य मंत्रियों की नियुक्ति, प्रधान मंत्री की सिफारिश पर करते हैं। (३) प्रधान मंत्री का यह कर्तव्य है कि वह संघ के कार्यों के प्रशासन संबंधी समस्त विनिश्चयों तथा विधि-निर्माण की समस्त प्रस्थापनाओं की सूचना राष्ट्रपति को दे, संघ के प्रशासन संबंधी तथा विधि-निर्माण की प्रस्थापना संबंधी जो सूचना राष्ट्रपति माँगे, उसे दे और किसी ऐसे विषय को जिस पर मंत्री ने विनिश्चय कर दिया हो, पर मंत्रि-परिषद् ने विचार न किया हो, उसे राष्ट्रपति के कहने पर मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख विचार के लिए रखे। किंतु इतने ही से प्रधान मंत्री की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं होता। उत्तरदायी शासन में प्रधान मंत्री का स्थान इतना महत्वपूर्ण होता है कि देश का समस्त शासन-संचालन उसी पर निर्भर करता है। संसद् के बहुमत से सुरक्षित प्रधानमंत्री ऐसे कार्य कर सकता है जिन्हें न तो पूर्वकालीन जर्मन सम्राट कर सकते थे और आधुनिक संयुक्त-राज्य अमरीका के राष्ट्रपति ही कर सकते हैं। भारत के प्रधानमंत्री की स्थिति न्यूनाधिक इसी प्रकार की है। वह केवल मंत्रि-परिषद् का निर्माण ही नहीं करता वरन् सब मंत्रियों को एक सूत्र में बाँध-कर रखता है और उनमें से किसी को त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य कर सकता है। वह चाहे तो अपना त्याग-पत्र देकर समस्त मंत्रि-परिषद को अपदस्थ कर सकता है। वह मंत्रि-परिषद के अधिवेशनों में सभापति का आसन ग्रहण करता तथा समस्त शासकीय विभागों का साधारण निरीक्षण करता है। मंत्रि-परिषद् के साथ साथ वह संसद् का भी नेता है। फलस्वरूप देश में प्रचलित विधियों में वह आवश्यक परिवर्तन करा सकता तथा आवश्यकतानुकूल नयी विधि का निर्माण करा सकता है। वह कर लगा सकता, मौजूदा करों को रद्द करा सकता तथा राष्ट्र के पर-राष्ट्र-संबंध एवं सैनिक बल का

संचालन करता है। सारांश यह कि भारतीय संविधान में प्रधान-मंत्री का स्थान अति महत्त्वपूर्ण है। संघ की कार्यपालिका शक्ति वास्तव में उन्हीं के हाथ में है, राष्ट्रपति के हाथ में केवल नाममात्र को। शर्त केवल इतनी ही है कि संसद् का बहुमत उनके साथ हो।

राष्ट्रपति और मंत्रि-परिषद का संबंध—राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति के संबंध में नये संविधान के आलोचकों में मतैक्य का अभाव है। कुछ लोगों के मतानुकूल संविधान-सभा भारतीय राष्ट्रपति को न तो इंगलैंड के राजा के समान निर्बल बनाना चाहती थी और न संयुक्त-राज्य अमरीका के राष्ट्रपति की भांति सबल। वह वास्तव में मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करना चाहती थी। इस उद्देश्य की पूर्ति में संभवतः वह सफल न हो सकी। यदि हम उत्तरदायी सरकार के संबंध में प्रचलित प्रथाओं तथा भारतीय राजनीतिज्ञों द्वारा की गयी उसकी व्याख्याओं पर ध्यान दें तो यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि भारतीय राष्ट्रपति केवल नाममात्र के शासक हैं।

संविधान द्वारा केवल यही व्यवस्था की गयी है कि "राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का संपादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होगी, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।" यह अनुच्छेद भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट से ज्यों का त्यों उतार लिया गया है। उस ऐक्ट की व्याख्या करते समय भारतीय राजनीतिज्ञ कहा करते थे कि अपने विशेषाधिकारों के अतिरिक्त, गवर्नर जनरल या गवर्नर अपने सब कामों को मंत्रि-परिषद् के परामर्श के अनुसार करेंगे। नये संविधान के उक्त अनुच्छेद का भी यही अर्थ होना चाहिये। अतएव राष्ट्रपति अपने समस्त सरकारी काम मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा और सहायता

से करेंगे। उनके स्वतंत्र अधिकारों का सर्वथा अभाव है। यदि किसी समय वे अपने संवैधानिक अधिकारों का स्वतंत्र रूप से उपयोग करेंगे और प्रधानमंत्री एवं मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा पर ध्यान न देंगे, तो उन्हें मंत्रि-परिषद् के पदत्याग का सामना करना पड़ेगा। बहुत संभव है कि संविधान के उल्लंघन के कारण उनके विरुद्ध महाभियोग भी चलाया जाय।

राष्ट्रपति का वास्तविक स्थान बहुत अंश में उनके व्यक्तित्व पर निर्भर करेगा। इंगलैंड के राजा की भाँति वे प्रधानमंत्री को सलाह दे सकते तथा सावधान कर सकते हैं। यदि राष्ट्रपति वास्तव में योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति हुए, तो प्रधानमंत्री के लिए न्यूनाधिक यह असंभव होगा कि वह राष्ट्रपति के परामर्श पर ध्यान न दें। पर ये सब बातें गुप्त रूप से ही हो सकती हैं, सार्वजनिक तौर पर नहीं। न्यायालयों को यह पूछने का अधिकार नहीं है कि मंत्रिपरिषद् ने राष्ट्रपति को मंत्रणा दी या नहीं दी, और यदि दी तो क्या? इसी प्रकार राष्ट्रपति को भी यह बतलाने का अधिकार नहीं है कि उनमें और मंत्रिपरिषद् में अमुक विषय में मतभेद है। राज्य के समस्त सरकारी काम उनके नाम पर अवश्य किये जायँगे पर ये काम ऐसे होंगे जो मंत्रिपरिषद् की सहायता और मंत्रणा से किये जायँगे। यदि कभी राष्ट्रपति को यह विदित हो कि वे अमुक मंत्रिपरिषद् के साथ काम नहीं कर सकते, तो त्यागपत्र देकर वे स्वयं अलग हो सकते हैं, पर लोक-सभा के बहुमत से सुरक्षित मंत्रि-परिषद् को तोड़ नहीं सकते। इस परिस्थिति के कारण बहुत संभव है कि भविष्य में योग्य व्यक्ति राष्ट्रपति के पद के लिए उम्मेदवार न हों और साधारणतया यह स्थान देश के ऐसे वयोवृद्ध नेता को दिया जाय जिससे सब राजनीतिक दलों के लोग न्यूनाधिक संतुष्ट हों।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति की योग्यता के विषय में किसी को संदेह नहीं हो सकता। संविधान-सभा के अध्यक्ष होने के नाते, वे संविधान की समस्त बारीकियों से भली भांति परिचित हैं। देश में उनका मान भी किसी अन्य नेता से किसी प्रकार कम नहीं है। पर राष्ट्रपति चुने जाने के पश्चात् वे एक प्रकार से व्यक्तित्वहीन हो गये हैं। जब कि देश के अन्य नेता अपने सार्वजनिक भाषणों में राजनीतिक, बातों की चर्चा करते हैं, राष्ट्रपति केवल सांस्कृतिक और सभ्यता की बातों की। प्रथम राष्ट्रपति का यह झुकाव इस बात का परिचायक है कि राष्ट्रपति भारत के नाम-मात्र के सर्वोच्च शासकीय अधिकारी हैं। यह बात उनके असाधारण परिस्थिति के अधिकारों के विषय में उतनी ही ठीक है जितनी साधारण अधिकारों के विषय में।

भारत में उत्तरदायी सरकार पर दृष्टिपात—भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं—(१) राष्ट्रपति प्रधान मंत्री को नियुक्त करेंगे और उसकी सिफारिश पर अन्य मंत्रियों को ; (२) मंत्रि-परिषद् राष्ट्रपति को अपने कृत्यों के संपादन में सहायता और मंत्रणा देगी ; (३) मंत्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होगी ; (४) प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद् के प्रधान होंगे। उक्त बातों की व्यवस्था संविधान द्वारा की गयी है। अतएव भारत की उत्तरदायी सरकार संविधान पर आश्रित है। साथ ही वह उन प्रथाओं से सर्वथा मुक्त नहीं है जो उत्तरदायी सरकार वाले अन्य देशों में पायी जाती हैं।

———

नवाँ परिच्छेद

संसद

संसद—राज-परिषद की रचना—लोक-सभा की रचना—संसद के पदाधिकारी—संसद का कार्यारंभ—संसद् के सदस्यों के अधिकार—संसद के अधिकार—विधान-प्रक्रिया—धन और वित्तीय विधेयक—संसद की विशेषताएँ।

संसद्—नये संविधान द्वारा भारतीय संघ के लिए प्रभुता-संपन्न संसद् की व्यवस्था की गयी है जिसके राष्ट्रपति, लोक-सभा (House of People) और राज्य-परिषद् (Council of State) नाम के तीन अंग होंगे। संसद इन तीनों का सामूहिक नाम होगा। प्रतिवर्ष दो अधिवेशनों की व्यवस्था है। पहले अधिवेशन के अंतिम दिन और दूसरे अधिवेशन के आरंभिक दिन के बीच में छः मास से अधिक का अंतर न होना चाहिये। इसके अंतर्गत राष्ट्रपति को संसद की दोनों अथवा एक सभा को बुलाने, उनके सत्रावसान करने (Prorogue) तथा लोक-सभा को विघटित करने का अधिकार है। इस अधिकार का प्रयोग मंत्रि-परिषद की मंत्रणा के अनुसार ही होगा।

राज्य-परिषद की रचना—राज्य-परिषद के अधिक से अधिक २५० सदस्य होंगे, जिनमें से १२ राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत होंगे और शेष संघांतरित राज्यों से निर्धारित पद्धति के अनुसार चुने जायँगे। अभी तक कुल मिलाकर २१७ स्थानों की व्यवस्था निम्नलिखित ढंग से की गयी है—आसाम ६, बिहार २१, बंबई १७,

मध्य प्रदेश १२, मद्रास २७, उड़ीसा ९, पंजाब ८, उत्तर प्रदेश (संयुक्त-प्रांत) ३१, बंगाल १४, हैदराबाद १२, कश्मीर ४, मध्य भारत ६, मैसूर ६, पटियाला और पूर्वी पंजाब का रियासती संघ ३, राजस्थान ९, सौराष्ट्र ४, ट्रावनकोर-कोचीन ६ और विंध्य प्रदेश ४। केंद्र-शासित प्रदेशों में से अजमेर और कुर्ग को मिलाकर १, भूपाल को १, विलासपुर और हिमाचल प्रदेश को मिलाकर १, कूच-विहार को १, दिल्ली को १, कच्छ को १ और मनीपूर और त्रिपुरा को मिलाकर १ प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया है। पृष्ठ १५२ पर दी गयी तालिका के अ और ब वर्ग के राज्यों के प्रतिनिधि उनकी विधान-सभाओं (Legislative Assemblies) द्वारा अनुपातीय प्रतिनिधित्व की एकाकी हस्तांतरीय मत-प्रणाली के अनुसार निर्वाचित होंगे। ग वर्ग के राज्यों के प्रतिनिधि ऐसी रीति से चुने जायँगे जैसी कि संसद, विधि द्वारा विहित करे। उम्मेद-वारों के लिए यह आवश्यक है कि वे कम से कम ३० बरस के भारतीय नागरिक हों और संसद द्वारा निर्धारित योग्यताओं को रखते तथा अयोग्यताओं से मुक्त हों। भारत-सरकार तथा संघांतरित सरकारों के लाभ-प्रद पदों के पदाधिकारी, उपयुक्त न्यायालय द्वारा खराब दिमाग के ठहराये गये व्यक्ति, अमोचित दिवालिये, भारतीय नागरिकता को छोड़ कर विदेशी नाग-रिकता ग्रहण करने वाले व्यक्ति और संसद द्वारा सदस्यता के लिए अयोग्य ठहराये गये व्यक्ति उसकी दोनों सभाओं की सदस्यता से वंचित कर दिये गये हैं। संघीय उप-राष्ट्रपति राज्य-परिषद के पदेन (Ex-officio) सभापति होंगे और सभा अपने सदस्यों में से किसी एक को उप-सभापति चुनेगी। सभापति की अनुपस्थिति में अथवा जब वे राष्ट्रपति के स्थान पर काम करते हों उप-सभापति सभापति की हैसियत से काम करेंगे। राज्य-

परिषद् एक स्थायी सभा होगी, पर संसद् द्वारा निर्धारित पद्धति के अनुसार, प्रति दूसरे वर्ष उसके एक तिहाई सदस्यों का नया निर्वाचन होगा। दशांश सदस्यों का कोरम होगा और यदि कोई सदस्य सभा की आज्ञा के बिना ६० दिन तक अनुपस्थित रहेगा तो सभा उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगी। राष्ट्रपति ऐसे व्यक्तियों को ही मनोनीत करेंगे जो साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा का विशेष या व्यावहारिक ज्ञान रखते हों।

लोक-सभा की रचना—लोक-सभा के अधिक से अधिक ५०० सदस्य होंगे। वे वयस्क मताधिकार के आधार पर, प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जायंगे। २५ बरस का प्रत्येक भारतीय नागरिक, यदि वह उन अयोग्ताओं से मुक्त हो जिनका उल्लेख राज्य-परिषद् की सदस्यता के संबंध में किया गया है, लोक-सभा की सदस्यता के लिए उम्मेदवार हो सकेगा। निर्वाचन पांच साल के लिए होगा, पर राष्ट्र-पति को इसके पूर्व भी सभा को भंग करने का अधिकार दिया गया है। प्रत्येक ७,५०,००० निवासियों के लिए कम से कम एक प्रतिनिधि होगा, पर प्रत्येक ५,००,००० निवासियों के लिए एक से अधिक प्रतिनिधि न होगा। लोक-सभा अपने ही सदस्यो में से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को चुनेगी। संकट-कालीन घोषणा के काल में राष्ट्रपति एक-एक साल करके लोक-सभा की कार्यावधि को बढ़ा सकेंगे, पर संकट काल के अंत के पश्चात्, उसकी बढ़ायी हुई अवधि छः महीने से अधिक न होगी। लोक-सभा के कोरम और अनुपस्थिति संबंधी नियम वे ही हैं, जो राज्य-परिषद् के।

लोक-सभा में अनुसूचित जातियों तथा आंग्ल-भारतीयों के प्रतिनिधित्व की विशेष व्यवस्था की गयी है। संविधान का संबंधित अनुच्छेद इस प्रकार है—लोक-सभा में (क) अनुसूचित जातियों (ख) आसाम के आदिम जाति-क्षेत्रों की अनुसूचित आदिम

जातियों को छोड़कर अन्य आदिम जातियों, और (ग) आसाम के स्वायत्तशासी जिलों की अनुसूचित आदिम जातियों, के लिए स्थान रक्षित कर दिये गये हैं। रक्षित स्थानों की संख्या उसी आधार पर निश्चित की जायगी जिसके अनुसार उस राज्य की विधान-सभा के सदस्यों की संख्या। यदि राष्ट्रपति की राय हो कि लोक-सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वे उसमें उनके अधिक से अधिक दो प्रतिनिधि नामजद कर सकेंगे। रक्षित स्थान संविधान के प्रारंभ से दस बरस तक चलेंगे और तत्पश्चात् समाप्त हो जायंगे। निर्वाचित रक्षित स्थानों के निर्वाचन भी संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली के अनुसार होंगे।

संसद् के पदाधिकारी—नये संविधान में राज्य-परिषद् के लिए सभापति और उप-सभापति और लोक-सभा के लिए अध्यक्ष और उपाध्यक्ष, की व्यवस्था की गयी है। उप-राष्ट्रपति पदेन राज्य-परिषद् का सभापति होगा। सभा अपने सदस्यों में से किसी एक को उप-सभापति चुनेगी। जब जब उप-सभापति का स्थान रिक्त होगा तब-तब इस प्रकार का निर्वाचन किया जायगा। यदि उप-सभापति सभा का सदस्य न रह जायगा, तो उसका स्थान रिक्त हो जायगा। सभापति के पास अपने हस्ताक्षर में त्याग-पत्र भेजकर वह स्वयं अपने पद से अलग हो सकता है। यदि परिषद् चौदह दिन के नोटिस के पश्चात तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से उसके हटाने का प्रस्ताव करे और लोक-सभा उसे स्वीकार करले तो भी उसे अपने पद से हटना पड़ेगा। सभापति की अनुपस्थिति में अथवा जब वह राष्ट्रपति के स्थान पर काम कर रहा हो, उप-सभापति सभापति की भाँति काम करेगा। सभापति और उप-सभापति दोनों की अनुपस्थिति में या दोनों के स्थान रिक्त होने पर, सभा अपने किसी

अन्य सदस्य को स्थानापन्न सभापति चुनेगी। सभापति के हटाये जाने के संकल्प पर विचार होते समय सभापति और उप-सभापति के हटाये जाने के संकल्प पर विचार होते समय उप-सभापति, सभा का सभापतित्व न करेंगे। जब राज्य-परिषद् उप-सभापति के हटाये जाने के संकल्प पर विचार कर रही हो, उस समय सभापति विचार में भाग ले सकेंगे, पर उन्हें वोट देने का अधिकार न होगा। सभा के सभापति और उप-सभापति को वही वेतन मिलेगा जो संविधान-सभा के सभापति और उप-सभापति को मिलता था।

लोक-सभा अपने सदस्यों में से एक को अध्यक्ष और दूसरे को उपाध्यक्ष चुनेगी और जब-जब इनके स्थान रिक्त होंगे, नये निर्वाचन किये जायँगे। स्थान रिक्त होने, त्याग-पत्र, हटाये जाने तथा वेतन की वही व्यवस्था है जो राज्य-परिषद् की। किंतु यदि लोक-सभा अपने अध्यक्ष के हटाये जाने के संकल्प पर विचार करेगी, तो अध्यक्ष को उसकी कार्रवाई में भाग लेने तथा वोट देने का अधिकार होगा। किंतु यदि दोनों पक्ष के वोट समान होंगे तो वे वोट न दे सकेंगे।

संसद् का कार्यारंभ—राष्ट्रपति को संसद् के दोनों सदनों अथवा किसी एक सदन के अधिवेशन को निर्धारित दिन और स्थान पर कराने का अधिकार है। पदासीन होने के पूर्व प्रत्येक सदस्य को निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ेगी—

"मैं अमुक...जो राज्य-परिषद् (अथवा लोक-सभा) का सदस्य निर्वाचित (या नाम निर्देशित) हुआ हूँ ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और

निष्ठा रखूँगा तथा जिस पद को मैं ग्रहण करनेवाला हूँ, उसके कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करूँगा।"

राष्ट्रपति को संसद के किसी सदन अथवा दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में भाषण देने तथा किसी विचाराधीन विधेयक या किसी अन्य विषय पर संदेश भेजने का अधिकार है। किसी अधिवेशन के आरंभ में वे दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में अपना भाषण देंगे और यह बतलायेंगे कि अधिवेशन क्यों किया गया है। दोनों सदन इस भाषण पर विचार करने के लिए समय निर्धारित तथा अन्य कार्य पर इस चर्चा को पूर्ववर्तिता देने का उपबंध करेंगे। दोनों सदनों के अलग-अलग तथा संयुक्त अधिवेशन के निर्णय बहुमत के आधार पर होंगे। सभापति अथवा अध्यक्ष को प्रथमतः वोट देने का अधिकार न होगा, किंतु यदि किसी विधेयक पर समान वोट आयेंगे तो उन्हें निर्णायक वोट देने का अधिकार होगा। यदि संसद के किसी सदन के कुछ स्थान रिक्त होंगे, तो भी वह अपना काम कर सकेगी। किसी सदन की कार्रवाई इस आधार पर असंवैधानिक न ठहरायी जायगी कि उसके विचार और निर्णय में किसी ऐसे व्यक्ति ने भाग लिया है जिसे इस प्रकार का अधिकार न था। यदि किसी बात पर विचार करते समय किसी सदन का कोरम (Quorum) न रह जायगा, तो या तो अधिवेशन स्थगित कर दिया जायगा या जब तक कोरम न हो, तब तक के लिए निलंबित कर दिया जायगा।

संसद के सदस्यों के अधिकार—संविधान के उपबंधों तथा संसद की प्रक्रिया के विनियामक नियमों और स्थायी आदेशों के अधीन संसद के सदस्यों को अपने विचारों के प्रगट करने की स्वतंत्रता दी गयी है। उनके विरुद्ध किसी प्रकार की कार्रवाई किसी न्यायालय में इस लिए न की जा सकेगी, कि उन्होंने संसद

या उसकी कमेटी में अमुक प्रकार का भाषण तथा अमुक पक्ष में वोट दिया है। संसद्, विधि द्वारा, समय-समय किसी सदन या उसकी कमेटी के सदस्यों के अधिकारों, विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों को निश्चित करेगी। किंतु जब तक इस प्रकार की विधि न बने तब तक उनके अधिकार और उन्मुक्तियाँ वे ही होंगी जो इंगलैंड की कामन-सभा के सदस्यों को प्राप्त हैं। संसद् के सदस्यों को, उसकी विधि द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता मिलेगा और जब-तक वह इस प्रकार की विधि न बनाये, तब तक वही वेतन और भत्ता, जो संविधान-सभा के सदस्यों को मिलता था।

संसद् के अधिकार—संसद् को संघ और समवर्ती सूचियों के समस्त विषयों की विधि बनाने का अधिकार है। संघांतरित राज्यों के विधान-मंडल भी समवर्ती विषयों की विधि बना सकते हैं पर इस शर्त पर कि उनकी विधि को तत्संबंधी संघीय विधि से असंगत न होना चाहिये। असंगत होने पर संघीय विधि ठीक और संघांतरित राज्य की विधि विरोधात्मक अंश तक रद्द समझी जायगी। इस व्यवस्था का एक अपवाद भी है। यदि किसी संघांतरित राज्य की विधि, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किये जाने के पश्चात् उनकी अनुमति प्राप्त कर लेगी, तो संघीय विधि से असंगत होने पर भी, वह उसके लिए ठीक समझी जायगी। संसद् को अवशिष्ट विषयों की भी विधि बनाने का अधिकार है। यदि संकट के काल की घोषणा की जाय, तो घोषणा की अवधि तक संसद् को राज्य-सूची के विषयों की भी विधि बनाने का अधिकार होगा। इस व्यवस्था का विशेष विवरण सातवें परिच्छेद में विधायिनी शक्ति-विभाजन के संबंध में दिया गया है।

प्रति वर्ष संघ के आय-व्यय का ब्यौरा संसद् के समक्ष

उपस्थित किया जायगा और उसकी स्वीकृति के पश्चात ही कार्य-रूप में परिणत किया जायगा। संविधान के अनुसार "विधि के अधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित और न संगृहीत किया जायगा।" "भारत की संचित निधि से कोई धन विधि की अनुकूलता से तथा इस संविधान में उपबंधित प्रयोजनों और रीति से अन्यथा विनियुक्त नहीं किया जायगा।"

संसद् को मंत्रि-परिषद् के निरीक्षण का अधिकार है। वह उसे अपदस्थ तक कर सकती है। संविधान के अनुसार मंत्रि-परिषद् अपनी नीति और कामों के लिए सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि लोक-सभा का विश्वास उससे उठ जायगा और वह उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देगी, तो मंत्रि-परिषद् को या तो पदत्याग करना पड़ेगा या लोक-सभा के विघटन के पश्चात उसके दूसरे निर्वाचन द्वारा लोकमत का ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। लोक-सभा के सदस्यों को प्रश्न, विरोधात्मक प्रस्ताव, तथा स्थगन के प्रस्ताव द्वारा भी कार्यपालिका की नीति और कामों की आलोचना का अधिकार दिया गया है।

यद्यपि संसद् के अधिकार प्रभुतायुक्त हैं तो भी संविधान द्वारा वे कुछ अंश में सीमित कर दिये गये हैं। संसद् को संविधान के उल्लंघन का अधिकार नहीं है। वह उसमें संशोधन कर सकती है, पर जब तक संशोधन न हो जाय, तब तक उसका उल्लंघन नहीं कर सकती। यदि संसद् ऐसी विधि बनाती है जो संविधान से असंगत है तो उच्चतम न्यायालय को उसकी व्याख्या करके उसे असंगत घोषित करने, तथा संविधान की रक्षा का अधिकार है। संसद् के किसी सदन में उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के पदाचरण के विषय में तब तक बहस न होगी,

जब तक वह किसी न्यायाधीश को अपदस्थ करने पर विचार न कर रही हो।

विधान-प्रक्रिया—(Legislative Procedure) विधि-निर्माण की प्रणाली न्यूनाधिक वही है जो सन् १९३५ के भारतीय शासन संबंधी ऐक्ट के द्वारा निर्धारित की गयी थी। संसद के किसी सदन में धन संबंधी विधेयकों के अतिरिक्त समस्त संघीय, समवर्ती और अवशिष्ट विषयों के विधेयक रखे जा सकेंगे। उनके विधि में परिणत होने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि वे दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत हों। यदि संसद के एक सदन द्वारा पास किये गये विधेयक को दूसरा सदन स्वीकार नहीं करता, या उसे इस प्रकार संशोधित करता है जो पहले सदन को मान्य नहीं है या उपस्थित किये जाने के छः माह पश्चात तक उसे पहले सदन में अपने निर्णय के साथ वापस नहीं भेजता, तो राष्ट्रपति को दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन के बुलाने का अधिकार है। इसके बहुमत का निर्णय दोनों सदनों का निर्णय समझा जायगा। दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग अथवा संयुक्त अधिवेशन में स्वीकृत विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए उपस्थित किये जायँगे। उन्हें अनुमति देने या न देने या विधेयक को अपने संदेश के साथ पुनर्विचार के लिए लौटा देने का अधिकार है। यदि पुनर्विचार के पश्चात् संसद के दोनों सदन उसे मौलिक या संशोधित रूप में पुनः पास करेंगे, तो राष्ट्रपति अनुमति देने से इनकार न कर सकेंगे।

संसद के दोनों सदनों के संबंध के विषय में निम्नलिखित बातें भी उल्लेखनीय हैं—(१) संसद में लंबित (Pending) विधेयक सदनों के सत्रावसान के कारण समाप्त न हो जायँगे।

(२) राज्य-परिषद् में लंबित विधेयक जिसे लोक-सभा ने पास नहीं किया है, लोक-सभा के विघटन पर समाप्त न होगा। (३) लोक-सभा में लंबित विधेयक उसके विघटन पर समाप्त समझा जायगा। (४) लोक-सभा द्वारा स्वीकृत विधेयक जो राज्य-परिषद् के विचाराधीन है, साधारणतया उसके विघटन के पश्चात् समाप्त समझा जायगा। (५) संविधान के अंतर्गत संसद् के प्रत्येक सदन को अपनी प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन के नियम बनाने का अधिकार है। पर संयुक्त अधिवेशन के प्रक्रिया के नियम राज्य-परिषद् के सभापति और लोक-सभा के अध्यक्ष के परामर्श के पश्चात राष्ट्रपति बनावेंगे। (६) संयुक्त अधिवेशन में लोक-सभा का अध्यक्ष सभापति का आसन ग्रहण करेगा। उसकी अनुपस्थिति में ऐसा व्यक्ति सभापति बनेगा जो यथास्थित नियमों के अंतर्गत निर्धारित किया जाय।

धन और वित्तीय विधेयक—धन-विधेयकों की विशेष व्यवस्था की गयी है। ये केवल लोक-सभा में ही आरंभ होंगे। यदि कोई धन-विधेयक लोक-सभा द्वारा स्वीकृत हो गया हो तो वह राज्य-परिषद् में उसकी सिफारिश के लिए भेजा जायगा। सिफारिश के सहित चौदह दिन में, उस विधेयक को लोक-सभा में वापस आ जाना चाहिये। यदि चौदह दिन में मौलिक या संशोधित रूप में वह वापस नहीं आता तो वह राज्य-परिषद् द्वारा स्वीकृत समझा जायगा। किंतु यदि राज्य-परिषद्, निर्धारित अवधि के भीतर, विधेयक को अपनी सिफारिशों के साथ, लोक-सभा में लौटा देगी, तो लोक-सभा उस पर पुनः विचार करेगी। उसे अधिकार है कि वह राज्य परिषद् के किसी संशोधन को स्वीकार करे अथवा न करे। यदि कोई विधेयक राज्य-परिषद् की सिफारिशों के बिना लोक-सभा द्वारा स्वीकृत होगा, तो उसके

साथ लोक-सभा के अध्यक्ष को अपना प्रमाण-पत्र लगाना पड़ेगा। इस प्रकार धन-विधेयक जब संसद् की दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत हो जायँगे तो वे राष्ट्रपति के पास उनकी अनुमति के लिए भेजे जायँगे और उनकी अनुमति प्राप्त करके विधि बन जायँगे।

निम्नलिखित विषयों के विधेयक धन-विधेयक निर्धारित हुए हैं—

(१) जो किसी कर को लगाते, बढ़ाते, हटाते, बदलते या विनियमित करते हों।

(२) जो भारत-सरकार द्वारा ऋण लेने या गारंटी देने या भारत-सरकार द्वारा लिये गये अथवा लिये जानेवाले धन-संबंधी उत्तरदायित्वों का संशोधन या विनियमन करते हों।

(३) जो भारत की संचित या आकस्मिक निधि की रक्षा तथा उसमें धन डालने या उससे धन निकालने के संबंध में हों।

(४) जो भारत की संचित निधि से धन का विनियोग करते हों।

(५) जो किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करते तथा ऐसे व्यय को बढ़ाते हों।

(६) जो उपरिलिखित विषयों के आनुषंगिक विषयों से संबद्ध हों।

अमुक विधेयक धन-विषयी है या नहीं, इसके संबंध में लोक-सभा के अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होगा।

संसद् के वित्तीय अधिकारों के अंतर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं—(१) वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा, (२) अनुदान की माँग, (३) विनियोग विधेयक, (४) अन्य वित्तीय विधेयक। प्रति वित्तीय वर्ष राष्ट्रपति-संसद् के सम्मुख वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा पेश करावेंगे। व्यय के दो भाग होंगे, पहला वह जो

संचित निधि पर भारित है और दूसरा वह जो इसके अतिरिक्त है। निम्नलिखित व्यय संचित निधि पर भारित व्यय है—

(१) राष्ट्रपति का वेतन, भत्ता और उनके पद-संबंधी अन्य खर्च।

(२) राज्य-परिषद् के सभापति और उप-सभापति तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का वेतन और भत्ता।

(३) ऐसे ऋण-भार जिनका उत्तरदायित्व भारत-सरकार पर हो।

(४) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके बारे में दिये जानेवाले वेतन, भत्ते और पेंशनें।

(५) संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके बारे में दी जानेवाली पेंशनें।

(६) भारत के राज्य-क्षेत्र के अंतर्गत उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को पेंशनें। इसमें पृष्ठ १५२ पर दी गयी तालिका के अ-वर्ग के उन राज्यों के न्यायाधीशों की भी पेंशनें सम्मिलित हैं जो संविधान के आरम्भ में उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का प्रयोग करते थे।

(७) भारत के नियंत्रक-महालेखा-परीक्षक (Controller Auditor General) को और उनके बारे में दिये जानेवाले वेतन और भत्ते।

(८) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायालय के निर्णय के संबंध का व्यय।

(९) अन्य कोई व्यय जो संविधान या संसद्, विधि द्वारा, इस प्रकार का निश्चित करे।

व्यय की उक्त मदें संसद् के वोट पर निर्भर न होंगी, पर वह उनके विषय में वाद-विवाद कर सकेगी। व्यय की अन्य

मदें संसद् की स्वीकृति पर होंगी। उसे अधिकार है कि वह उन्हें स्वीकार करे अथवा अस्वीकार, या उनमें आवश्यक परिवर्त्तन कर दे। इस प्रकार संसद् अनुदान की माँगों (Demands for Grants) को मंजूर करेगी। उसे उन माँगों की भी स्वीकृति का अधिकार है जिनके अनुसार संघ की आय होगी। ये सब विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) के अंतर्गत आवेंगी। संघ के प्रत्येक वित्तीय विधेयक अथवा अनुदान के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश का होना आवश्यक है।

संसद् की विशेषताएँ—इस परिच्छेद को समाप्त करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि संसद् की कुछ विशेषताओं को बतला दिया जाय। वे इस प्रकार हैं—

(१) संसद् का अभी तक निर्वाचन नहीं हुआ है। वह भविष्य की संस्था है। आजकल पूर्वकालीन संविधान-सभा[1] संसद् का काम कर रही है।

(२) संसद् का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा। संसार के राजनीतिक इतिहास में शायद ही कोई ऐसा उदाहरण मिले, जिसमें इतने अधिक व्यक्तियों को एकदम मताधिकार दिया गया हो।

(३) संसद् सर्व-प्रभुता-संपन्न-संस्था है। लोक-सभा का स्थान,

---

१. पूर्व संगठित संविधान-सभा से वे सदस्य निकल गये हैं जो किसी राज्य के विधान-मंडल के सदस्य थे। उनके स्थान नये निर्वाचनों द्वारा भर दिये गये हैं। कुछ भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि भी, (जैसे हैदराबाद) जो संविधान-सभा में उपस्थित न थे, अब उसके सदस्य हैं।

राज्य-सभा के स्थान से कुछ उच्चतर समझा गया है। यह बात वित्तीय विधेयकों की व्यवस्था से स्पष्ट है। राष्ट्रपति भी संसद् की सत्ता में अधिक हस्तक्षेप नहीं कर सकते। वे उसके द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को, उसके पास अपने सुझावों के साथ पुनर्विचार के लिए लौटा सकते हैं। पर यदि वह उनके सुझावों को नहीं मानती, तो उन्हें उसके द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को अपनी अनुमति देनी पड़ती है। संसद् के दोनों सदन उनके द्वारा जारी की गयी आर्डीनेंसों तथा संकटकालीन घोषणा को रद्द कर सकते हैं। वे महाभियोग के प्रस्तावों को, निर्धारित बहुमत से स्वीकार करके उन्हें अपदस्थ तक कर सकते हैं।

(४) नये संविधान में न्यायालयों द्वारा समीक्षा की व्यवस्था है। संघ-संविधानों की यह विशेषता कुछ देशों में पायी जाती है। इसके अनुसार उच्चतम न्यायालय को संविधान की व्याख्या तथा कानूनों की समीक्षा करके उनकी संवैधानिकता के निर्णय का अधिकार है। उच्चतम न्यायालय का निर्णय सभी को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार न्यायालय द्वारा संविधान की अतिक्रमण (Violation) से रक्षा होगी।

(५) नये संविधान द्वारा दोनों सदनों के मतभेद को दूर करने के लिए उनके संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था है। इसमें भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट का प्रभाव स्पष्ट है। अन्य देशों में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं पायी जाती। संयुक्त-राज्य अमरीका में ऐसे मतभेद को दूर करने के लिए दोनों सदनों की कमेटियों के सम्मेलन होते हैं। फलस्वरूप जो कुछ अन्तिम निर्णय होता है वह समझौते के आधार पर होता है। भारतीय व्यवस्था में समझौते का विशेष स्थान नहीं है। अंतिम निर्णय वोट पर निर्भर करेगा; जिसमें लोकसभा, बहुसंख्यक होने के

कारण, अपने मत को राज्य-परिषद् पर लाद देगी। उक्त व्यवस्था राज्य-परिषद् के अधिक प्रभावशाली हो जाने की आशंका से भी मुक्त नहीं है। यदि किसी समय लोक-सभा के सदस्य किसी विचाराधीन विधेयक के पक्ष और विपक्ष में न्यूनाधिक बराबर संख्या में हुए, उस समय उपरिवर्णित व्यवस्था के कारण, राज्य-परिषद् का निर्णय ही दोनों सदनों का निर्णय होगा।

(६) राष्ट्रपति को, किंचित काल के लिए, संसद् द्वारा स्वीकृत विधेयकों को, अपनी अनुमति न देकर, विलंबित करने का अधिकार है। इस अधिकार का उपयोग भी मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा पर होगा। लोक-सभा में पराजित मंत्रि-परिषद् इस प्रकार की मंत्रणा न दे सकेगा। उत्तरदायी शासन की व्यवस्था के कारण, ऐसे मंत्रि-परिषद् को पद-त्याग करना अथवा लोकमत के ज्ञान के लिए नया निर्वाचन कराना चाहिए। लोक-सभा में विजयी मंत्रि-परिषद् को ऐसी मंत्रणा देने की अवश्यकता ही न पड़ेगी। अतएव बहुत संभव है कि अपने व्यावहारिक रूप में राष्ट्रपति का उक्त अधिकार न्यूनाधिक नहीं के बराबर हो जाय।

(७) प्रक्रिया में किसी प्रकार की अनियमता के आधार पर, संसद् की किसी कार्यवाही की मान्यता पर कोई आपत्ति न की जायगी।

(८) भारत के प्रत्येक मंत्री और महामान्यवादी (Advocate General) को अधिकार होगा कि वह संसद् के किसी भी सदन, दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन तथा संसद् की किसी कमेटी में जिसका वह सदस्य है, बोले तथा दूसरे प्रकार की कार्रवाइयों में भाग ले, किंतु केवल इस व्यवस्था के कारण ही उसे मतदान का अधिकार न होगा।

(९) संसद् का कार्य हिंदी या अंगरेजी में किया जायगा।

यदि कोई सदस्य हिंदी या अंगरेजी में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति न कर सके तो राज्य-परिषद् के सभापति या लोक-सभा के अध्यक्ष या ऐसे रूप में कार्य करने वाले व्यक्तियों की आज्ञा से वे अपने-अपने सदनों में अपनी मातृभाषा द्वारा अपनी अभिव्यक्ति कर सकेंगे। जब तक संसद् विधि द्वारा कोई दूसरी व्यवस्था न करे, पंद्रह बरस के पश्चात अंगरेजी का प्रयोग बंद हो जायगा।

दसवाँ परिच्छेद

संघीय न्यायपालिका

उच्चतम न्यायालय

संघ-संविधानों में न्यायालयों का स्थान—उच्चतम न्यायालय की रचना—न्यायाधीशों की योग्यताएँ—प्रधान न्यायाधीश के अधिकार—उच्चतम न्यायालय के अधिकार— उच्चतम न्यायालय संबंधी अन्य बातें।

संघ-संविधानों में न्यायालयों का स्थान—संघ-संविधान प्रायः लिखित और अनमनीय होते हैं और उनमें संविधान द्वारा संघ और संघांतरित राज्यों में काम का बंटवारा कर दिया जाता है। न्यायालयों का भी विशेष स्थान होता है। संघ-संविधान एक इकरारनामे के समान होता है। जिसके संबंध में मतभेद का होना स्वाभाविक है। अतएव इकरारनामे की रक्षा तथा उसकी व्याख्या के लिए न्यायालयों के विशेष स्थान की व्यवस्था होती है। भारत के नवीन संविधान में एक उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था की गयी है जिसका काम संविधान की रक्षा एवं व्याख्या है। संविधान के इन अनुच्छेदों पर संयुक्त-राज्य अमरीका का प्रभाव स्पष्ट है।

उच्चतम (Supreme) न्यायालय की रचना—भारत के उच्चतम न्यायालय में मुख्य न्यायाधिपति के अतिरिक्त अधिक से अधिक सात न्यायाधीश होंगे। संसद् को विधि द्वारा न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने का अधिकार है। उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक

न्यायाधीश की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। नियुक्ति के समय वे उच्चतम या उच्च न्यायालय के उन न्यायाधीशों का परामर्श लेंगे, जिन्हें वे उचित समझें, पर मुख्य न्यायाधिपति के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में मुख्य न्यायाधिपति का परामर्श अवश्य लिया जायगा। इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि मुख्य न्यायाधिपति अथवा न्यायाधीशों की नियुक्ति में विशेषज्ञों का परामर्श लिया जायगा। पर राष्ट्रपति के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वे उस परामर्श के अनुसार ही न्यायाधीशों को नियुक्त करें। नियुक्ति की उक्त व्यवस्था भारतीय संविधान की एक विशेष बात है। उसका उद्देश्य प्रधानतया यह है कि ऐसे ही व्यक्ति न्यायाधीश नियुक्त हों जिन्हें अपने काम का पद के अनुरूप ज्ञान हो।

न्यायाधीशों की योग्यताएँ—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए कुछ योग्यताएँ निर्धारित कर दी गयी हैं। भारत के नागरिक होने के अतिरिक्त, वे इस प्रकार हैं—

(१) वे व्यक्ति जो किसी उच्च न्यायालय या दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में मिलाकर कम से कम पाँच बरस तक न्यायाधीश रह चुके हों।

(२) वे वकील जो किसी उच्च न्यायालय या दो या अधिक उच्च न्यायालयों में मिला कर कम से कम दस बरस तक वकालत कर चुके हों।

(३) वे व्यक्ति, जो राष्ट्र-पति के मतानुकूल, सुविख्यात विधि-विशेषज्ञ हों।

नियुक्त न्यायाधीश ६५ बरस की अवस्था तक अपने पद पर रह सकेंगे। वे राष्ट्र-पति के पास त्यागपत्र भेजकर इसके पूर्व भी अलग हो सकते हैं। यदि संसद का प्रत्येक सदन कुल सदस्यों

के आधे तथा उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से अयोग्यता या दुराचार के कारण किसी न्यायाधीश के निकालने की प्रार्थना करे, तो राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा उसे निकाल सकेंगे। मुख्य न्यायाधिपति को ५००० रु० मासिक वेतन मिलेगा और अन्य न्यायाधीशों को ४००० रु० मासिक। इसके अतिरिक्त उन्हें बिना किराये का मकान भी मिलेगा।

पदासीन होने के पूर्व प्रत्येक न्यायाधीश को राष्ट्र-पति या उनके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सम्मुख निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ेगी—

"मैं,···अमुक···जो भारत के उच्चतम न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश (न्यायाधीश) नियुक्त हुआ हूँ, ईश्वर की शपथ / सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञान लेता हूँ / करता हूँ—कि मैं विधि द्वारा संस्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूँगा, तथा मैं सम्यक् प्रकार से और निष्ठापूर्वक तथा अपनी पूर्ण योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्तव्यों का भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करूँगा तथा विधियों की मर्यादा बनाये रखूँगा।"

मुख्य न्यायाधिपति के अधिकार—मुकदमों के निर्णय के अतिरिक्त, मुख्य न्यायाधिपति को कुछ पृथक अधिकार दिये गये हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं। यदि किसी समय उच्चतम न्यायालय का कोरम पूरा न हो तो मुख्य न्यायाधिपति, संबद्ध उच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के परामर्श से, उस न्यायालय के उपयुक्त न्यायाधीश से उच्चतम न्यायालय में काम करने की लिखित प्रार्थना करेंगे और वह न्यायाधीश अन्य कामों

के पूर्व मुख्य न्यायाधिपति की आज्ञा का पालन करेगा। उच्चतम या संघीय न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीशों से भी वे इसी प्रकार की प्रार्थना कर सकेंगे। दोनों अवस्थाओं में राष्ट्रपति की अनुमति लेनी पड़ेगी। उच्चतम न्यायालय के अधिकारी और कर्मचारी, मुख्य न्यायाधिपति या उनके द्वारा निर्धारित न्यायाधीश या अधिकारी द्वारा नियुक्त होंगे। संक्रमण काल में यदि राष्टपति का पद किसी कारण रिक्त होगा, तो जब तक नये राष्ट्रपति का निर्वाचन न हो, उच्चतम न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति की भाँति काम करेगा।

उच्चतम न्यायालय के अधिकार—उच्चतम न्यायालय को तीन प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं—

(१) **मौलिक अधिकार**—कुछ अभियोग ऐसे हैं जो उच्चतम न्यायालय में ही आरंभ तथा निर्णीत होंगे; जैसे संघ-सरकार और किसी संघांतरित राज्य और राज्यों के बीच में वे मुकद्दमें जिनमें विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न अंतर्ग्रस्त है जिस पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर है; इसी प्रकार के वे मुकद्दमें जिनमें संघ-सरकार, संघांतरित राज्य तथा राज्यों के सहित एक ओर हो और दूसरा संघांतरित राज्य या दो से अधिक राज्य दूसरी ओर और वे मुकद्दमें भी जो दो या दो से अधिक संघांतरित राज्यों के बीच में हों। वे मामले जो नये संविधान के आरंभ के पूर्व की गयी ऐसी संधि, सनद या समझौते के संबंध में उठेंगे, जो संविधान के लागू होने के पश्चात् भी जारी रहे हैं या वे मुकद्दमें जो ऐसी संधि, सनद या समझौते के संबंध में होंगे जो उच्चतम न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र से बाहर रखे गये हैं, उसमें आरंभ न हो सकेंगे।

(२) अपीलें सुनने का अधिकार—उच्चतम न्यायालय को दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मुकद्दमों की अपीलें सुनने का अधिकार है। उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध दीवानी की अपीलें तभी हो सकेंगी, जब वे कम से कम २०,००० रुपये या इसी मूल्य की संपत्ति की हों या ऐसे मामलों के विषय में हों, जो उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णय के योग्य समझे जायँ। फौजदारी के मुकदमों की अपीलें तीन शर्तोंपर होंगी—(१) जब उच्च न्यायालय ने निम्न-न्यायालय द्वारा बरी किये गये अभियुक्त को, अपील करने पर, प्राणदंड दिया हो। (२) जब उच्च न्यायालय ने निम्न न्यायालय से हटाकर मामले को अपने विचाराधीन किया तथा अभियुक्त को प्राणदंड दिया हो और (३) जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे कि मुकद्मा ऐसा है जिसकी अपील उच्चतम न्यायालय में होनी चाहिये। यदि उच्च न्यायालय किसी अभियोग के विषय में यह प्रमाण-पत्र दे कि उससे संविधान के किसी अंग की व्याख्या का प्रश्न उठता है, तो उसकी अपील भी उच्चतम न्यायालय में होगी। उच्चतम न्यायालय को स्वयं यह अधिकार है कि वह अपने सम्मुख, अपने विवेक के अनुसार, अपील करने की आज्ञा दे दे। यह अपने निर्णयों की समीक्षा भी कर सकेगा। सैनिक न्यायालयों के निर्णयों की अपीलें उच्चतम न्यायालय में न होंगी।

परामर्श का अधिकार—उच्चतम न्यायालय को परामर्श देने का भी अधिकार है। यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह विदित हो कि कानून या तथ्य (fact) का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ या होनेवाला है जो इस प्रकार का तथा ऐसे सार्वजनिक महत्व का है कि इस पर उच्चतम न्यायालय का मत लेना चाहिये, तो वे उस प्रश्न को उसके विचारार्थ सौंपेंगे और वह आवश्यक

कार्रवाई के पश्चात्, राष्ट्रपति के सम्मुख अपनी उचित राय रख सकेगा।

उच्चतम न्यायालय संबंधी अन्य बातें—उच्चतम न्यायालय से संबद्ध निम्नलिखित अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं—

(१) उच्चतम न्यायालय के अधिवेशन दिल्ली या किसी अन्य ऐसे स्थान में होंगे जिन्हें मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्र-पति की अनुमति से निश्चित करें।

(२) उच्चतम न्यायालय अभिलेख (Record) का न्याया-लय है और उसे अपने अवमान करनेवालों को दंड देने के सहित ऐसे न्यायालयों की सब शक्तियां प्राप्त हैं।

(३) संसद् को उच्चतम न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र के बढ़ाने का अधिकार है।

(४) उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित कानून का बंधन भारत के राज्यक्षेत्र में स्थित सब न्यायालयों पर होगा।

(५) भारत के राज्य-क्षेत्र के समस्त असैनिक और न्याय-संबंधी अधिकारी उच्चतम न्यायालय की सहायता से काम करेंगे।

(६) संसद् द्वारा निर्मित विधियों के अंतर्गत, राष्ट्रपति के अनुमोदन से, उच्चतम न्यायालय अपनी कार्य-पद्धति के नियम बना सकेगा।

(७) ऐसे मुकद्दमों की सुनवायी, जिनका संबंध किसी महत्व-पूर्ण वैधानिक प्रश्न से हो या जो राष्ट्रपति द्वारा परामर्श के लिए उसके अधीन किये गये हों, कम से कम पाँच न्यायधीश करेंगे।

(८) उच्चतम न्यायालय के सब निर्णय खुली अदालत में दिये जायँगे। निर्णय बहुमत के आधार पर होंगे।

(९) उच्चतम न्यायालय को जनता के मूल अधिकारों तथा संविधान की रक्षा का अधिकार है।

(१०) कोई व्यक्ति जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में पद धारण कर चुका है, भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय अथवा अधिकारी के सम्मुख वकालत न कर सकेगा।

उपसंहार—उच्चतम न्यायालय की उक्त व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि भारत के नये संविधान में उसका स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। संविधान-निर्माताओं ने उसे अधिक से अधिक योग्य तथा स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न किया है। उसके निर्णयों की अवहेलना नहीं की जा सकती। वह अपने अवमान करने वालों को दंड दे सकता है। संसद से विधि द्वारा निदेश, आदेश या लेख, जिनके अंतर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, (Habeas Corpus) परमादेश (Mandamus) प्रतिषेध (Prohibition) अधिकार-पृच्छा (Quo Warranto) उत्प्रेषण (Certiorari) के लेख भी सम्मिलित हैं, के अधिकारों को पाकर वह इनका प्रयोग कर रहा है तथा कर सकेगा। उच्चतम न्यायालय के उक्त अधिकारों का होना अनिवार्य था। संघ-संविधान योग्य, निष्पक्ष, स्वतंत्र और निर्भय न्यायालयों के बिना सफल नहीं हो सकता।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

संघांतरित राज्यों का शासन

कार्यपालिका, विधान-मंडल और न्यायपालिका

भारतीय संघ के अंग—राज्यपाल—मंत्रि-परिषद—राज्यपाल के अधिकार—राज्यपाल और मंत्रिपरिषद का संबंध—राष्ट्रपति और राज्य-पाल का संबंध—राज्यों के विधान-मंडल—विधान-सभा का संगठन—विधान-परिषद का संगठन—संगठन संबंधी अन्य बातें—अल्प-संख्यकों का प्रतिनिधित्व—विधान-मण्डल का कार्यारम्भ—विधान-मण्डल के अधिकार—विधान-मण्डलों की सीमाएँ—विधि-निर्माण की प्रक्रिया—साधारण विधि—धन विधेयकों की प्रक्रिया—मन्त्रिपरिषद और विधान-मंडल का संबंध—विधान-मंडल सम्बन्धी अन्य बातें—उच्च न्यायालय—उच्च न्यायालय के अधिकार—अधीन न्यायालय—अन्य राज्यों की शासन-व्यवस्था।

(१) कार्यपालिका

भारतीय संघ के अंग—प्रत्येक संघ-राज्य दो या अधिक राज्यों के मेल से बनता है। भारत भी राज्यों का संघ है। संविधान द्वारा वे चार भागों में विभाजित किये गये हैं। पहले भाग में उन राज्यों की गणना है जो सन् १९५० ई० के पूर्व प्रांत कहे जाते थे; जैसे आसाम, बंगाल, बिहार, बंबई, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश। दूसरे भाग में उन राज्यों की गणना

है जो पहले भारतीय रियायतों के नाम से प्रसिद्ध थे। इनमें से बड़ी रियासतें, जैसे जम्मू और काश्मीर, हैदराबाद और मैसूर स्वतंत्र संघांतरित इकाइयों के रूप में स्वीकार कर ली गयी हैं और दूसरी रियासतों को मिलाकर संघ बनाये गये हैं। संघांतरित रियासती संघों के नाम राजस्थान, मध्यभारत, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब का रियासती संघ, सौराष्ट्र, ट्रावनकोर-कोचीन तथा विंध्य प्रदेश हैं। तीसरे भाग में उन राज्यों की गणना है जो पहले चीफ़ कमिश्नरों के प्रांत थे। इनकी संख्या इस समय दस है। इनमें कुछ रियासतें भी सम्मिलित हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—पंथ-पिपलोदा सहित अजमेर, भूपाल; बिलासपुर, कुर्ग, कूच-बिहार, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा। चौथे भाग में अंडमान और निकोबार द्वीप-समूहों की गणना है, पर इन्हें राज्य की उपाधि नहीं मिली है। प्रथम दो भागों के संघांतरित राज्यों का शासन कुछ अंतरों के अतिरिक्त, न्यूनाधिक एक ही प्रकार का है। अतएव हम, पहले प्रथम वर्ग के राज्यों के शासन का विवरण देकर, यह बतलायेंगे कि दूसरे वर्ग के राज्यों का शासन उनसे किन बातों में भिन्न है।

राज्यपाल (गवर्नर)—प्रथम वर्ग के प्रत्येक संघांतरित राज्य के लिए एक राज्यपाल (गवर्नर) की व्यवस्था है। राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्ति उसमें निहित है और वह उसका प्रयोग या तो स्वयं करता है या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा। राज्यपाल की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। इस अधिकार का प्रयोग वे मंत्रिपरिषद की सहायता और मंत्रणा से करेंगे। राज्यपाल तभी तक अपने पद पर रह सकेगा जब तक राष्ट्रपति चाहें या वह स्वयं ही त्यागपत्र देकर अलग न हो जाय। इन

दोनों शर्तों के अंतर्गत राज्यपाल का कार्यकाल साधारणतया पाँच बरस होगा। इस अवधि के पश्चात् भी वह उस समय तक अपने पद पर रहेगा, जब तक उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति न हो जाय। कोई व्यक्ति जो भारतीय नागरिक नहीं है तथा जिसकी अवस्था ३५ बरस से कम है, राज्यपाल नियुक्त होने के लिए उपयुक्त न समझा जायगा। राज्यपाल न तो राज्य के विधान-मंडल की किसी सभा का सदस्य होगा और न अपने कार्यकाल में किसी अन्य लाभ-प्रद स्थान को ग्रहण कर सकेगा। उसे पार्लमेंट द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता तथा रहने को बिना किराये का सरकारी निवास-स्थान मिलेगा। पार्लमेंट के तत्संबंधी निर्णय के पूर्व, राज्यपाल को संविधान द्वारा निर्धारित ५५००) रु० मासिक वेतन मिलेगा। उसका वेतन, भत्ता तथा विशेषाधिकार उसके कार्य-काल में घटाये न जायँगे। किसी राज्य के राज्यपाल बनने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उसका निवासी हो। व्यवहार में अभी तक साधारणतया दूसरे राज्यों के प्रभावशाली व्यक्ति ही राज्यपाल नियुक्त हुए हैं। इस पद्धति के अंतस्तल में संभवतः यह भावना है कि दूसरे राज्यों के निवासी अधिक निष्पक्षता के साथ अपने उत्तरदायित्वों का वहन करेंगे।

पदासीन होने के पूर्व राज्यपाल को अपने पद की निम्न-लिखित शपथ लेनी पड़ेगी "मैं······अमुक·········ईश्वर की शपथ लेता हूँ या सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक (राज्य का नाम) के राज्यपाल का कार्यपालन (अथवा राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन) करूंगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, रक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और (मैं राज्य का नाम) की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।"

मंत्रि-परिषद्—राज्यपाल को अपने कार्य-संपादन में मंत्रणा और सहायता देने के लिए, मुख्य-मंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रि-परिषद की व्यवस्था है। मुख्य मंत्री को राजपाल नियुक्त करेंगे और मुख्य मंत्री की मंत्रणा से अन्य मंत्रियों को भी। मुख्य मंत्री की नियुक्ति में राज्यपाल को अपने विवेक के प्रयोग की अधिक गुंजाइश न होगी। उत्तरदायी शासन के आदर्श के कारण उसे उसी व्यक्ति को मुख्य मंत्री नियुक्त करना पड़ेगा, जो प्रांतीय असेंबली के बहु-संख्यक दल का नेता हो। अन्य मंत्री भी साधारणतया प्रांतीय विधान-मंडल के सदस्य होंगे। बाहरी व्यक्ति मंत्री नियुक्त हो सकेंगे, किंतु इस शर्त पर कि यदि छः महीने के भीतर वे प्रांतीय विधान-मंडल के सदस्य नहीं हो जाते, तो उन्हें मंत्रि-पद से हटना पड़ेगा। पदासीन होने के पूर्व मुख्य मंत्री तथा अन्य मंत्रियों को अपने पद तथा गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ेगी। मंत्रि-परिषद् सामूहिक रूप से अपने कामों के लिए विधान-सभा (असेंबली) के प्रति उत्तरदायी होगा। मंत्रियों को विधान-मंडल द्वारा निर्धारित वेतन मिलेगा, किंतु जब तक वह निर्धारित न किया जाय, वे उसी वेतन के अधिकारी होंगे, जो नये संविधान के लागू होने के पूर्व उन्हें मिलता था। राज्यपालों को कुछ विवेक के भी अधिकार हैं। उनका निर्धारण वे अपने विवेक के अनुसार करेंगे। इन कामों में राज्यपाल के लिए मंत्रि-परिषद् की सहायता और मंत्रणा से काम करना आवश्यक न होगा। किसी विषय में, मंत्रि-परिषद् ने राज्यपाल को परामर्श दिया या नहीं और यदि दिया तो क्या?—इस विषय में किसी न्यायालय को जांच करने का अधिकार न होगा।

राज्यपाल (गवर्नर) के अधिकार—नये संविधान द्वारा

राज्यपाल को अनेक महत्वपूर्ण अधिकार दिये गये हैं। हम उन्हें तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) कार्यपालिका संबंधी अधिकार—राज्य के सर्वोच्च शासकीय अधिकार राज्य-पाल को हैं। राज्य-सूची के समस्त विषयों पर उसका अधिकार है। समवर्ती सूची पर भी उसका अधिकार है, पर राष्ट्रपति के अधीन रहकर। राज्य के समस्त कार्यपालिका संबंधी कार्य उसके नाम पर किये जायँगे। वह ही मुख्य मंत्री को नियुक्त करेगा और उसकी मंत्रणा के अनुसार अन्य मंत्रियों को। महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) की नियुक्ति का अधिकार भी उसी को है। इस अधिकारी में उन सब योग्यताओं का होना आवश्यक है जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए आवश्यक समझी गयी है। यदि राज्यपाल को किसी समय यह विदित हो कि राज्य पर संकट आनेवाला है, तो वह उसकी सूचना राष्ट्रपति को देगा और यदि वे उसकी सूचना के आधार पर संकट के काल की घोषणा कर देंगे, तो राज्यपाल को राष्ट्रपति के आदेशानुसार काम करना पड़ेगा। वह अपने शासकीय अधिकारों का प्रयोग या तो मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा के अनुसार करेगा या अपने विवेक के अनुसार। उसे अपने विवेक के अनुसार ही, यह निश्चित करने का अधिकार है कि कौन से काम वह मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा से करे और कौन से अपने विवेक के अनुसार।

विधि-निर्माण संबंधी अधिकार—राज्यपाल, राष्ट्रपति की भाँति अपने अपने विधान-मंडलों के अंग हैं। जिन राज्यों के विधान-मंडलों में दो सभाएं हैं वहाँ उसे विधान-परिषद् (लेजिस्लेटिव कौंसिल) के कुछ सदस्यों को मनोनीत करने का

अधिकार है। वह ही विधान-मंडल के अधिवेशनों को कराता तथा विधान-सभा (Legislative Assembly) को विघटित कर सकता है। विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत कोई भी विधेयक उसकी अनुमति के बिना कानून नहीं बन सकता। उसे अनुमति देने, न देने या विधेयक को राष्ट्रपति के आज्ञा के लिए रिजर्व करने का अधिकार है। वह उसे विधान-मंडल के पास पुनर्विचार के लिए भी भेज सकता है। किंतु यदि पुनर्विचार के पश्चात् विधान-मंडल उस विधेयक को पुनः मौलिक या संशोधित रूप में पास करता है तो वह अपनी अनुमति देने से इनकार नहीं कर सकता, पर उच्च न्यायालय के अधिकारों पर कुप्रभाव डालनेवाले विधेयकों को राष्ट्रपति की आज्ञा के लिए रिजर्व कर सकता है। जिन दिनों विधान-मंडल के अधिवेशन न होते हों, वह अध्यादेश (आर्डीनेंसें) जारी कर सकता है। ये विधान-मंडल के अधिवेशन के आरंभ के पश्चात् अधिक से अधिक छः सप्ताह तक लागू रह सकती हैं। इस अवधि के पूर्व भी वे स्वयं राज्यपाल द्वारा वापस ली जा सकती हैं या विधान-मंडल या सभा के प्रस्ताव द्वारा रद् की जा सकती हैं। राज्यपाल ऐसे विषयों की आर्डीनेंसें न जारी करेगा, जिनके संबंध के प्रस्ताव वह राष्ट्रपति की आज्ञा के लिये रिजर्व करता। राज्यपाल को विधान-सभा अथवा विधान-मंडल की दोनों या एक सभा में अपना भाषण देने का अधिकार है। वह विचाराधीन किसी विधेयक के विषय में अपना संदेश भेज सकेगा और संबद्ध सभा यथासुविधा शीघ्रता से उस पर विचार करेगी। प्रत्येक अधिवेशन के आरंभ में राज्यपाल विधान-सभा या विधान-मंडल में अपना भाषण देगा जिस पर विचार करने के लिए पूर्ववर्तिता देने का उपबंध किया जायगा।

आर्थिक अधिकार—प्रति वर्ष राज्यपाल राज्य की आय-व्यय का लेखा, विधान-मंडल और जहाँ केवल एक ही सभा हो, विधान-सभा के समक्ष पेश करावेंगे। विधान-मंडल या सभा किसी ऐसी माँग को स्वीकार न करेगी जो राज्यपाल के नाम पर न हो। धन-संबंधी विधेयक केवल विधान-सभा में ही आरंभ होंगे। अमुक विधेयक धन-संबंधी है अथवा नहीं, इस संबंध में अध्यक्ष का प्रमाणपत्र सर्वमान्य होगा। विधान-मंडल अथवा सभा द्वारा स्वीकृत धनसंबंधी विधेयक भी राज्यपाल की अनुमति के लिए उनके समक्ष उपस्थित किये जायँगे।

न्याय संबंधी अधिकार—राज्यपाल को कुछ न्याय संबंधी अधिकार भी दिये गये हैं। जिस विषय पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है उसके संबंध में किसी विधि के विरुद्ध किसी अपराध के लिए सिद्धदोष किसी व्यक्ति के दंड की क्षमा, प्रविलंबन, विराम और परिहार करने की अथवा दंडादेश का निलंबन, परिहार या लघूकरण करने की शक्ति राज्यपाल को दी गयी है।

अधिकारों की सीमा—राज्यपाल के अधिकार असीमित नहीं वरन् सीमित हैं। उसका संबंध केवल उन्हीं विषयों से है, जिनका उल्लेख राज्य-सूची में है। इनके संबंध में भी वह साधारणतया मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा और सहायता से काम करेगा। यदि वह किसी काम को अपने विवेक के अनुसार करेगा, तो उसके संबंध में या तो वह राष्ट्रपति के अधीन हो जायगा, या ऐसी परिस्थिति को उत्पन्न करेगा कि मंत्रिपरिषद् त्याग-पत्र की धमकी देकर उससे अपनी मंत्रणा के अनुसार काम करावेगा। अतएव व्यवहार में वह साधारण काल में राज्य का

संवैधानिक शासक-मात्र होगा और संकट के काल में राष्ट्रपति के अधीन राज्य के अधिकारी के समान।

राज्यपाल और मंत्रि-परिषद् का संबंध—राज्यपाल और मंत्रि-परिषद् के संबंध के विषय में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—(१) राज्यपाल मुख्य मंत्री और उसकी सिफारिश पर अन्य मंत्रियों को नियुक्त करेंगे। (२) राज्यपाल अपनी कार्यपालिका शक्ति का उपभोग मंत्रि-परिषद् की सहायता और मंत्रणा से करेंगे। अपने विवेक के अधिकारों के अतिरिक्त वे अन्य कामों को मंत्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार करेंगे। (३) अपने विवेक के कामों के अतिरिक्त अन्य सरकारी कामों के लिए, राज्यपाल काम के बँटवारे के नियम बनावेंगे। (४) प्रत्येक मुख्य मंत्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्यकार्यों के शासन संबंधी मंत्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चय तथा विधान के लिए प्रस्थापनाओं की सूचना राज्यपाल को दे, शासन संबंधी जिन विनिश्चयों तथा विधान संबंधी जिन प्रस्थापनाओं की सूचना राज्यपाल मांगें, उसको दे, तथा जिस विषय पर केवल एक मंत्री ने विनिश्चय किया हो उसे राज्यपाल के कहने से समस्त मंत्रिपरिषद् के विचाराधीन करे।

राष्ट्रपति और राज्यपाल का संबंध—राष्ट्रपति और राज्यपाल के संबंध में निम्नलिखित बातें लल्लेखनीय हैं—(१) राज्यपालों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। इस काम को वे अपनी मंत्रिपरिषद् के परामर्श से करेंगे। (२) कुछ विषय ऐसे हैं जिनके संबंध के स्वीकृत विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किये जायँगे और उनकी अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् ही, विधि बन सकेंगे; जैसे राज्य द्वारा किसी संपत्ति का अधिकृत किया जाना; समवर्ती विषयों के ऐसे स्वीकृत विधेयक

जो संसद द्वारा निर्मित पूर्वकालीन विधियों से असंगत हों। (३) यदि राज्यपाल को किसी समय यह विदित हो कि संविधान युक्त शासन का चलाना असंभव है, तो वह इस बात की सूचना राष्ट्रपति को देगा। ऐसी अवस्था में राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह घोषणा द्वारा राज्यपाल के सब अधिकारों को अपने हाथ में कर लें। (४) किसी आकस्मिकता में, जिसकी संविधान द्वारा व्यवस्था न हो, अपने कृत्यों के निर्वहन के लिए, राज्यपाल जैसा उचित समझें, उपबंध कर सकेंगे।

(२) विधान-मंडल

राज्यों के विधान-मंडल—नये संविधान में छः राज्यों, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल, बंबई और मद्रास के लिए विधान-मंडलों की व्यवस्था है और शेष के लिए केवल विधान-सभा की। सदनों के नाम विधान-परिषद् (Legislative Council) और विधान-सभा (Legislative Assembly) हैं। संसद को, विधान-परिषदों के तोड़ने तथा नयी विधान-परिषदों की व्यवस्था करने का अधिकार है। ऐसी कारवाई वह तभी करेगा, जब राज्य की विधान-सभा उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई और कुल सदस्यों के आधे से अधिक बहुमत से तत्संबंधी विधेयक पास करे। इस प्रकार की व्यवस्था संविधान में संशोधन न समझी जायगी।

विधान-सभा का संगठन—विधान-सभा प्रत्यक्ष निर्वाचन तथा प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित होगी। प्रत्येक ७५००० जनसंख्या के लिये एक से अधिक प्रति निधि न होगा। अधिक से अधिक सदस्यों की संख्या

५०० निर्धारित हुई है और कम से कम ६०। कार्य-काल पाँच बरस है, पर वह इसके पूर्व विघटित की जा सकती है। संकट के काल में उसका कार्यकाल एक एक बरस करके बढ़ाया जा सकता है, पर संकट-काल की घोषणा के अंत के पश्चात् छः महीने से अधिक नहीं। सभा अपने ही सदस्यों में से एक को अध्यक्ष और दूसरे को उपाध्यक्ष चुनेगी। ये अधिकारी तभी तक अपने पद पर रह सकेंगे जब तक सभा के सदस्य बने रहें। त्यागपत्र देकर वे अपने पद से हट सकते हैं। सभा स्वयं कुल सदस्यों के आधे से अधिक मतों द्वारा उन्हें अपदस्थ कर सकती है। अध्यक्ष के स्थान के रिक्त होने पर उपाध्यक्ष उसके स्थान पर काम करेगा। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों को राज्य की विधान-सभा अथवा मंडल द्वारा निर्धारित वेतन मिलेगा।

विधान-परिषद् (Legislative Council) का संगठन—विधान-परिषद् के सदस्यों की संख्या विधान-सभा के सदस्यों की एक चौथाई निश्चित की गयी है पर वह ४० से कम न होगी। उसका संगठन इस प्रकार किया जायगा—

(१) एक तिहाई सदस्य म्युनिसिपल बोर्डों, जिला बोर्डों तथा संसद (पार्लमेंट) द्वारा निर्धारित अन्य स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होंगे।

(२) लगभग १/१२ भाग, विश्व-विद्यालयों के तीन बरस पुराने स्नातकों या पार्लमेंट द्वारा निर्धारित समान योग्यता वाले अन्य व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित होंगे।

(३) लगभग १/१२ भाग ऐसे अध्यापकों द्वारा निर्वाचित होंगे जो माध्यमिक (Secondary) या उनसे बड़े स्कूलों में कम से कम तीन बरस से काम कर रहे हों।

(४) एक तिहाई सदस्य राज्य की विधान-सभा, ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित करेगी जो उसके सदस्य न हों।

(५) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जायँगे।

विधान परिषद् एक स्थायी संस्था होगी। पर प्रत्येक दूसरे बरस, उसके एक तिहाई सदस्यों का नया निर्वाचन होगा। परिषद् अपने ही सदस्यों में से एक को सभापति और दूसरे को उप-सभापति निर्वाचित करेगी। वेतन, त्याग-पत्र तथा अपदस्थ होने की व्यवस्था विधान-परिषद् के संबंध में वही है जो विधान-सभा के संबंध में।

संगठन संबंधी अन्य बातें—विधान-सभा के निर्वाचन में वोट देने के लिए निम्न-लिखित योग्यताओं का होना आवश्यक समझा गया है—

(१) भारतीय नागरिक तथा उस राज्य का निवासी होना।

(२) मानसिक दृष्टि से ठीक होना, अर्थात् किसी उपयुक्त न्यायालय द्वारा वह विकृत मस्तिष्क का न घोषित किया गया हो।

(३) किसी ऐसे अपराध के लिए दंडित न होना जिसके कारण वह वोट देने के अधिकार से वंचित कर दिया गया हो।

(४) निर्वाचन संबंधी दुराचरण के लिए अपराधी न होना।

(५) निर्वाचकों की सूची में उसके नाम का होना।

(६) कम से कम २१ बरस की आयु का होना।

सदस्यता के लिए भी यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति भारतीय नागरिक हो और विधान-सभा के लिए कम से कम २५ और विधान-परिषद् के लिए कम से कम ३० बरस का हो। उसे निम्नलिखित अयोग्यताओं से भी मुक्त होना चाहिये।

(१) भारत सरकार या राज्य की सरकार में लाभप्रद पदों के अधिकारी, जब तक वे राज्य के कानून द्वारा मुक्त न कर दिये गये हों।

(२) वे मनुष्य जिन्हें उपयुक्त न्यायालय ने खराब दिमाग का ठहराया हो।

(३) वे दिवालिए जो अपना भुगतान न कर पाये हों।

(४) जो भारत की नागरिकता को छोड़ कर स्वतः दूसरे देशों के नागरिक बन गये हों।

(५) जो संसद द्वारा निर्मित किसी विधि द्वारा अयोग्य ठहराये गये हों।

कोई भी व्यक्ति एक ही समय दो विधान-मंडलों का सदस्य न रहेगा। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जो सदस्यता का अधिकारी नहीं है, विधान-मंडल की कार्रवाई में भाग लेगा तथा मत-दान करेगा, तो उससे प्रतिदिन ५००) रु० के हिसाब से जुर्माना लिया जायगा। यदि विधान-मंडल की किसी सभा का कोई भी सदस्य, सभा की आज्ञा के बिना, ६० दिन तक लगातार अनुपस्थित रहेगा, तो सभा उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगी। विधान-मंडल के सदस्यों को मंडल द्वारा निर्धारित वेतन मिलेगा। विधान-मंडल में दिये गये भाषणों के कारण किसी भी न्यायालय में उनके विरुद्ध किसी प्रकार का आरोप न लगाया जायगा।

अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व—राज्यों की विधान-सभा के सदस्य साधारणतया जनसंख्या के आधार पर निर्वाचित होंगे, पर कुछ अल्प-संख्यकों के लिए स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। प्रत्येक राज्य की विधान-सभा में अनुसूचित जातियों (Castes) और अनुसूचित जन-जातियों (Tribes) के लिए उनकी जन-

संख्या के आधार पर स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं, पर उनका निर्वाचन संयुक्त निर्वाचन के आधार पर होगा। आंग्ल भारतीयों की भी विशेष व्यवस्था की गयी गयी है। यदि किसी राज्य के राज्यपाल को यह विदित हो कि आंग्ल-भारतीयों को यथेष्ट प्रतिनिधित्व नहीं मिला है, तो वह जितने उचित समझे, उतने इस वर्ग के व्यक्ति, विधान-सभा में नामजद कर सकेगा।

विधान-मंडल का कार्यारंभ—राज्यपाल को विधान-मंडल के दोनों सदनों अथवा केवल विधान-सभा के अधिवेशन को निर्धारित दिन और स्थान पर बुलाने का अधिकार है। पदासीन होने के पूर्व प्रत्येक सदस्य को निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ेगी—

"मैं......अमुक......जो विधान-सभा (या विधान-परिषद्) के लिए सदस्य निर्वाचित (तथा नाम निर्देशित) हुआ हूँ
ईश्वर की शपथ लेता हूँ
सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ
कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा तथा जिस पद को मैं ग्रहण करने वाला हूँ उसके कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करूँगा।"

राज्यपाल को विधानमंडल के किसी सदन अथवा दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में भाषण देने का अधिकार है। अतएव प्रत्येक अधिवेशन के आरंभ में विधान-सभा और जहाँ दो सदन हों, वहाँ दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में, वे अपना भाषण देंगे और उसमें यह बतलायेंगे कि अधिवेशन क्यों कराया गया है। विधान-सभा या दोनों सदन इस भाषण पर विचार करने के लिए समय निर्धारित तथा अन्य काम पर इस चर्चा को पूर्ववर्तिता देने का उपबंध करेंगे। तत्पश्चात् राज्यों के विधान-मंडल अपने-अपने काम में लग जायँगे।

विधान-मंडल के अधिकार—संविधान के अनुसार प्रतिवर्ष विधान-मंडल के दो अधिवेशनों का होना आवश्यक है, अर्थात् एक अधिवेशन के अंतिम दिन और आगामी अधिवेशन के आरंभिक दिन के बीच में छः महीने से अधिक का अंतर न होना चाहिये। राज्यपाल को एक या दोनों सदनों के अधिवेशनों के बुलाने, उनके सत्रावसान (Prorogue) करने, तथा विधान-सभा को विघटित करने का अधिकार है। विधान-मंडल को राज्य-सूची की समस्त विषयों को विधियाँ बनाने का अधिकार है। वह समवर्ती (Concurrent) विषयों की भी विधि बना सकेगा, पर इस शर्त पर, कि साधारणतया इन विषयों की संघीय विधियाँ उच्चतर और राज्यों की विधियाँ विरोधात्मक अंश तक रद्द समझी जायंगी। राज्य का मंत्रि-परिषद् अपनी नीति और कामों के लिए विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है। विधान-सभा का कोई सदस्य मंत्रियों से प्रश्न पूछ सकता, शासकों के कामों पर तर्क-वितर्क के लिए अधिवेशन को स्थगित करा सकता, तथा अविश्वास के प्रस्ताव को पास करके मंत्रि-परिषद् को अपदस्थ कर सकता है। विधान मंडल को बजट पास करने का भी अधिकार है। इस संबंध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि विधान-परिषद् के अधिकार विधान-सभा की अपेक्षा कम हैं। वित्तीय विधेयक विधान-सभा में ही आरंभ होते हैं और यदि विधान-परिषद् उन्हें स्वीकार न करे, तो भी १४ दिन के पश्चात् वे दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत समझे जाते हैं।

विधान-मंडलों की सीमाएँ—राज्यों के विधान-मंडल पूर्ण-तया प्रभुता-संपन्न नहीं हैं। वे केवल राज्य-सूची के विषयों की विधियाँ बना सकते हैं। समवर्ती विषयों पर भी उनका अधिकार

है, पर इस शर्त पर कि उनकी विधि संघीय विधि से असंगत न हों और यदि असंगत हों तो विरोधात्मक अंश तक रद समझी जायँ। संकट काल की घोषणा पर, संसद को राज्य-विषयों की भी विधि बनाने का अधिकार है। राज्यों के विधान-मंडलों द्वारा स्वीकृत विधेयकों को अनुमति न देकर, पहले तो राज्यपाल उन्हें विलंबित कर सकते हैं और यदि वे राष्ट्रपति की आज्ञा के लिए रिजर्व किये गये हों, तो वे भी उन्हें रद कर सकते हैं। इस प्रकार कार्य-विभाजन तथा राज्यपाल और राष्ट्रपति की स्थिति के कारण राज्य के विधान-मंडलों के अधिकार सीमाबद्ध हैं।

विधि-निर्माण की प्रक्रिया—विधान-मंडल साधारणतया दो तरह की विधियां बनाता है—(अ) साधारण विधि—इनके विधेयक किसी भी सभा में पेश किये जा सकते हैं। यदि कोई विधेयक विधान-सभा द्वारा स्वीकृत होने के पश्चात्, विधान-परिषद् के विचाराधीन किया जाता है और वह इसे अस्वीकार करती या तीन महीने तक उसकी स्वीकृति की सूचना नहीं देती या उसे इस प्रकार संशोधित करती है जो विधान-सभा को ग्राह्य नहीं है, तो विधान-सभा उसके मौलिक या संशोधित रूप पर पुनः विचार करके, तथा उसे पुनः स्वीकार करके, विधान-परिषद् के पास भेजेगी। यदि इस बार भी विधान-परिषद् उसे अस्वीकार करेगी, तो विधान-सभा द्वारा स्वीकृत विधेयक दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत समझा जायगा। और राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए भेज दिया जायगा। राज्यपाल को अधिकार है कि अनुमति दे या न दे या उसे पुनर्विचार के लिए लौटा दे या राष्ट्रपति की आज्ञा के लिए रिजर्व कर दे। यदि विधेयक गवर्नर के सुझाव के साथ

पुनर्विचार के लिए भेजा जाता है और विधान-मंडल उसे मौलिक अथवा संशोधित रूप में पुनः स्वीकार करता है, तो राज्यपाल अनुमति देने से इनकार न करेंगे, पर ऐसे विधेयकों को, जिनका हाईकोर्ट पर कुप्रभाव पड़ता हो, वे राष्ट्रपति की आज्ञा के लिए रिजर्व कर देंगे।

विधान-मंडल के दोनों सदनों के संबंध के विषय में निम्न-लिखित बातें भी स्मरणीय हैं—(१) किसी राज्य के विधान-मंडल में लंबित विधेयक उसकी सभा या दोनों सभाओं के सत्रावसान के कारण समाप्त न हो जायँगे। (२) किसी राज्य की विधान-परिषद् में लंबित विधेयक, जिसे विधान-सभा ने स्वीकार नहीं किया है, विधान-सभा के विघटन पर समाप्त न हो जायगा। (३) कोई विधेयक जो किसी राज्य की विधान-सभा में लंबित है अथवा जो विधान-सभा द्वारा स्वीकृत होकर विधान-परिषद् में लंबित है विधान-सभा के विघटन पर समाप्त समझा जायगा। (४) राज्यों में, दोनों सदनों में मतभेद होने पर, संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था नहीं है। विपरीत इसके विधान-परिषद् के दबने की व्यवस्था की गयी है।

(ब) धन-विधेयकों की प्रक्रिया—धन-विधेयकों की प्रक्रिया इससे कुछ भिन्न है। निम्नलिखित विषयों के विधेयक धन-संबंधी निर्धारित हुए हैं—

(१) जो किसी कर को लगाते, हटाते, बदलते या विनियमित करते हों।

(२) जो राज्य द्वारा ऋण लेने या गारंटी देने या राज्य द्वारा लिये गये अथवा लिये जानेवाले धन-संबंधी उत्तरदायित्वों के नियमों को संशोधित या विनियमित करते हों।

(३) जो राज्य की संचित या आकस्मिक निधि की रक्षा तथा उसमें धन डालने या उससे धन निकालने के संबंध में हों।

(४) जो राज्य की संचित निधि (Consolidated Fund) से धन लेने से संबद्ध हों।

(५) जो किसी व्यय को राज्य की निधि पर भारित (Charged) घोषित करते हों, या इस प्रकार के व्यय को बढ़ाते हों।

(६) जो उपरिलिखित विषयों के आनुषंगिक विषयों से संबद्ध हों।

उक्त प्रकार के धन-संबंधी विधेयक केवल विधान-सभा में ही आरंभ होंगे और उसकी स्वीकृति के पश्चात् विधान-परिषद् में भेजे जायँगे। यदि विधान-परिषद्, चौदह दिन के भीतर मौलिक अथवा संशोधित विधेयक को विधान-सभा को वापस नहीं करती, तो वह दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत समझा जायगा। यदि विधान-परिषद् उसे इस प्रकार संशोधित करती है जो विचार के पश्चात् विधान-सभा को ग्राह्य न हो, तो भी विधेयक दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत समझा जायगा। विधान-सभा द्वारा स्वीकृत धन-संबंधी विधेयकों को राज्यपाल पुनर्विचार के लिए नहीं लौटा सकते। अमुक विधेयक धन-संबंधी है अथवा नहीं, इस संबंध में अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होगा।

राज्यों के विधान-मंडल के वित्तीय अधिकारों में निम्नलिखित बातें आती हैं—(१) वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा ; (२) अनुदान की माँग ; (३) विनियोग विधेयक ; (४) अन्य वित्तीय विधेयक। प्रति वित्तीय वर्ष राज्यपाल विधान-सभा के सम्मुख वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा पेश करावेंगे। व्यय के दो भाग होंगे, पहला वह जो राज्य की संचित निधि पर भारित है और

दूसरा वह जो इसके अतिरिक्त है। निम्नलिखित व्यय संचित निधि पर भारित व्यय है—

(१) राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते तथा उसके पद से संबद्ध अन्य व्यय।

(२) विधान-सभा के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा विधान-परिषद् के सभापति और उप-सभापति के वेतन और भत्ते।

(३) ऐसे ऋण का भार जिसका उत्तरदायित्व राज्य की सरकार पर हो।

(४) किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके बारे में दिये जानेवाले वेतन, भत्ते और पेंशनें।

(५) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायालय के निर्णय के संबंध का व्यय।

(६) संविधान या राज्य के विधान-मंडल द्वारा जो व्यय इस प्रकार का घोषित किया जाय।

व्यय की उक्त मदें विधान-सभा के वोट पर निर्भर न होंगी पर वह इनके विषय में वाद-विवाद कर सकेगी। व्यय की अन्य मदें विधान-सभा के वोट पर निर्भर हैं। उसे अधिकार है कि वह उन्हें स्वीकार करे अथवा अस्वीकार, या उन्हें अपने इच्छानुकूल संशोधित कर दे। इस प्रकार राज्य का विधान-मंडल अनुदान की माँगों को स्वीकार करेगा। उसे उन माँगों की स्वीकृति का अधिकार है जिसके अनुसार राज्य की आय होगी। वे सब विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) के अंतर्गत आवेंगी। राज्य के प्रत्येक वित्तीय विधेयक अथवा अनुदान के लिए राज्यपाल की सिफारिश का होना आवश्यक है।

मंत्रि-परिषद् और विधान-मंडल का संबंध—मंत्रि-परिषद् और विधान-मंडल के परस्पर संबंध के विषय में निम्न-

लिखित बातें स्मरणीय हैं—(१) मंत्रि-परिषद् के सब सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे विधान-मंडल के सदस्य हों। बाहरी व्यक्ति भी मंत्रि-परिषद् के सदस्य हो सकते हैं, पर विधान-मंडल के सदस्य हुए बिना छः महीने से अधिक वे मंत्रि-परिषद् के सदस्य नहीं रह सकते। (२) मंत्रि-परिषद् सामूहिक रूप से अपनी नीति और कामों के लिए विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है। अविश्वास के प्रस्ताव को स्वीकार करके विधान-सभा मंत्रि-परिषद् को अपदस्थ कर सकती है। (३) यदि मंत्रिपरिषद् की कार्यावधि विधान-सभा के वोट पर निर्भर करती है तो विधान-सभा का कार्यकाल भी मंत्रिपरिषद् की इच्छा पर निर्भर करता है। अधिकार के दुरुपयोग पर वह राज्यपाल को यह परामर्श दे सकता है कि लोकमत के निर्धारण के लिए विधान-सभा का नया निर्वाचन कराया जाय। इस व्यवस्था के कारण विधान-सभा अपने अधिकारों का उपयोग समझ बूझकर करेगी, मंत्रिपरिषद् को केवल परेशान करने के लिए नहीं। (४) मंत्रि-परिषद् केवल कार्य-पालिका संबंधी कामों में ही नहीं, वरन् विधि-निर्माण के कामों में भी विधान-सभा का नेतृत्व करेगा। इंगलैंड की भाँति, कोई भी गैर सरकारी विधेयक, विधान-सभा द्वारा तब तक स्वीकृत न हो सकेगा जब तक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से उसे मंत्रि-परिषद् का सहयोग न प्राप्त हो जाय।

विधान मंडल संबंधी अन्य बातें—उपरिवर्णित बातों के अतिरिक्त राज्य के विधान मंडलों की निम्नलिखित अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं—

(१) नये संविधान के अनुसार राज्यों के विधान-मंडलों का निर्वाचन अब तक नहीं हुआ। सन् १९३५ के भारतीय

शासन-संबंधी ऐक्ट के अनुसार निर्वाचित विधान-मंडल अब तक जारी हैं। वे तब तक जारी रहेंगे जब तक नये विधान-मंडलों का निर्वाचन न हो जाय।

(२) विधान-सभा का निर्वाचन प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर होगा। इस प्रकार इतने अधिक लोगों को एकाएक मताधिकार देना लोकतंत्रात्मक संसार के इतिहास में एक अद्वितीय बात है।

(३) राज्यों के विधान-मंडल राज्य-सूची के संबंध में प्रभुता-संपन्न हैं। पर उनके अधिकार असीमित नहीं हैं। संवैधानिक शासन की असफलता में अथवा संकट काल की घोषणा में, संसद् राज्य-सूची के विषयों की भी विधि बना सकेगी। उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय को भी राज्यों द्वारा निर्मित विधियों की समीक्षा करके उनको संवैधानिकता के विषय में निर्णय देने का अधिकार है।

(४) दोनों सभाओं के मतभेद में राज्यों में संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था नहीं है। विपरीत इसके एक बार संशोधन द्वारा विलंबित करने के पश्चात्, यदि विधान-परिषद् और विधान-सभा में एकमत का अभाव होगा, तो विधान-परिषद् को नतमस्तक होना पड़ेगा।

(५) राज्यपाल को राष्ट्रपति की भाँति, विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत विधेयकों को विलंबित करने का अधिकार है। वे इस अधिकार का प्रयोग साधारणतया मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा से करेंगे। अपने विवेक के अधिकारों का प्रयोग करते समय उन्हें मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा के अनुसार काम करना आवश्यक न होगा।

(६) प्रक्रिया में किसी प्रकार की अनियमता के कारण विधान-मंडल की किसी कार्रवाई की मान्यता पर कोई अपत्ति न की जायगी।

(७) राज्य के प्रत्येक मंत्री तथा महाधिवक्ता को अधिकार होगा कि वह विधान-मंडल के किसी भी सदन, दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन तथा विधान-मंडल की किसी कमेटी में जिसका वह सदस्य है बोले, तथा दूसरे प्रकार की कार्रवाइयों में भाग ले, किंतु केवल इस व्यवस्था के कारण महाधिवक्ता को मतदान का अधिकार न होगा।

(८) राज्य के विधान-मंडल में उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के पदाचरण के विषय में किसी प्रकार का वाद-विवाद न होगा।

(९) विधान-मंडल का कार्य राज्य को राजभाषा या भाषाओं या हिंदी या अंगरेजी में किया जायगा। यदि कोई सदस्य उपर्युक्त भाषाओं में से किसी में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं कर सकता तो विधान-सभा के अध्यक्ष या विधान-परिषद् के सभापति या इनके रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति की अनुज्ञा से वह अपनी मातृ-भाषा में बोल सकेगा। जब तक विधि द्वारा विधान-मंडल कोई दूसरी व्यवस्था न करे, पंद्रह बरस के पश्चात् अंगरेजी का प्रयोग बंद हो जायगा।

(३) उच्च न्यायालय

उच्च न्यायालय (High Court)—भारत के नये संविधान में प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था है। यह अपने राज्य का सर्व श्रेष्ठ न्यायालय होगा। उसमें एक मुख्य

न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीश होंगे। इनकी नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है, और वे ही अपने आदेश द्वारा समय समय पर न्यायाधीशों की अधिकतम संख्या को निश्चित करेंगे। न्यायाधीशों की नियुक्ति में, राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश तथा राज्यपाल का परामर्श लेंगे और मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में, मुख्य न्यायाधीश का। न्यायाधीश ६० बरस की अवस्था तक अपने पद पर रहेंगे। वे राष्ट्रपति के पास त्यागपत्र भेज कर अपने पद से अलग हो सकते हैं। राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा उन्हें उसी प्रकार निकाल सकते हैं जिस प्रकार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को। मुख्य न्यायाधीश को ४०००) रु० और अन्य न्यायाधीशों को ३५००) रु० मासिक वेतन मिलेगा। वे विधि द्वारा निर्धारित भत्ते, छुट्टी तथा पेंशन के भी अधिकारी होंगे। किसी न्यायाधीश के कार्य-काल में ये इस प्रकार न बदले जायँगे कि उसे हानि पहुंचे। पदासीन होने के पूर्व प्रत्येक न्यायाधीश को राज्यपाल या उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सम्मुख, अपने पद की उसी प्रकार शपथ लेनी पड़ेगी जिसका उल्लेख उच्चतम न्यायालय के संबंध में किया गया है।

न्यायाधीशों की योग्यताएँ—किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए कुछ योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं। भारत के नागरिक होने के अतिरिक्त वे इस प्रकार हैं—

(१) भारत के राज्य-क्षेत्र में कम से कम दस बरस तक किसी न्यायिक (Judicial) पद पर रहे हुए व्यक्ति।

(२) किसी राज्य के उच्च न्यायालय अथवा इसी प्रकार के दो या अधिक न्यायालयों में मिला कर दस बरस तक वकालत करने वाले वकील।

भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से राष्ट्रपति एक उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को, दूसरे उच्च न्यायालय में बदल सकते हैं। बदली की अवधि में न्यायाधीश अपने वेतन के अतिरिक्त उस भत्ते आदि का भी अधिकारी होगा जिसे राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा निर्धारित करें। राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को यह अधिकार है कि वह अपने या किसी अन्य उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश से न्यायाधीश की भांति काम करने की प्रार्थना करे। यदि वह काम करने के लिए तैयार हो जाय, तो काम की अवधि में उसे राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित भत्ता मिलेगा। उसे न्यायाधीश के सब अधिकार प्राप्त होंगे, पर वह न्यायालय का न्यायाधीश न समझा जायगा। अवकाश-ग्रहीत न्यायाधीश वकालत करने के अधिकार से भी वंचित कर दिये गये हैं।

उच्च न्यायालय के अधिकार—(१) उच्च न्यायालयों का मौलिक अधिकार-क्षेत्र है और अपीलों के सुनने का अधिकार-क्षेत्र। साधारणतया उच्च न्यायालयों में अपीलें ही सुनी जाती हैं। ये अपीलें फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के अभियोगों की होती हैं। उच्च-न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। आज-कल किसी दीवानी के मुकद्दमे की अपील उच्चतम न्यायालय में तब तक नहीं हो सकती जब तक वह २००००) रु० या अधिक की न हो।

(२) नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए उच्च न्यायालयों को विभिन्न प्रकार के लेख (Writ) जारी करने का अधिकार दिया गया है।

(३) यदि किसी समय उच्च न्यायालय को यह संतोष हो

जाय कि उसके अधीनस्थ न्यायालय के विचाराधीन मामले का संबंध संविधान की व्याख्या से है, तो वह उस मामले को अपने विचाराधीन कर सकेगा।

(४) प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने राज्य-क्षेत्र के भीतर प्रत्येक न्यायालय के निरीक्षण का अधिकार है। इस उद्देश्य से वह ऐसे न्यायालयों से विवरणी (Report) माँग सकेगा, उनकी कार्रवाई के विनियमन के हेतु नियम बना सकेगा और उनके पदाधिकारियों द्वारा रखी जाने वाली पुस्तकों का रूप निर्धारित कर सकेगा।

(५) उच्च न्यायालय के पदाधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार मुख्य न्यायाधीश या उसके द्वारा निश्चित अन्य न्यायाधीश या अधिकारी को है।

(६) भारतीय संसद को किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को अधिक विस्तृत करने तथा घटाने का अधिकार है।

अधीन न्यायालय—उच्च न्यायालय के अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में अनेक अधीन न्यायालयों की व्यवस्था है। इनमें से जिला न्यायालय विशेषतया उल्लेखनीय हैं। किसी राज्य के जिला-न्यायधीशों की नियुक्ति, उच्च न्यायालय के परामर्श से, राज्यपाल करेंगे। उनकी पदोन्नति भी इसी प्रकार निर्धारित होगी। किसी ऐसी व्यक्ति की नियुक्ति के लिए जो संघ अथवा राज्य की सेवा में नहीं लगा है, यह आवश्यक है कि वह सात बरस का अनुभवी वकील हो तथा राज्य के उच्च न्यायालय ने उसकी सिफारिश की हो। जिला न्यायाधीश से नीचे दर्जे के न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ लोक-सेवा (पब्लिक सर्विस) कमीशन और उच्च न्यायालय के परामर्श से राज्यपाल द्वारा की जायँगी। उच्च न्यायालय को उनके निरीक्षण का अधिकार है।

(४) अन्य राज्यों की शासन-व्यवस्था

अन्य राज्यों की शासन-व्यवस्था—ऊपर जिन संघांतरित राज्यों की शासन-व्यस्था का विवरण है, वे नये संविधान के लागू होने के पूर्व, प्रांतों के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके अतिरिक्त भारतीय संघ के और भी अंग हैं। उनमें से कुछ भारतीय रियासतें हैं कुछ भारतीय रियासतों के संघ और कुछ केंद्र द्वारा शासित प्रदेश।

संघांतरित भारतीय रियासतों तथा उनके संघों की शासन-व्यवस्था न्यूनाधिक वैसी ही है जिसका विवरण ऊपर दिया गया है। महत्वपूर्ण अंतर इस प्रकार हैं—

(१) इनके सर्वोच्च शासकीय अधिकारी को राज्यपाल के स्थान पर राजप्रमुख कहा जायगा। हैदराबाद के निज़ाम तथा काश्मीर और मैसूर के नरेश राष्ट्र-पति की अनुमति से अपनी अपनी रियासतों के राजप्रमुख होंगे और रियासती संघों के राजप्रमुख वे व्यक्ति होंगे जो राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत कर लिये जायँ। राजप्रमुख को राज्य को संचित निधि से उतना भत्ता तथा व्यय संबंधी धन मिलेगा, जो राष्ट्रपति अपने साधारण अथवा विशेष आदेशों द्वारा निश्चित करें।

(२) इनमें से प्रत्येक के लिए एक विधान-सभा की व्यवस्था है। पर मैसूर के लिए दो सभाओं के विधान-मंडल की व्यवस्था की गयी है।

✓(३) प्रत्येक राज्य के लिए एक मंत्रिपरिषद की व्यवस्था है। मध्य भारत में आदिम जातियों के कल्याण (Tribal Welfare) के लिए एक मंत्री अवश्य होगा, जो अपने काम के अतिरिक्त परिगणित तथा पिछड़ी हुई जातियों के भी कल्याण की देखभाल करेगा।

(४) इन राज्यों के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को राजप्रमुख के परामर्श से राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित वेतन मिलेगा, संविधान द्वारा निर्धारित वेतन नहीं।

केंद्रीय शासित प्रदेशों का शासनाधिकार राष्ट्रपति को है। ये इस कार्य का संपादन चीफ कमिश्नर, लेफ्टिनेंट गवर्नर (उप-राज्यपाल) या पड़ोसी राज्य की सरकार द्वारा करेंगे। पड़ोसी राज्य को यह काम तब तक न दिया जायगा, जब तक उसकी सरकार का परामर्श तथा शासित प्रदेश के निवासियों की इच्छा का ज्ञान न प्राप्त कर लिया जाय। संसद् को विधि द्वारा, इनमें से किसी के लिए परामर्श-दाताओं तथा मंत्रियों की परिषद् और पूर्णतया या आंशिक रूप में निर्वाचित विधान-सभा की व्यवस्था करने का अधिकार है। वह इनके लिए उच्च न्यायालय की भी व्यवस्था कर सकती है तथा इनमें स्थापित न्यायालयों का दर्जा उच्च न्यायालय के दर्जे के समान घोषित कर सकती है।

बारहवाँ परिच्छेद

नये संविधान की अन्य बातें

अनुसूचित जातियों और क्षेत्रों की व्यवस्था—संघ और राज्यों के लोक-सेवा के आयोग—निर्वाचन कमीशन—राजभाषा।

(१) अनुसूचित जातियों और क्षेत्रों की व्यवस्था— नये संविधान द्वारा अनुसूचित जातियों और क्षेत्रों के शासन की विशेष व्यवस्था की गयी। वे दो भागों में विभक्त हैं—पहला आसाम और दूसरा १५२ पृष्ठ की तालिका के अ और ब वर्ग के अन्य राज्य। राष्ट्रपति को अनुसूचित जातियों और क्षेत्रों के निर्धारण का अधिकार है। वे राज्य के किसी भी भाग को अनुसूचित क्षेत्र घोषित कर सकते तथा उसकी सीमा में परिवर्तन कर सकते हैं। राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार अनुसूचित क्षेत्रों तक होगा। किंतु इस संबंध में वह केंद्र की कार्यपालिका के आदेशानुसार काम करेगी। प्रति वर्ष अथवा जब कभी राष्ट्रपति इस प्रकार की अपेक्षा करे, राजपाल या राजप्रमुख को ऐसे क्षेत्रों के शासन की रिपोर्ट राष्ट्रपति के पास भेजनी पड़ेगी।

संविधान में किसी बात के होते हुए भी राज्यपाल या राजप्रमुख को अपनी घोषणा द्वारा यह सूचित करने का अधिकार है कि संसद या विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत कोई भी विधि या उसका अंश या तो अनुसूचित क्षेत्रों पर लागू न होगा या किये गये परिवर्तनों के अनुसार लागू होगा। राज्यपाल या राजप्रमुख को उनकी शांति

और सुशासन के लिए विनियम (Regulations) बनाने का अधिकार है। इस प्रकार के विनियम तुरंत ही राष्ट्रपति को प्रेषित किये जायँगे और जब तक उनकी अनुमति न मिल जाय, तब तक उनका कोई प्रभाव न होगा। विनियम बनाने के लिए आदिम-जाति-मंत्रणा-परिषद् (Tribal Advisory Council) का परामर्श अनिवार्य कर दिया गया है।

आदिम क्षेत्रों की उन्नति और कल्याण के लिए, संबद्ध राज्यों में आदिम-जाति मंत्रणा-परिषद् की व्यवस्था है। जिन राज्यों में आदिम क्षेत्र नहीं हैं, पर आदिम जातियाँ हैं, उनमें भी, यदि राष्ट्रपति चाहें तो वे आदिम-जाति-मंत्रणा-परिषद् की व्यवस्था कर सकते हैं। इसके सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक बीस होगी जिनमें से यथासंभव ७५ प्रतिशत राज्य के विधान मंडल के अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधि होंगे। विधान मंडल में इतने प्रतिनिधियों के न होने पर अन्य प्रतिनिधियों की व्यवस्था है। परिषद् के सदस्यों की संख्या, उनकी नियुक्ति के ढंग, सभापति की नियुक्ति, परिषद् की कार्य-विधि आदि के नियमों के बनाने का अधिकार राज्यपाल को है। उक्त व्यवस्था के अतिरिक्त संसद की लोक-सभा तथा राज्यों की विधान-सभाओं में अनुसूचित जातियों के स्थान रक्षित कर दिये गये हैं। बिहार, मध्य-प्रदेश और उड़ीसा के मंत्रि-परिषदों में अनुसूचित जातियों की उन्नति के लिए एक अलग मंत्री की व्यवस्था है। भारतीय संघ, यदि इन जातियों की उन्नति की कोई योजना बनायेगा, तो उसकी पूर्ति के लिए, वह राज्यों की आर्थिक सहायता की व्यवस्था करेगा।

आसाम के आदिम क्षेत्रों तथा जातियों के लिए अलग व्यवस्था की गयी है। इसका कारण उनकी पृथक संस्कृति है। क्षेत्र स्वयं दो भागों में विभाजित किये गये हैं। (१) स्वायत्तशासी

जिले और (२) अन्य प्रदेश। प्रथम के अंतर्गत संयुक्त खासी-जयंतिया, गारो, लुसाई, नगा, उत्तरी कछार और मिकिर की पहाड़ियां आती हैं और दूसरे के अंतर्गत उत्तरी पूर्वी सीमांत का इलाका तथा नगा का आदिम-क्षेत्र।

स्वायत्त शासी जिलों की सीमा निर्धारण का अधिकार राज्य-पाल को है। यह इनकी सीमा को बढ़ा या घटा सकता तथा नये जिलों को बना सकता है। इस प्रकार के प्रत्येक जिले के लिए एक जिला-परिषद् की व्यवस्था है, जिसके सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक २४ होगी और इनमें से तीन चौथाई वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होंगे। राज्यपाल को जिला और प्रादेशिक परिषदों के निर्वाचन के नियम बनाने का अधिकार है। किसी स्वायत्त शासी जिले में कई आदिम जातियों के अस्तित्व में, वह तदनुकूल प्रदेशों में बाँट दिया जायगा और प्रत्येक के लिए एक पृथक प्रादेशिक परिषद् बनायी जायगी। इन परिषदों को निर्धारित भूमि के अतिरिक्त भूमि, रक्षित बन न होने वाले किसी बन, नहर और जलधारा के उपयोग, गाँव और शहरों की व्यवस्था, स्वास्थ्य, स्वच्छता, पुलिस, मुखियों की नियुक्ति अथवा उत्तराधिकार, संपत्ति का दाय भाग, विवाह, सामाजिक रूढ़ियों आदि की विधियां बनाने का अधिकार है; पर इस प्रकार की कोई भी विधि राज्य-पाल की अनुनति के बिना, प्रभावी न होगी। जिला और प्रादेशिक परिषदों को भूमि और मकान; व्यवसाय और पेशा; जानवर, सवारियों और नौका; किसी बाजार में बिकने के लिए वस्तुओं के प्रवेश तथा नावों से जानेवाले व्यक्तियों और सामान; पाठशालाओं औषधालयों और सड़कों के बनाये रखने के लिए, कर लगाने का अधिकार है। जिला परिषद् जिले में ऐसे लोगों की साहूकारी और व्यापार के विनियमन और नियंत्रण के विनियम बना सकेगी,

जो उनमें निवास करने वाली आदिम जातियों से भिन्न हैं। राज्य-पाल, न्याय के संबंध में जिला और प्रादेशिक परिषदों को तथा उनके द्वारा स्थापित अन्य संस्थाओं को भारतीय दंड-विधान के अंतर्गत न्याय करने का अधिकार दे सकता है।

आसाम के दूसरे प्रकार के जिले बहुत पिछड़े हुए हैं। इस लिए कुछ दिनों तक वे केंद्रीय शासन में रखे गये हैं। राज्यपाल उनका शासन राष्ट्रपति के एजेंट के रूप में, उनके आदेशानुकूल करेंगे। इस संबंध में उनके लिए मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा लेने की आवश्यकता नहीं है।

आंग्ल-भारतीयों (एंग्लो-इंडियनों) के लिए भी इसी प्रकार की व्यवस्था की गयी है। यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह विदित हो कि इस वर्ग के लोगों को लोक सभा में यथेष्ट प्रतिनि-धित्व नहीं मिला है तो वे इसके दो प्रतिनिधियों को मनोनीत कर सकेंगे। इसी प्रकार राज्यपाल या राजप्रमुख भी ऐसी ही परिस्थिति में आवश्यकतानुकूल इसके प्रतिनिधियों को राज्य की विधान-सभाओं में मनोनीत कर सकेंगे। संविधान के आरंभ के प्रथम दो बरसों में संघ की रेल, बहिःशुल्क (Customs), डाक तथा तार संबंधी नौकरियों में उनकी भर्ती उसी आधार पर होगी जिस पर १५ अगस्त सन् १९४७ को। पर उसके पश्चात् प्रति दूसरे बरस उनके संरक्षित स्थान १० प्रतिशत के हिसाब से कम होते जायँगे और दस बरस के पश्चात् एक भी स्थान सुरक्षित न रखा जायगा। उनकी शिक्षा के लिए संघ और राज्य की सरकारें, संवि-धान लागू होने के प्रथम तीन बरस तक वही अनुदान देंगी जो सन् १९४७–४८ में दिया गया था, पर प्रति तीसरे बरस यह अनुदान १० प्रतिशत के हिसाब से कम कर दिया जायगा और दस बरस के पश्चात् उनके साथ किसी प्रकार की विशेष रियायत न की जायगी।

(२) **संघ और राज्यों के लोक-सेवा** (Public Service) **आयोग**—योग्य और निष्पक्ष सरकारी अधिकारियों के बिना कोई भी सरकार सफल नहीं हो सकती। लोकतंत्र में इसकी आवश्यकता और भी अधिक होती है। अतएव नये संविधान में संघ और राज्यों दोनों के लिए लोक-सेवा आयोगों की व्यवस्था है। दो या अधिक राज्यों को मिलाकर एक ही आयोग से काम लेने का अधिकार दिया गया है। संघ और राज्यों के आयोग के प्रधान तथा उनके सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार क्रमानुगत राष्ट्रपति और राज्यपाल या राजप्रमुख को है और संयुक्त आयोगों के प्रधान और सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को। इनका कार्य-काल छः बरस निर्धारित हुआ है। वे इसके पूर्व त्यागपत्र देकर अपने पद से अलग हो सकते हैं और दुराचरण के लिए राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय की जाँच के पश्चात्, उन्हें अपदस्थ कर सकते हैं। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् संघीय लोकसेवा कमीशन का प्रधान न तो संघ-सरकार के अधीन किसी पद पर नियुक्त किया जायगा और न राज्यों की सरकार के। पर संघ-आयोग के सदस्य और राज्य-आयोगों के प्रधान और सदस्य, अन्य लोकसेवा आयोगों के प्रधान और सदस्यों के पद पर नियुक्त हो सकेंगे। ६० बरस की अवस्था में राज्य-आयोगों के प्रधान और सदस्यों को और ६५ बरस की अवस्था में संघ-आयोग के के प्रधान और सदस्यों को अवकाश ग्रहण करना पड़ेगा। लोक-सेवा आयोगों के निम्नलिखित कर्तव्य निर्धारित हुए हैं—(अ) संघ और राज्यों की सार्वजनिक कर्मचारियों की नियुक्ति के संबंध में परीक्षाओं का संचालन; (२) प्रति वर्ष राष्ट्रपति या राज्यपाल के पास अपने काम की रिपोर्ट भेजना। यह रिपोर्ट संबंधित विधान-मंडल में पेश की जायगी। (३) राष्ट्रपति और राज्यपाल को

कर्मचारियों की भर्ती, उनकी पदोन्नति और बदली, अनुशासन, क्षतिपूर्ति आदि के संबंध में परामर्श देना। उक्त अधिकारियों के लिए कमीशनों का परामर्श लेना आवश्यक कर दिया गया है।

नये संविधान द्वारा सरकारी अधिकारी चार भागों में विभक्त किये गये हैं। (१) सैनिक अधिकारी, (२) भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य, (३) अखिल भारतीय सर्विस के सदस्य, (४) राज्यों की सिविल सर्विस के सदस्य। सैनिक, सिविल सर्विस और अखिल भारतीय नौकरी के अधिकारी तब तक अपने पद पर रहेंगे, जब तक राष्ट्र-पति चाहें। इसी प्रकार राज्य की सिविल सर्विस के सदस्य तथा राज्यों के अधीन काम करने वाले अधिकारी राज्यपाल या राजप्रमुख के इच्छानुकूल अपने पद पर रहेंगे। यह व्यवस्था उन लोगों पर लागू न होगी, जो किसी इकरारनामे के द्वारा निर्धारित काल के लिए नियुक्त किये गये हों। यदि इस प्रकार के सरकारी नौकर दुराचरण के अतिरिक्त, नियत अवधि के पूर्व अपने पद से निकाले जायँगे, तो उन्हें क्षतिपूर्ति दी जायगी। सरकारी नौकर उस अधिकारी से निम्नतर अधिकारी द्वारा न निकाले जायँगे, जिसने उनकी नियुक्ति की है। उन्हें अपने बचाव में सफाई देने के पश्चात् ही उनके विरुद्ध इस प्रकार की कार्रवाई की जायगी।

(३) **निर्वाचन कमीशन**—नये संविधान द्वारा भारत की लगभग आधी जनसंख्या को मताधिकार दिया गया है। संसार के किसी अन्य देश में, एक दम से मतदाताओं की संख्या इतनी अधिक नहीं बढ़ायी गयी है। निर्वाचन भी बहुत बड़े पैमाने पर होंगे। अतएव नये संविधान में एक निर्वाचन-कमीशन (Election Commission) की व्यवस्था की गयी है जिसमें

मुख्य-निर्वाचन-कमिश्नर (Chief Election Commissioner) के अतिरिक्त इतने निर्वाचन-कमिश्नर होंगे, जितने राष्ट्र-पति समय समय पर नियत करें। निर्वाचन कमीशन के परामर्श से, राष्ट्रपति को आवश्यकतानुकूल प्रादेशिक कमिश्नरों की नियुक्ति का अधिकार है। मुख्य-निर्वाचन कमिश्नर के अपदस्थ करने की वही व्यवस्था है, जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की। निर्वाचन कमिश्नर और प्रादेशिक कमिश्नर मुख्य निर्वाचन कमिश्नर की सिफारिश पर ही निकाले जा सकेंगे। राष्ट्र-पति, राज्यपाल और राजप्रमुख, निर्वाचन के संबंध में अपने इतने कर्मचारियों को निर्वाचन कमिश्नर या प्रादेशिक कमिश्नरों को देंगे जितने की, वे प्रार्थना करें। निर्वाचन कमीशन का काम है निर्वाचकों की सूची तैयार कराना तथा संसद्, राज्य के विधान-मंडल और राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के निर्वाचनों को कराना। इनका निरीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण उसी के अधीन है। समस्त प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए एक ही सूची होगी और केवल धर्म, मूल वंश, जाति अथवा लिंग-भेद के कारण कोई भी व्यक्ति इसमें नाम लिखाने के अधिकार से वंचित न किया जायगा। संविधानांतर्गत संसद् को समय-समय पर, कानून द्वारा निर्वाचकों की सूची तैयार कराने, निर्वाचन-क्षेत्रों के परि-सीमित करने, तथा निर्वाचन संबंधी अन्य बातों के निश्चित करने का अधिकार है। उसका परिसीमन (Delimitation) संबंधी निर्णय सर्वमान्य होगा। राज्यों के विधान-मंडलों को इस संबंध में कुछ अधिकार दिये गये हैं। अपने राज्य के निर्वाचन के संबंध में वे उन बातों के कानून बनायेंगे जिनकी व्यवस्था संसद् के कानूनों द्वारा न की गयी हो। यदि संसद् या विधान-मंडल के किसी निर्वा-चन के संबंध में मतभेद होगा तो निर्वाचन-याचिका (Election

Petition) के पश्चात् उसका निर्णय उस अधिकारी द्वारा किया जायगा जिसकी उपयुक्त विधान-मंडल द्वारा व्यवस्था की जाय।

(४) **राजभाषा**—भारत के निवासी लगभग २१५ विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं। इनमें से कुछ उच्चकोटि की हैं, और कुछ का सुसंपन्न साहित्य भी है। भाषाओं की विभिन्नता के कारण, एक राज्य के निवासी दूसरे के निवासियों की बातचीत समझने में असमर्थ हैं। शिक्षित समाज में अंगरेजी का प्रचार है और बहुत दिनों तक वह सरकारी भाषा के पद पर रही है। उसके ही प्रयोग के कारण भारत के विभिन्न भागों के निवासी एक मंच पर एकत्रित होकर राष्ट्रीय उत्थान की समस्याओं पर विचार कर सके। पर स्वतंत्र भारत अंगरेजी को राजभाषा बनाने में असमर्थ था। संविधान में, देवनागरी लिपि में हिंदी, भारत की राजभाषा मानी गयी है और सरकारी कामों के लिए प्रयोग होनेवाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप (अर्थात् रोमन अंक), निर्धारित हुआ है। इस सामान्य व्यवस्था के होते हुए भी १५ बरस तक सरकारी कामों में अंगरेजी का प्रयोग पूर्ववत् होता रहेगा। इस काल के भीतर राष्ट्रपति को अंगरेजी भाषा के अतिरिक्त, हिंदी भाषा और देवनागरी अंकों के प्रयोग की अनुमति देने का अधिकार है। पर इसके पश्चात् अंगरेजी भाषा और रोमन अंकों का प्रयोग, संसद् के कानून के बिना न हो सकेगा। संवांतरित राज्यों के विधान-मंडलों को अपने-अपने राज्यों की भाषाएँ निर्धारित करने का अधिकार है, पर जब तक वे इसका निश्चय न करें, अंगरेजी का प्रयोग होता रहेगा। संघ और राज्यों का परस्पर संबंध अंगरेजी का भाषा के द्वारा होगा पर हिंदी के प्रयोग के लिए उन्हें परस्पर समझौता करने का

अधिकार है। अंगरेज़ी उच्चतम तथा उच्च न्यायालय की भी भाषा निर्धारित हुई है और यह निश्चित कर दिया गया है कि केंद्रीय तथा राज्यों के विधान-मंडलों के सब विधेयक, कानून, नियम, उपनियम आदि अंगरेज़ी भाषा में होंगे। यदि किसी राज्य का विधान-मंडल अंगरेज़ी के स्थान पर किसी अन्य भाषा को अपनायेगा तो राज्यपाल द्वारा प्रमाणित उसका अंगरेज़ी अनुवाद, सरकारी कामों के लिए प्रमाणित समझा जायगा।

संविधान के लागू होने के पाँच और दस बरस पश्चात् राष्ट्रपति को एक भाषा-कमीशन की नियुक्ति का अधिकार दिया गया है। इसमें असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड, काश्मीरी, गुजराती, तामील, तेलुगु, पंजाबी, बंगला, मराठी, मलयालम, संस्कृत, हिंदी के प्रतिनिधि होंगे। देश की वैज्ञानिक, औद्योगिक व सांस्कृतिक उन्नति तथा अहिंदी प्रदेशों की उचित माँगों पर ध्यान रखते हुए कमीशन इस बात की सिफ़ारिश करेगा कि किस प्रकार हिंदी के प्रयोग की वृद्धि हो और किन कामों में अंगरेज़ी भाषा और रोमन अंकों के स्थान पर हिंदी भाषा और देवनागरी अंकों का प्रयोग किया जाय। कमीशन की रिपोर्ट संसद की एक कमेटी के विचाराधीन की जायगी, जिसके ३० सदस्य होंगे, २० लोकसभा के, और १० राज्य-परिषद के। राष्ट्रपति के लिए यह अनिवार्य नहीं, कि वे इन सिफ़ारिशों को मानें, पर उन्हें इनके पूर्णरूपेण अथवा अंशतः माने जाने की आज्ञा देने का अधिकार है।

———

तेरहवाँ परिच्छेद

(१) स्वतंत्रता के पश्चात

आंतरिक शासन

प्राक्कथन—डोमीनियन की स्थापना के पूर्व भारतीय परिस्थिति—अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति—डोमीनियन तथा प्रांतीय सरकारों का निर्माण—डोमीनियन सरकार की शासन-नीति—डोमीनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति—डोमीनियन सरकार का आंतरिक शासन; देश का बँटवारा; शांति और व्यवस्था की स्थापना; शरणार्थियों की समस्या; खाद्यान्न की समस्या; दस्तकारियों की अवस्था; रियासतों की समस्या; विरोधी दल की समस्या—कांग्रेस की स्थिति में परिवर्तन—उपसंहार।

प्राक्कथन—१५ अगस्त सन् १९४७ को, भारत स्वतंत्र हुआ था। उस दिन से २६ जनवरी सन् १९५० तक, उसका शासन डोमीनियन संविधान के अनुसार होता रहा और तत्पश्चात् लोकतंत्रात्मक गणतंत्र के संविधान के अनुसार हो रहा है। लगभग चार बरस के काल में देश को भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। उनमें से कुछ आज भी बनी हुई हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि स्वतंत्र भारत की सरकार इन कठिनाइयों को दूर करने में पूर्णरूपेण सफल हुई है, पर इतना कहने में किसी को संकोच नहीं हो सकता कि यथाशक्ति उसने इनके दूर करने का प्रयत्न किया है।

डोमीनियन की स्थापना के पूर्व भारतीय परिस्थिति—भारतीय डोमीनियन की स्थापना के पूर्व, यूरोपीय

महासमर के प्रभावों के कारण, संसार के अन्य देशों की भांति, भारत की भी परिस्थिति चिंताजनक थी। भोजन तथा वस्त्र का अभाव था, शिक्षा की कमी थी, और रोगियों के लिए औषधियाँ तक न मिलती थीं। मुद्रा-बाहुल्य के कारण, वस्तुओं का मूल्य अत्यधिक बढ़ गया था। चोर-बाजार गरम था और मुनाफाखोरों की बन आयी थी। श्रमजीवियों की कमी थी और जो थे, वे ऐसे लोगों के प्रभाव में थे, जो उत्पादन-वृद्धि द्वारा, देश का हित-साधन न करके, उन्हें श्रेणी-संघर्ष की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रहे थे। सांप्रदायिक वैमनस्य के कारण हिंदुओं और मुसलमानों में फूट का अस्तित्व था और उनके कुत्सित कार्यों को मानवता धिक्कार रही थी। दो सौ बरस के विदेशी शासन के कारण, भारतीयों का नैतिक अधःपतन इतना अधिक हो गया था कि बहुत से मनुष्य, मानव-जीवन के उच्च आदर्शों को विस्मरित कर के, अपने सब कामों को स्वार्थ-परायणता वश करते थे। सरकारी नौकर तक इस प्रकार के अधःपतन से मुक्त न थे। उनमें से कुछ सांप्रदायिक पक्षपात की ओर झुके हुए थे और कुछ आर्थिक लोभ की ओर। मानसिक दासत्व राजनीतिक दासत्व की अपेक्षा कई गुना अधिक था और उसका अस्तित्व उस शिक्षित समुदाय पर था जिसके अधिकांश व्यक्ति राजनीतिक स्वतंत्रता का राग अलापते तथा अन्य सब बातों में राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे। यह थी देश की आंतरिक स्थिति, जब ब्रिटिश सरकार ने, भारत का शासन भारतीयों के हाथ में देने का निश्चिय किया।

स्वतंत्रता के कारण जटिलतर परिस्थिति—१५ अगस्त सन् १९४७ को शृंखला-मुक्त नवीन भारत का उदय हुआ और भारतीय परिस्थिति पहले की अपेक्षा जटिलतर हो गयी। स्वतंत्रता

के बदले भारत को अंग-विच्छेद स्वीकार करना पड़ा। मुस्लिम लीग तथा उसके नेताओं की निरंतर मांग, ब्रिटिश सरकार की "भेद और शासन" की नीति, तथा कांग्रेसी नेताओं की उत्सुकता के कारण, उस भारत में दो स्वतंत्र डोमीनियनें बनीं जिसकी राजनीतिक एकता स्थापित करने का ब्रिटिश सरकार को गौरव था। भारत अखंड न रह कर खंडित हो गया और उसकी उस मौलिक एकता की इतिश्री हो गयी जो वैदिक काल से उस समय तक अकाट्य तथा सर्वमान्य थी और जो देश की भौगोलिक रचना के अतिरिक्त उसके सांस्कृतिक जीवन तथा उसकी इच्छाओं और आकांक्षाओं का मूर्तिमान स्वरूप थी। ब्रिटिश सरकार ने देश को छोड़ते-छोड़ते परिस्थिति को जटिलतर बनाने वाली एक बात और कर डाली। भारतीय रियासतें, जो समस्त ब्रिटिश काल में, व्यावहारिक दृष्टि से, भारत-सरकार के अधीन थीं, उन सब बंधनों से मुक्त कर दी गयीं जो संधियों, सनदों, संबंधों तथा चलनों पर निर्भर थे। प्रभु-सत्ता हटा ली गयी और इस प्रकार भारतीय नरेशों तथा नवाबों को यह समझने का अवसर मिला कि वे नव-निर्मित भारत-सरकार से सर्वथा स्वतंत्र थे और स्वतंत्र शासकों की भाँति उससे व्यवहार कर सकते थे।

अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति—यह थी देश की आंतरिक परिस्थिति, जब भारतीयों ने उसका शासन-सूत्र अपने हाथों में लिया। पर अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति इससे भी अधिक भयानक थी। १५ अगस्त सन् १९४७ तक समस्त भारत का परराष्ट्र-संबंध ब्रिटिश सरकार के अधीन था। स्वतंत्र डोमीनियनों के बनने पर वह भारतीयों के हाथ में आ गया। युरुप के द्वितीय महासमर का अंत तो लगभग दो बरस पूर्व हो चुका था, पर युद्ध का वातावरण अब भी शेष था और विजयी राष्ट्र अपनी शक्ति-वृद्धि

तथा स्वार्थ-साधन में लिप्त थे। वे दो प्रधान गुट्टों में विभक्त थे जिनमें से एक सोवियट रूस को अपना नेता मानता था और दूसरा इंगलैंड और अमरीका को। संसार के विभिन्न देशों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार हो रहा था और किसी देश में भारत का कोई ऐसा राजदूत अथवा प्रतिनिधि न था जो राष्ट्रीय दृष्टि-कोण को समझता तथा उसके अनुकूल काम करता हो। पाकिस्तान की नव-निर्मित डोमीनियन के कारण अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति और भी अधिक जटिल हो गयी थी। धर्म के नाम पर पूर्वी और पश्चिमी पंजाब में अनेक हिंदू और मुसलमान हताहत हो रहे थे। इसके कारण शरणार्थियों की विकट समस्या नव-निर्मित डोमीनियन के सम्मुख थी। देश के बँटवारे के कारण, मतभेद की अनेक बातें सामने आ गयी थीं और बहुतों के आने की आशंका थी। अतएव अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी काफी जटिल थी।

डोमीनियन तथा प्रांतीय सरकारों का निर्णय—देश की उपर्युक्त आंतरिक परिस्थिति तथा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में डोमीनियन-सरकार का निर्माण हुआ। संविधान-सभा के हाथ में प्रभु-सत्ता का हस्तांतरण हुआ और उसने नेताओं द्वारा आमंत्रित लॉर्ड माउंटबैटन को गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त करना स्वीकार किया। डोमीनियन मंत्रि-मंडल की घोषणा की गयी और निम्न-लिखित व्यक्ति मंत्री तथा विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए—

१—पं० जवाहरलाल नेहरू—प्रधान मंत्री, पर-राष्ट्र, राष्ट्र-मंडल-संबंध और वैज्ञानिक अनुसंधान-विभाग।

२—सरदार वल्लभ भाई पटेल—गृह, सूचना तथा ब्रॉडकास्टिंग और रियासत-विभाग।

३—डा० राजेंद्र प्रसाद—खाद्य एवं कृषि-विभाग।
४—मौलाना अबुल कलाम आजाद—शिक्षा-विभाग।
५—डा० जॉन मथाई—रेलवे तथा यातायात-विभाग।
६—सरदार बल्देव सिंह—रक्षा-विभाग।
७—श्री जगजीवन राम—श्रम-विभाग।
८—श्री सी. जी. भाभा—व्यापार-विभाग।
९—श्री रफी अहमद किद्वाई—डाक और तार-विभाग।
१०—राजकुमारी अमृत कौर—स्वास्थ्य-विभाग।
११—डा० बी० आर० अंबेडकर—कानून विभाग।
१२—श्री० आर० के० षणमुखं चेट्टी—अर्थ-विभाग।
१३—डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी—उद्योग और रसद विभाग।
१४—श्री० एन० बी० गाडगिल—कारखाना खान और बिजली विभाग।

कालांतर में डाक्टर राजेंद्र प्रसाद मंत्रि-मंडल से अलग हो गये और उनके स्थान पर श्री जयरामदास दौलतराम की नियुक्ति हुई। इसके पूर्व ये बिहार के गवर्नर थे। ब्रिटिश शासन-काल में केंद्रीय इक्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य बढ़ते बढ़ते गवर्नर के पद पर नियुक्त होते थे किंतु स्वतंत्र भारत में एक प्रांतीय गवर्नर डोमीनियन मंत्रिमंडल के सदस्य बने और दूसरे मनोनीत प्रांतीय गवर्नर पश्चिमी बंगाल के प्रधान मंत्री। आवश्यकतानुकूल मंत्रि-परिषद् में कई अन्य परिवर्तन भी हुए। प्रांतीय सरकारों का भी निर्माण हुआ। १५ अगस्त के पूर्व ही प्रांतीय गवर्नरों ने अपना त्याग-पत्र दे दिया था। उस दिन मद्रास, बंबई और आसाम के गवर्नरों को अपने पद पर बने रहने का निमंत्रण दिया गया और उन्होंने उस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। अन्य प्रांतों के लिए नये गवर्नर नियुक्त हुए। उनकी सूची इस प्रकार है—

१—पश्चिमी बंगाल—श्री राजगोपालाचारी ।
२—पूर्वी पंजाब—सर चंदूलाल त्रिवेदी ।
३—मध्य-प्रांत और बरार—श्री मंगलदास पकवासा ।
४—बिहार—श्री जयरामदास दौलतराम ।
५—संयुक्त-प्रांत—डाक्टर विधानचंद्र राय और स्थानापन्न गवर्नर श्रीमती सरोजनी नायडू ।
६—उड़ीसा—डाक्टर कैलाशनाथ काटजू ।

कालांतर में श्री जयराम दौलतराम के डोमीनियन सरकार में खाद्य-सदस्य नियुक्त होने के कारण श्री एम० एस० अणे बिहार के गवर्नर, श्रीमती सरोजनी नायडू संयुक्त-प्रांत की स्थायी गवर्नर, और बंबई के अंगरेज गवर्नर के जाने के पश्चात् सर महाराज सिंह बंबई के गवर्नर और लार्ड माउंटबैटन के जाने के पश्चात् श्री राजगोपालाचारी भारत के गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। प्रांतीय मंत्रि-परिषदों का भी पुनर्निर्माण हुआ। इस प्रकार भारत का केंद्रीय और प्रांतीय शासन पूर्ण रूप से भारतीयों के हाथ में आ गया।

डोमीनियन सरकार की शासन-नीति—सत्ता-हस्तांतरण के अवसर पर डा० राजेंद्रप्रसाद ने जो संविधान-सभा के सभापति थे, स्वतंत्र भारत की शासन-नीति पर कुछ प्रकाश डाला। आंतरिक शासन में अल्प-संख्यकों को धर्म, संस्कृति और भाषा की स्वतंत्रता का आश्वासन देने के पश्चात्, उन्होंने स्वतंत्र भारत के आंतरिक कार्य-क्रम पर कुछ प्रकाश डाला। "सभी लोगों को हम यह आश्वासन देना चाहते हैं कि हमारी यह अथक कोशिश होगी कि देश से गरीबी और दीनता, भूख और बीमारी दूर हो जाय, मनुष्य और मनुष्य के बीच में भेदभाव उठ जाय, कोई मनुष्य दूसरे का शोषण

न करे और सब के लिए सुंदर और समुचित जीवन बिताने का साधन जुटा दिया जाय।" पं० जवाहरलालजी के विचार इस संबंध में निम्नलिखित थे—"हमारा ध्येय है भारत के जन-साधारण, किसान और मजदूर को स्वाधीनता और सुयोग देना; अज्ञान, बीमारी और गरीबी के विरुद्ध लड़ना और उनको मिटाना; समृद्ध, संपन्न और प्रगतिशील जन-तंत्र का निर्माण करना; ऐसी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था बनाना, जिससे देश के प्रत्येक नर-नारी को समुचित अधिकार और जीवन के पूर्ण विकास का अवसर मिल सके।" सरदार वल्लभभाई पटेल के शब्दों में स्वतंत्र भारत की सरकार का उद्देश्य इस प्रकार था—"हमें इस बात का प्रबंध करना है कि देश में छोटे से छोटे और बड़े से बड़े को एक ही दर्जा मिले; मजदूरों को अपनी मेहनत के फल का पूरा हिस्सा मिले और जो लाखों किसान अपना लहू-पसीना एक कर देते हैं, उन्हें उसका पूरा फल मिले और भारत-सरकार देश के हर स्त्री और पुरुष को खाना, कपड़ा, रहने की जगह और शिक्षा देने के अपने कर्तव्य को अच्छी तरह पूरा करे।" आचार्य कृपलानी के विचार भी न्यूनाधिक इसी प्रकार के थे—"आज हमारा शत्रु बाहर नहीं, बल्कि भीतर ही है। हमारे वास्तविक शत्रु भुखमरी, निर्धनता, अस्वास्थ्य, अज्ञान, दुर्भावना, मूर्खता और सांप्रदायिक उत्तेजना के कारण फैली हुई हिंसा और अव्यवस्था की भावना है। इन शत्रुओं के विरुद्ध हमें अपनी सारी शक्ति केंद्रित करनी पड़ेगी।"

डोमीनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति—सत्ता हस्तांतरण के अवसर तथा उसके पश्चात् डोमिनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति पर भी कुछ प्रकाश डाला गया था। इस संबंध में डा० राजेंद्र प्रसाद के विचार इस प्रकार थे—दुनियाँ के सभी

देशों को हम यह आश्वासन दिलाना चाहते हैं कि हम अपनी परम्परा के अनुसार सब के साथ मित्रता का बर्ताव रखना चाहते हैं। किसी से हमारा द्वेष नहीं। हमें किसी के साथ घात नहीं करना है और हम उम्मीद करते हैं कि कोई हमारे साथ भी ऐसा न करेगा। हमारी एक ही आशा और अभिलाषा है कि हम सब के लिए स्वतंत्रता और मानव-जाति में शांति और सुख स्थापित करने में मददगार हो सकें।" सरदार पटेल के विचारानुकूल स्वतंत्र भारत का पहला कर्तव्य यह था "कि भीतरी और बाहरी खतरों से वह अपनी अच्छी तरह रक्षा करे।" डोमीनियन सरकार, उपनिवेशों में स्थित भारतीयों की दशा सुधारना चाहती थी और एशियायी राष्ट्रों को संगठित करने के पक्ष में थी। पाकिस्तान में छूटे हुए भारतीयों की भी उसे चिंता थी। देश के विभाजन से भारत के अनेक राष्ट्रवादी नेता दुखी थे। खंडित देश की स्वतंत्रता का आनंद वे उसी प्रकार मना रहे थे जिस प्रकार एक घायल सिपाही युद्ध में विजय का आनंद मनाता है। सीमा पार के भाइयों की याद उन्हें सदा सताती थी। उन्हें आशा थी कि दोनों का पुनर्मिलन हो जायगा, किंतु जबतक यह न हो वे उन्हें पाकिस्तान में ही रहने का परामर्श देते थे। डा० राजेंद्र प्रसाद के विचार इस संबंध में इस प्रकार थे—"ऐसे लोगों को जो बँटवारे से दुखी हैं और पाकिस्तान में रह गये हैं, हम अपनी शुभ-कामना भेजते हैं। उनको घबड़ाना नहीं चाहिये; अपने घर-बार धर्म और संस्कृति को बचाये रखना चाहिये तथा हिम्मत और सहिष्णुता से काम लेना चाहिये। उनके इस संबंध में भय करने का कोई कारण नहीं कि उनके साथ ठीक और न्याय-पूर्ण व्यवहार न होगा और उनकी रक्षा न होगी। जो आश्वासन दिया गया है उसको मान लेना चाहिये और आज जहाँ पर वे

रहते हैं, वहीं अपनी वफादारी और सचाई से अपनी मुनासिब जगह उन्हें हासिल करनी चाहिये।"

डोमीनियन सरकार का आंतरिक शासन; देश का बँटवारा—देश का बँटवारा डोमीनियन सरकार की सर्वप्रथम समस्या थी। संसार के इतिहास में किसी अन्य ऐसे उदाहरण का मिलना असंभव है जब कि इतने बड़े देश का बँटवारा इतने कम समय में किया गया हो। भारत में ही जब बर्मा पृथक किया गया था और सिंध, उड़ीसा के नये प्रांत बने थे, उस समय बँटवारे के काम में इससे अधिक समय लगा था। बर्मा को पृथक करने में तीन बरस, सिंध को बंबई से पृथक करने में दो बरस और उड़ीसा को बिहार से पृथक करने में दो बरस लगे थे। किंतु भारत के विभाजन में केवल छः महीने लगे। लार्ड माउंटबैटेन के विचारानुकूल, जब विभाजन का सिद्धांत स्वीकृत हो चुका था, तो शीघ्रातिशीघ्र ही उसे कार्यान्वित करना ही उचित था। अतएव वे इस काम में एकाग्र-चित्तता से लग गये। विभाजन-संबंधी समितियों ने भी उन्हीं की भाँति तत्परता और लगन से काम किया। इसका तथा दोनों नव-निर्मित्त डोमीनियनों के परस्पर सहयोग का प्रभाव यह हुआ कि विभाजन-संबंधी समस्त काम इतने कम समय में संपन्न हो गया, जिसका ब्रिटिश सरकार तक को अनुमान न था। सरदार वल्लभभाई पटेल के विचार इस संबंध में इस प्रकार थे—'मुझे निश्चय है कि जब इस कठिन और चिंतापूर्ण स्थिति का इतिहास लिखा जायगा जिसमें से हम गुजरे हैं, तो विभाजन को संयुक्त प्रयास और कार्य-संपादन की योग्यता का एक चमत्कार समझा जायगा।"

शांति और व्यवस्था की स्थापना—भारतीय डोमी-

नियन की दूसरी महत्वपूर्ण समस्या शांति और व्यवस्था की रक्षा की समस्या थी। देश के बँटवारे तथा सांप्रदायिकता-जनित उन्माद के कारण सीमा-प्रांत, सिंध, पश्चिमी और पूर्वी पंजाब तथा दिल्ली के प्रांतों में रक्तपात, नर-संहार, लूटमार और आगजनी के जो भयंकर कांड हुए उनका स्मरण करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पैशाचिकता का नग्न तांडव हुआ। चलती हुई रेलगाड़ियों से यात्री नीचे फेके गये, स्त्रियाँ भगायी गयीं और सहस्रों निर्दोष व्यक्ति हताहत हुए। पाकिस्तान में होनेवाले अत्याचारों का विवरण सुनकर, जिसे शरणार्थी सजल नेत्रों से सुनाते थे, लोगों के हृदय में बदला लेने की भावना का उदय होता था। इस प्रकार डोमीनियन सरकार की शांति और व्यवस्था की रक्षा की समस्या एक कठिन समस्या थी। तिस पर संयुक्त प्रांतीय हिन्दू-सभा ने कांग्रेसी शासन की सांप्रदायिक नीति के कारण, सक्रिय आंदोलन आरंभ किया और कुछ ही दिनों पश्चात् एक ऐसे मुस्लिम-एंग्लो-इंडियन षडयंत्र का पता चला जिसका उद्देश्य सरकार का ध्वंस करना था। डोमीनियन सरकार ने अपूर्व दृढ़ता के साथ इस परिस्थिति का सामना किया। भारत और पाकिस्तान की सरकारों ने मिलकर शांति संबंधी कई अपीलें निकालीं और भारतीय नेताओं ने भी इस प्रकार की अपीलें कीं। गांधीजी ने तो इस संबंध में आमरण व्रत तक आरंभ किये। सरकार की ओर से सैनिक कार्रवाई भी की गयी और वे लोग गिरफ्तार कर लिये गये जो शांति और व्यवस्था संबंधी अपराधों के दोषी थे। कुछ सरकारी नौकरों को, जिनके विषय में सांप्रदायिक पक्षपात की शिकायतें आयीं, कड़ी चेतावनी दी गयी। फलस्वरूप शांति और व्यवस्था की वह समस्या जो १५ अगस्त सन् १९४७ को बड़ी जटिल प्रतीत होती थी, क्रमशः हल हो गयी और भार-

तीय डोमीनियन और तत्पश्चात स्वतंत्र भारत के हिंदू और मुसलमान निवासी उसी प्रकार रहने लगे, जिस प्रकार वे देश के बंटवारे के पूर्व रहते थे।

शरणार्थियों की समस्या—डोमीनियन सरकार की तीसरी समस्या शरणार्थियों की समस्या थी। संसार के इतिहास में किसी अन्य ऐसे उदाहरण का मिलना कठिन है जिसमें इतनी अधिक जन-संख्या का विनिमय हुआ हो। बँटवारे के पूर्व ही सांप्रदायिक वैमनस्य ने देश को अपने पंजे में कर लिया था। फलस्वरूप जिन क्षेत्रों में मुसलमान बहुसंख्यक थे, वहाँ के हिंदू अपने को सुरक्षित न समझते थे और जिन क्षेत्रों में हिंदू बहुसंख्यक थे, वहाँ के मुसलमानों की भावना इसी प्रकार की थी। अतएव पाकिस्तान की हिंदू जनता, भारत की ओर आने लगी और भारतीय डोमीनियन में, पूर्वी पंजाब की मुस्लिम जनता पाकिस्तान की ओर जाने लगी। कुछ लोग अपनी चल संपत्ति को लेकर पैदल अथवा बैलगाड़ियों में चले और कुछ के निष्क्रमण का प्रबंध सरकार को करना पड़ा। स्पेशल रेलगाड़ियाँ चलायी गयीं, मोटरों का प्रबंध हुआ और हवाई जहाज तक प्रयुक्त हुए। लगभग ६० लाख शरणार्थी इन दिनों पाकिस्तान से भारत को आये, जिनमें ३५ लाख के निष्क्रमण में सरकार ने सहायता पहुँचायी। कालांतर में पूर्वी पाकिस्तान की सांप्रदायिक नीति के कारण लगभग ९ लाख शरणार्थी भारत में और आये।

इसमें संदेह नहीं कि शरणार्थियों के निष्क्रमण की समस्या कठिन थी किंतु इससे भी अधिक कठिन समस्या उनके बसाने तथा उनकी जीविका के प्रबंध की थी। इस कठिन काम को करने के लिए केंद्रीय मंत्रि-परिषद में पुनर्वास-मंत्री की नियुक्ति हुई। बहुत से शरणार्थी पूर्वी पंजाब और दिल्ली के प्रांतों में बसाये

गये और कुछ बंबई और संयुक्त-प्रांत में। भारतीय रियासतों ने भी उन्हें अपनी रियासतों में बसने की सुविधा दी। उनके भोजन और वस्त्र तथा उनके बच्चों की निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध किया गया। आरंभ में भारत-सरकार की नीति का मूलमंत्र, सब उपलब्ध साधनों द्वारा, शरणार्थियों की सहायता करना था। उनके लिए शरणार्थी-शिविर खोले गये। कुरुक्षेत्र, दिल्ली और पूर्वी पंजाब में शरणार्थियों को अस्थायी तौर पर शिविरों में बसाने के लिए ३७९४८ सैनिक तंबू दिये गये और १,५०,००० छोटे तंबू पूर्वी पंजाब को भेजे गये। २६ दिसंबर सन् १९४७ तक ८,५५,९१० रजाइयाँ और ३,४०,४५७ कंबल शरणार्थियों के लिए भेजे गये। ७,००० जाकिट, १,००,००० स्वेटर, १,२५,००० पौंड ऊन, २,००,००,००० तैयार कपड़े और ३९,५०,००० गज सूती कपड़ा शरणार्थियों में बाँटा गया। कालांतर में भारत-सरकार की उक्त नीति में परिवर्तन हुआ। अब वह शरणार्थियों को अपने पैरों पर खड़ा करना चाहती थी। फलस्वरूप शरणार्थी-शिविर क्रमशः तोड़ दिये गये और शरणार्थियों के रहने के लिए बड़े शहरों के निकट उपनिवेश-नगर बसाये गये। मार्च सन् १९५० तक १९,९०० पक्के और २६,६०० अध-पक्के मकान शरणार्थियों के रहने के लिए बन चुके थे और ११,३०० पक्के और १०,५०० अध-पक्के मकान बनाये जा रहे थे। शरणार्थी-कृषकों को खेती के लिए भूमि दी गयी और बहुतों को काम-काज आरंभ करने के लिए ऋण दिया गया। शरणार्थियों को काम-काज की शिक्षा देने के लिए कामकाजी शिक्षा-केंद्र खोले गये, हरिजनों की सहायता की व्यवस्था की गयी, बालक-बालिकाओं की शिक्षा का प्रबंध किया गया और बेकार लोगों को काम-काज दिलाने के लिए सरकारी कार्यालय खोले गये। इस प्रकार

शरणार्थियों की वह समस्या, जो सन् १६४७ में बड़ी कठिन प्रतीत होती थी, एक प्रकार से हल हो गयी सी विदित हो रही है।

खाद्यान्न की समस्या–डोमीनियन सरकार की चौथी समस्या खाद्यान्न की समस्या थी। देश के विभाजन के कारण भारतीय युनियन को पूर्वकालीन भारत की ७७·७% जन-संख्या पर ७३·१% भूमि मिली थी। देश का वह प्रदेश, जिसमें सिंचाई का प्रबंध उच्च कोटि का था और जिसकी उपज आवश्यकता से अधिक थी, पाकिस्तान में चला गया था। फल स्वरूप भारत में खाद्यान्न की कमी थी, जिसकी पूर्ति के लिए विदेशों से अन्न मँगाना पड़ता था। सन् १९४६-५० में भारत-सरकार ने इस काम में २६,७०,००,००० रु० खर्च किये थे। इसके कारण देश की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति को धक्का लगता है और सरकार यथाशक्ति स्वपर्याप्त होने का प्रयत्न कर रही है। उसने ऊसरों को हल के तले लाने का प्रयत्न किया है, नहरों को बनवा तथा पाताल कुँओं को खोदवा कर सिंचाई का प्रबंध किया है, रासायनिक खाँदों के लिए फैक्ट्रियाँ खोली हैं और किसानों को अच्छे बीज दिये हैं। वह कृषि में वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रयोग के लिए प्रयत्नशील है। सब लोगों तक अन्न पहुँचाने के लिए, उसने शहरों में राशन आरंभ किया है और कृपि एवं जानवरों के विषय में वैज्ञानिक अन्वेषण करा रही है। इन सब बातों से उसे आशा है कि दिसंबर सन् १९५१ तक भारत खाद्यान्न में स्वपर्याप्त हो जायगा। पर ऐसा होना कुछ कठिन सा प्रतीत होता है। प्रकृति भारत के साथ असहयोग करती हुई दिखलायी पड़ती है। कभी अति वृष्टि के कारण खेत बह जाते हैं और कभी अनावृष्टि के कारण किसी प्रकार की उपज नहीं होती। जंगली जानवर और पक्षियाँ उपज का एक बड़ा अंश खा जाती हैं और सरकारी गोदामों में भी

अन्न का संग्रहण ठीक प्रकार से नहीं किया जाता। यदाकदा भ्रष्टाचार की भी शिकायतें सुन पड़ती हैं। भारत को खाद्यान्न में स्वपर्याप्त बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जनता का सरकार में पूर्ण रूपेण विश्वास हो और वह सब प्रकार से उसके आदेशों का पालन करके सब प्रकार से उसके साथ सहयोग करे।

दस्तकारियों की अवस्था—डोमीनियन सरकार की पाँचवीं समस्या दस्तकारियों के संबंध में थी। देश के विभाजन का कुप्रभाव भारतीय दस्तकारियों पर भी पड़ा। कई दस्तकारियों के केंद्र भारतीय प्रदेश में आये, पर उनके लिए कच्चे माल देने वाले प्रदेश पाकिस्तान में चले गये। श्रमजीवियों की भी कमी थी। जो कुछ थे उनकी अवस्था संतोषप्रद न थी और वे हड़ताल आदि के द्वारा स्वार्थसाधन में लिप्त थे। यातायात के उपयुक्त साधनों का अभाव था। अन्य आवश्यक बातों के लिए उनकी मांग इतनी अधिक थी कि दस्तकारियों के लिए न तो कच्चा माल ठीक समय पर मिल सकता था और न बनी हुई वस्तुओं की बिक्री की यथोचित व्यवस्था थी। पूंजी की भी कमी थी। इन बातों के कारण, स्वतंत्र होने के समय, भारतीय दस्तकारियों की अवस्था आशातीत न थी।

स्वतंत्र भारत की सरकार ने, दस्तकारियों की अवस्था सुधारने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है। कच्चे माल की प्राप्ति के लिए दूसरे देशों, विशेषतया पाकिस्तान से व्यापारिक संधियाँ की गयी हैं। श्रमजीवियों की दशा सुधारने के लिए सरकार ने कई ऐक्ट पास किये हैं। इन सब में इस बात का ध्यान रखा गया है कि मजदूर छोटी छोटी बातों में हड़ताल का सहारा न पकड़ें। यातायात के साधनों की सुविधा, दस्तकारियों को दी गयी है। विकास की दृष्टि से सरकार ने दस्तकारियों को तीन भागों में

विभक्त किया है। पहले वर्ग में वे दस्तकारियाँ हैं जिनका एकाधिकार केंद्रीय सरकार को है। दूसरे वर्ग में वे दस्तकारियाँ हैं जो आधार (Basic) दस्तकारियाँ कही जाती हैं, जैसे लोहे, कोयले, जहाज बनाने आदि की दस्तकारियाँ। इनके भावी विकास का उत्तरदायित्व, भारत-सरकार ने अपने ऊपर लिया है। तीसरे वर्ग में वे दस्तकारियाँ हैं जिनका सरकार नियमन और नियंत्रण करती है। दस्तकारियों के द्रुत विकास के लिए, सरकार ने विदेशी पूँजी की आवश्यकता को स्वीकार किया है, पर सावधानी के साथ आवश्यक नियंत्रण के अंतर्गत।

दस्तकारियों की दृष्टि से, भारत की गणना, संसार के प्रमुख दस देशों में है। कुछ दस्तकारियाँ तो बड़े पैमाने पर हैं और उनकी अवस्था भी संतोषप्रद है। कुछ को संरक्षण द्वारा, सरकार ऊपर उठा रही है। किंतु देश के साधनों और जनसंख्या को देखते हुए दस्तकारियों की अवस्था संतोषप्रद नहीं कही जा सकती। भारत के लगभग २% श्रमजीवी ही बड़े पैमाने की दस्तकारियों में काम कर रहे हैं। आधारभूत दस्तकारियों में भारत आज भी विदेशों पर निर्भर है। किंतु यदि सरकार की नीति इसी प्रकार की बनी रही और उसके साथ जनता और श्रमजीवी सहयोग करते रहे तो यह आशा निमू ल नहीं कि निकट भविष्य में भारत दस्तकारियों में स्वपर्याप्त हो जायगा।

रियासतों की समस्या—स्वतंत्र भारत की छठी समस्या का संबंध भारतीय रियासतों से था। ब्रिटिश शासन-काल में भारत में लगभग ५६४ रियासतें थीं, जो संधियों, सनदों, संबंधों और प्रथाओं के अनुसार ब्रिटिश सार्वभौम सत्ता के अंतर्गत थीं। ३ जून सन् १९४७ की घोषणा, (जिसके अनुसार ब्रिटिश सार्वभौम सत्ता हटा ली गयी) का अर्थ विविध रियासतों में भिन्न-

भिन्न लगाया गया। ट्रावनकोर, हैदराबाद, भूपाल और ग्वालियर ने सर्वप्रथम स्वतंत्र होने के पक्ष में अपने विचार प्रगट किये, किंतु कालांतर में उनका भ्रम दूर हो गया और हैदराबाद के अतिरिक्त, वे सब निर्धारित शर्तों के अनुसार भारतीय युनियन में सम्मिलित हो गयीं। जूनागढ़ ने भौगोलिक अनिवार्यताओं की अवहेलना करके, पाकिस्तान से मिलना चाहा। किंतु भारतीय डोमीनियन ने इसे स्वीकार न किया। इस संबंध में उसका सिद्धांत जनानुमति के अनुसार, अंतिम निर्णय के पक्ष में था। कालांतर में जनमत-संग्रह किया गया और निर्णय भारतीय युनियन के साथ मिलने के पक्ष में हुआ। काश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-समिति के विचाराधीन है और हैदराबाद की रियासत पुलिस कार्रवाई के पश्चात इस शर्त पर भारतीय युनियन से मिल गयी है कि रियासत की संविधान-सभा निजाम के उक्त निर्णय का समर्थन करे।

५६४ भारतीय रियासतों में अधिकांश बहुत छोटी थी। भारत के संघात्मक संविधान में उनका स्वतंत्र इकाइयों के रूप में सम्मिलित होना असंभव था। देशी-राज्य-प्रजा-सम्मेलन ने लुधियाना के अधिवेशन में इस संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे—

"भविष्य के संघ-शासन में वे ही रियासतें या उनके संघ स्वतंत्र इकाइयों के रूप में सम्मिलित हो सकेंगे जिनकी जनसंख्या कम से कम २० लाख और आय ५० लाख रुपये सालाना होगी जो रियासतें इस शर्त को पूरा न कर सकेंगी, उन्हें पड़ोस के प्रांत में मिला लिया जायगा।"

उदयपुर के अधिवेशन में यह बात दोहरायी गयी और यहाँ जनता की सामाजिक और आर्थिक उन्नति, सम्मिलित होने का

मुख्य आधार समझी गयी। डोमीनियन सरकार ने रियासतों के प्रति न्यूनाधिक इसी नीति को कार्यान्वित किया। कुछ छोटी रियासतें भारतीय प्रांतों में मिला ली गयीं, कुछ को मिलाकर समूह बनाने की व्यवस्था की गयी और कुछ स्वतंत्र इकाइयों के रूप में स्वीकार कर ली गयीं। फलस्वरूप पूर्वकालीन ५६४ रियासतों के स्थान पर अब केवल ६ राज्य रह गये हैं। इनका विवरण १५२ पृष्ठ की तालिका में ब-वर्ग के राज्यों में दिया गया है। कुछ रियासतें स-वर्ग में भी हैं। आजकल उनका शासन चीफ कमिश्नरों के अधीन हैं।

रियासतों के संबंध में किये गये उक्त परिवर्तन महत्वपूर्ण थे, किंतु इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण वह भावना थी जिसके कारण रियासतों में शासन-सुधार किये गये। भारतीय नरेश और नवाब, ब्रिटिश छत्रछाया में, राजतंत्र का राग अलापते और लोकतंत्र और उससे संबंधित आंदोलनों की निंदा करते थे। वहाँ की जनता नागरिकता के अधिकार तक से वंचित थी। डोमीनियन सरकार के काल में यह व्यवस्था पूर्णतया बदल गयी और एक के पश्चात् दूसरे नरेश ने अपनी रियासत में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की घोषणा की। कालांतर में ठोस संघ की आवश्यकता के कारण उन्होंने भारत के गणतंत्रात्मक संविधान को स्वीकार करके, अपनी रियासतों या रियासती समूहों के लिए उसी प्रकार की सरकार को स्वीकार किया जिसकी व्यवस्था अ-वर्ग के राज्यों के लिए की गयी है। आजकल उनका शासन भारत के नये संविधान के अनुसार हो रहा है। उनकी सेनाएँ भारतीय सेना का अंग बन गयी हैं और उनके व्यक्तिगत व्यय की रकम निर्धारित कर दी गयी है जो उन्हें युनियन सरकार से मिलती है। आर्थिक एकीकरण का भी प्रयत्न हो रहा है। इस एकत्रीकरण के कारण, पाकिस्तान

के बनने पर भी, भारत का क्षेत्रफल पूर्वकालीन ब्रिटिश भारत की अपेक्षा अधिक है।

विरोधी दल की समस्या—भारत के डोमीनियन संविधान में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था थी और गणतंत्रात्मक संविधान में भी उसी प्रकार की सरकार की व्यवस्था की गयी है। उत्तरदायी सरकार की सफलता के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। बहुसंख्यक दल सरकारी दल हो जाता है और अल्पसंख्यक दल विरोधी दल। अल्पसंख्यक दल सरकारी कामों की आलोचना करता, तथा उसे अपने कामों में सतर्क रखता है। इंगलैंड में तो विरोधी दल के नेता को सरकारी वेतन मिलता है। विरोधी दल के अभाव या उसकी अतिशय दुर्बलता में सरकारी दल मनमानी करने लगता है। भारत की दशा आजकल न्यूनाधिक इसी प्रकार की है। स्वतंत्र भारत में विरोधी दलों का अस्तित्व ही नहीं है। भारतीय संसद में कांग्रेस का अकाट्य बहुमत है और यद्यपि देश में कांग्रेस पार्टी के विरोधियों की संख्या कम नहीं है, तो भी संगठित विपक्षी दल की अनुपस्थिति में, उनके वोट विपक्षी अभ्यर्थियों में केंद्रित नहीं किये जा सकते। देश की उक्त अवस्था उत्तरदायी सरकार के अनुकूल नहीं है। इन दिनों समाजवादी दल अपने को संगठित करने में लगा है। यदि आगामी निर्वाचन में उसे सफलता मिली और भारतीय संसद और संघांतरित राज्यों के विधान-मंडलों में उसके अभ्यर्थी पर्याप्त संख्या में पहुँचे, तो देश की राजनीतिक स्थिति उत्तरदायी सरकार की सफलता के अनुकूल हो जायगी। किंतु यह परिस्थिति निर्वाचन के पश्चात ही उत्पन्न हो सकेगी। उस समय तक भारत में एक दलीय उत्तरदायी सरकार का अस्तित्व रहेगा और उस पर लोकमत के अतिरिक्त किसी प्रकार का नियंत्रण न होगा।

कांग्रेस की स्थिति में परिवर्तन—स्वतंत्रता के पश्चात कांग्रेस की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। सन् १९४७ के पूर्व वह समस्त देश की प्रतिनिधि-संस्था थी और कांग्रेस के अध्यक्ष को राष्ट्रपति कहा जाता था। स्वतंत्रता के पश्चात उसमें कई विच्छेद हुए। पहले समाजवादी उससे बाहर हो गये और तत्पश्चात मद्रास और उत्तर प्रदेश के कुछ कांग्रेसी सदस्य सरकारी बेंचों से अलग बैठने लगे। बंगाल में डा० प्रफुल्ल घोष की अध्यक्षता में 'कृषक-प्रजा-मजदूर' पार्टी का जन्म हुआ और १६५० में, कांग्रेस के अध्यक्ष के निर्वाचन के पश्चात आचार्य कृपलानी ने 'लोकतंत्रात्मक मोर्चा' (Democratic Front) नाम के एक नये दल का निर्माण किया, जो गांधीवादी आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करना चाहता था। यह अब तोड़ दिया गया है। इन विच्छेदों के कारण कांग्रेस समस्त राष्ट्र की प्रतिनिधि-संस्था न रहकर एक दल की प्रतिनिधि-संस्था हो गयी है।

सरकार और राजनीतिक दल में क्या संबंध होना चाहिये, यह भी स्वतंत्र भारत की एक महत्वपूर्ण समस्या है। सन् १९४७ में आचार्य कृपलानी ने अध्यक्ष-पद से त्याग-पत्र देकर, देश का ध्यान इस समस्या की ओर प्रभावशाली ढंग से आकर्षित किया था। उनके मतानुकूल यह खेद की बात थी कि कांग्रेस कार्यपालिका और केंद्रीय सरकार दोनों एक ही प्रकार के मतों को प्रगट करती थीं। उनके सम्मुख एक प्रश्न यह भी था कि कांग्रेस उस समय तक सरकार को अपना सक्रिय सहयोग कैसे दे सकती थी, जब तक उसके अध्यक्ष को उन सब महत्वपूर्ण प्रश्नों से अवगत न कराया जाय, जो राष्ट्र के सम्मुख थे। उन्हें इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर न मिला। फलस्वरूप वे कांग्रेस के अध्यक्ष के पद

से अलग हो गये। सन् १९५० में यह समस्या पुनः देश के सम्मुख आयी। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का अध्यक्ष चुना जाना, कांग्रेस के अनुदार पक्ष की विजय थी। अतएव पं० जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस कार्य-समिति में सम्मिलित होने में आनाकानी की। उन्होंने सर्वप्रथम अपनी सरकार की नीति का कांग्रेस कार्य-समिति तथा कांग्रेस के खुले अधिवेशन द्वारा समर्थन करवा लिया और तब बहुत समझाने-बुझाने के पश्चात कांग्रेस कार्य-समिति में सम्मिलित हुए।

कांग्रेस के भविष्य की समस्या भी देश के सम्मुख है। उसका ध्येय भारत को स्वतंत्र बनाना था। कुछ लोगों का विचार था कि इस ध्येय की प्राप्ति के पश्चात कांग्रेस को विघटित कर देना चाहिये था। गांधीजी उसे लोक-सेवक-मंडल में परिवर्तित कर देना चाहते थे। किंतु अन्य कांग्रेसवादी इस मत के न थे। कांग्रेस के रचनात्मक कार्य-कर्म की पूर्ति के लिए वे उसे एक ठोस संस्था में परिवर्तित कर देना चाहते थे। कालांतर में दूसरे पक्ष वालों की विजय हुई। कांग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्था न रह कर एक राज-नीतिक दल में परिवर्तित हो गयी। उसमें कई बार विच्छेद हुए और संभवतः भविष्य में भी होते रहेंगे। फल-स्वरूप भविष्य में कांग्रेस का वह मान न रह जायगा, जो उस समय तक था जब वह देश की प्रतिनिधि-संस्था के रूप में, ब्रिटिश सरकार से भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम को लड़ रही थी।

स्वतंत्र भारत के उक्त पर्यायलोचन से यह स्पष्ट है कि भारत-सरकार को गत चार बरसों में देश के आंतरिक शासन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। वह उनमें से अधिकांश को सफलतापूर्वक दूर कर सकी है और जो

कुछ बची हैं उनके दूर करने के लिए प्रयत्नशील है। उसके विपक्ष में सब से महत्वपूर्ण बात देश की आर्थिक स्थिति है। वस्तुओं का मूल्य बराबर बढ़ता जा रहा है। सरकार इसे रोकने में असमर्थ है। कुछ दिनों पूर्व चोर बाजार के भावों से आजकल के सरकारी भाव अधिक है। कुछ लोगों के विचार में, देश की उक्त परिस्थिति, सरकारी नियंत्रणों के कारण है पर सरकार इस विचार से सहमत नहीं है।

गांधीजी की हत्या—स्वतंत्र भारत के आंतरिक शासन विशेषतया सांप्रदायिकता संबंधी नीति से भारतीय जनता के कुछ लोग असंतुष्ट थे। उनका विचार था कि डोमीनियन की सरकार कांग्रेस की पूर्वकालीन नीति की भाँति मुसलमानों का तोषण और हिंदू-हितों का बलिदान कर रही थी। पाकिस्तान की सांप्रदायिक नीति के कारण उनके विचार और भी उत्तेजित हो रहे थे। वहाँ एक मुस्लिम राज्य की स्थापना की जा रही थी जो शरीयत पर अवलंबित था और जिसमें गैर-मुसलमानों का लेशमात्र भी स्थान न था। विपरीत इसके भारत में एक पार्थिव राज्य (Secular State) स्थापित किया जा रहा था, जिसमें धर्म का विचार किये बिना सब व्यक्तियों को स्वतंत्रतापूर्वक रहने तथा नागरिकता के अधिकारों के भोगने का अधिकार था। फलस्वरूप जब कि पाकिस्तान के हिंदू अपना सर्वस्व छोड़कर वहाँ से भाग रहे थे, भारत के मुसलमान स्वतंत्रतापूर्वक अपना जीवन बिता रहे थे। साथ ही उन्हें इस बात की भी आशंका थी कि पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध छिड़ने पर भारत के मुसलमान पंचम वर्ग की भाँति भारत को धोखा तथा पाकिस्तान का साथ देंगे और तब मुस्लिम लीगियों का यह नारा कि "हँस कर लिया है पाकिस्तान, लड़ कर लेंगे हिंदुस्तान"

चरितार्थ हो जायगा। अतएव वे चाहते थे कि डोमीनियन सरकार तथा प्रांतीय सरकारें मुसलमानों के तोषण की नीति का परित्याग कर दें और अखंड भारत में हिंदू-राज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हों। राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ और हिंदू-महासभा के कुछ उग्र सदस्य इस विचार के थे।

किंतु भारत की डोमीनियन सरकार उनकी यह बात मानने में असमर्थ थी। इसमें संदेह नहीं कि उसने हिंदू महासभा के कार्य-क्रम की उचित बातों को अपना लिया था किंतु उसके लिए यह असंभव था कि वह अपने राष्ट्रीय स्वरूप को छोड़ कर सांप्रदायिकता का आवरण धारण करे। अतएव सांप्रदायिकता के हिंसात्मक प्रदर्शनों को उसने कड़ाई के साथ दबाया। किंतु उससे भी अधिक कड़ाई गांधीजी के त्याग-बल की थी। कलकत्ते में सांप्रदायिक सद्भावना के लिए आमरण उपवास आरंभ करके उन्होंने वहाँ की परिस्थिति को विद्युत्-गति से बदल दिया था। दिल्ली में भी उनके उपवास का यही परिणाम हुआ था। धरा निर्दोषों के रक्त से रंजित होने से बचा ली गयी थी और नर-पैशाचिकता का नग्न तांडव न होने पाया था। हिंदू-सांप्रदायिकता-वादियों की दृष्टि में गांधी जी के उक्त उपवासों का प्रभाव हिंदू-हितों के विरुद्ध था। हिंदू जाति तथा भारत-सरकार उनके प्राणों की रक्षा के लिए दबती जाती थी और मुसलमान और पाकिस्तान अधिकाधिक उद्दंड होते जा रहे थे।

ऐसी परिस्थिति में हिंदू-राष्ट्रवादी, कांग्रेसी सरकार तथा गांधी जी की ओर से कुछ खिंचने से लगे। उनके पास कोई ऐसी शक्ति तो न थी जिसके आधार पर वे प्रत्यक्ष रूप से गांधी जी तथा डोमीनियन सरकार का विरोध कर सकते। अतएव उन्होंने एक निर्मम, निंदनीय मार्ग अपनाया। सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र

रचा गया जिसका कथित उद्देश्य डोमीनियन सरकार के मंत्रियों का वध था। गांधी जी की प्रार्थना-सभा में बम फेंका गया किंतु वार खाली गया। इसके दस दिन पश्चात् नाथूराम विनायक गोडसे नामक एक व्यक्ति ने ३० जनवरी सन् १६४८ को लगभग दो गज के फाँसले से, प्रार्थना सभा में जाते हुए गांधी जी पर, तीन बार गोली चलायी। "बापू" संसार से उठ गये और दूसरे दिन उनका नश्वर शरीर शीतल चंदन की लकड़ियों से जलाकर भस्म कर दिया गया। अहिंसा का पुजारी हिंसा का शिकार बना और समस्त संसार उसके वियोग से शोकातुर हो, प्रकाश के लिए भटकने लगा। भारत माता का वह लाल उससे छिन गया जिसने अपने को अनेक बार शृंखलाबद्ध करके उसे शृंखला-मुक्त करने का मार्ग दिखलाया था।

भारतीय डोमीनियन की राजधानी में 'बापू' की हत्या के कारण, डोमीनियन सरकार की सफलताओं का रंग बहुत कुछ फीका पड़ जाता है। वे लोग भी, जो हत्या के पूर्व दिन तक उसकी प्रशंसा करते थे, उस दिन से उसकी आलोचना करने लगे और इस बात पर जोर देने लगे कि डोमीनियन सरकार का गृह-विभाग अपने काम में असफल सिद्ध हुआ था तथा सरदार वल्लभ भाई पटेल के हाथ में तीन विभागों का होना अनुचित था। उनके काम के घटाने की बड़ी आवश्यकता थी। कुछ तो सरकार के पद-त्याग की भी चर्चा करने लगे और कुछ ने इस बात पर जोर दिया कि मंत्रि-मंडल में सांप्रदायिक मंत्रियों का होना ठीक न था। उनके विचार में भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई सांप्रदायिकता और पूँजीवाद के शासन के लिए नहीं लड़ी गयी थी। कालांतर में डोमीनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति की आलोचना की जाने लगी और काश्मीर के प्रश्न पर

संयुक्त राष्ट्र-सम्मेलन के रुख के आधार पर यह कहा जाने लगा कि डोमीनियन सरकार, पर-राष्ट्र-संबंध संचालन में भी असफल सिद्ध हुई है।

'बापू' की हत्या के कारण भारत का वातावरण पूर्णतया बदल गया है। जो काम वे अपने जीवन काल में करना चाहते थे किंतु न कर सके थे, उनकी मृत्यु के पश्चात् वे सब स्वतः बड़ी शीघ्रता से होने लगे। सांप्रदायिकता का अंत सा हो गया है। नये संविधान में संयुक्त निर्वाचन की व्यवस्था की गयी है और सरकारी नौकरियों से सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का अनुपात मिटा दिया गया है। भारत आज सचमुच एक पार्थिव राज्य है जिसमें सब धर्मों के अनुयायी स्वतंत्रतापूर्वक रह तथा नागरिकता के अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं। यही 'बापू' की हार्दिक इच्छा थी। इसी के लिए वे जीवन पर्यंत भारत-माता की सेवा में संलग्न थे।

चौदहवाँ परिच्छेद

स्वतन्त्रता के पश्चात् (२)

पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन

पर-राष्ट्र-नीति के मूल सिद्धान्त—राजदूत और राजदूतावास—भारत और राष्ट्रमंडल—भारत और दक्षिणी पूर्वी एशिया—भारत और चीन—भारत और कोरिया—भारत और जापान—भारत और दक्षिणी अफ्रीका—भारत में विदेशी क्षेत्र—भारत और तिब्बत—भारत और नैपाल—भारत और पाकिस्तान ; शरणार्थियों की संपत्ति ; आर्थिक बातें ; काश्मीर की समस्या ; हैदराबाद की समस्या ; विदेशी राज्यों का प्रभाव ; सांप्रदायिक वैमनस्य—भारत और संयुक्त राष्ट्रसंघ—परराष्ट्र सम्बन्ध के मूल सिद्धांतों का व्यावहारिक स्वरूप—पर-राष्ट्र-नीति की आलोचना—पर-राष्ट्र-नीति के मूल आधार ।

पर-राष्ट्र-नीति के मूल-सिद्धांत—भारतीय डोमिनियन के निर्माण के अवसर पर, भारतीय नेताओं ने डोमिनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति के संबंध में कुछ वक्तव्य निकाले थे। यदि उनका तथा उनके पश्चात् निकाले गये वक्तव्यों का हम विश्लेषण करें, तो हमें स्वतन्त्र भारत की पर-राष्ट्र-नीति के निम्नलिखित आधारभूत सिद्धान्त मिलते हैं—

(१) संसार के दो प्रधान गुट्टों से अपने को अलग रखना। द्वितीय महासमर के पश्चात , संसार के विभिन्न देश दो गुट्टों में विभक्त हो गये हैं। उनमें से एक सोवियट रूस को अपना नेता

समझता है और दूसरा संयुक्त-राज्य अमरीका को। दोनों की विचारधाराओं में आधारभूत भेद हैं। भारत इन दोनों गुट्टों में से किसी का साथ नहीं देना चाहता। वह प्रत्येक प्रश्न पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करके, स्वतन्त्र निर्णय के पक्ष में है।

(२) दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों को, अपने हित तथा अन्य बातों के लिए, एक दूसरे से ग्रथित करना।

(३) जब कभी जिस किसी ढंग से सम्भव हो, संसार की शान्ति को बढ़ाना।

(४) निर्बल राष्ट्रों का पक्ष ग्रहण करना, चाहे ऐसा करने में उसे उन राष्ट्रों की अप्रसन्नता का ही सामना क्यों न करना पड़े, जिनका उनसे स्वार्थ-साधन होता हो।

(५) उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त-राष्ट्र-संघ का अधिक से अधिक प्रयोग करना, जिनके लिए वह स्थापित किया गया है।

(६) संसार के विभिन्न देशों से अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करना, जिससे भारत संसार की और संसार भारत की गतिविधि से परिचित हो जाय।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत का पर-राष्ट्र-संबंध संचालन इन्हीं आधारभूत सिद्धांतों के अनुसार हो रहा है। केवल तटस्थता शब्द की अधिक विस्तृत व्याख्या कर दी गयी है। श्री जवाहरलाल नेहरू के मतानुकूल, तटस्थता शब्द निरंतर सुप्तावस्था का द्योतक नहीं है। वह उस सकारात्मक क्रियाशीलता का परिचायक है जिसके अनुसार शांति-भंग या स्वतंत्रता के खतरे के अवसरों पर आवश्यक कार्रवाई की जा सकती है।

राजदूत और राजदूतावास—स्वतंत्र होने के पश्चात् भारत ने विभिन्न देशों के लिए अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये हैं। इनमें

से कुछ को राजदूत (Ambassador), कुछ को पूर्ण अधिकारी दूत (Envoy Plenipotentiary), कुछ को हाई कमिश्नर और कुछ को कांसल-जनरल कहा जाता है। दूसरे देशों के प्रतिनिधि भारत में रहते हैं। उनके भी कई वर्ग हैं। इन राजदूतों और प्रतिनिधियों के कारण, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंध-संचालन में बड़ी सुविधा होती है। भारत को संसार के विभिन्न देशों में होनेवाली बातों की प्रामाणिक सूचना मिलती है और अन्य देशों को भारत में होनेवाली बातों की। राजदूत, मित्र या तटस्थ देशों में ही रहते हैं। युद्ध के दिनों में शत्रु-राज्यों से विभिन्न राज्य अपने राजदूतों को वापस बुला लेते हैं। कभी-कभी प्रामाणिक सूचना की प्राप्ति के लिए, राजदूत अपने देशों की सरकारों द्वारा अल्प काल के लिए बुलाये जाते हैं। राजदूत या प्रतिनिधियों के अतिरिक्त, प्रत्येक दूतावास में कई अन्य अधिकारी भी होते हैं। विदेशों से सांस्कृतिक संबंधों की स्थापना के लिए 'सांस्कृतिक संबंधों की भारतीय कौंसिल' (Indian Council of Cultural Relations) की स्थापना की गयी है और कभी-कभी भारतीय मंत्री तथा नेता विदेशों को इसी उद्देश्य से जाते हैं। इस संबंध में श्री जवाहरलाल नेहरू का हाल ही में किया गया संयुक्त राज्य अमरीका और कैनाडा का दौरा विशेषतया उल्लेखनीय है।

भारत और राष्ट्रमंडल—भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट के पूर्व भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था। स्वतंत्रता ऐक्ट के पश्चात् भारत को डोमीनियन का दर्जा मिला और यह ब्रिटिश डोमीनियनों के राष्ट्रमंडल का सदस्य बन गया। इनका परस्पर संबंध वेस्टमिंस्टर स्टेच्यूट के अनुसार था। डोमीनियन की स्थिति में ही भारत ने संपूर्ण प्रभुता-संपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य होने का निश्चय किया।

फलस्वरूप संवैधानिक दृष्टि से उसका ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में रहना असंभव हो गया। राष्ट्रमंडल के सब सदस्य 'डोमीनियन' कहे जाते थे, भारत एक स्वतंत्र राज्य था। उनमें से प्रत्येक में क्राउन (Crown) के प्रतिनिधि-स्वरूप गवर्नर जनरल का अस्तित्व था, किंतु स्वतंत्र भारत में ऐसा न हो सकता था। राष्ट्रमंडल का नाम ही ब्रिटिश राष्ट्रमंडल था और भारतीय राष्ट्र ब्रिटिश राष्ट्र न था। किंतु भारत का ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से पूर्णरूपेण अलग हो जाना न तो उसके अन्य सदस्यों को पसंद था और न स्वयं भारत को। कुछ लोगों के मतानुकूल वह भारत के भी हित में न था। किंतु संपूर्ण प्रभुता-संपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य को राष्ट्रमंडल में रखने की समस्या भी बड़ी कठिन थी। इसके हल के लिए अप्रैल सन् १९४९ में राष्ट्रमंडल के प्रधानमंत्रियों का एक सम्मेलन लंदन में हुआ। उसमें यह निश्चित किया गया कि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल को भविष्य में केवल राष्ट्रमंडल कहा जायगा। डोमीनियन शब्द को निकाल दिया गया और क्राउन के स्थान पर राजा (king) शब्द स्वीकार किया गया। भारत ने स्वतंत्र सहयोग के लिए इंगलैंड के राजा की आवश्यकता को स्वीकार किया। समझौते की उक्त भावना के कारण भारत आज भी राष्ट्रमंडल का सदस्य बना हुआ है और उसे वे सब अधिकार, रियायतें और उन्मुक्तियाँ प्राप्त हैं, जो डोमीनियन की स्थिति में प्राप्त थीं।

स्वतंत्र भारत के उक्त निर्णय से कुछ लोग संतुष्ट नहीं हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से इस बात पर जोर दिया जाता है कि किस प्रकार एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न देश, दूसरे देश के राजा की आवश्यकता के बंधन को स्वीकार करके स्वतंत्र सहयोग के आधार पर राष्ट्र-मंडल में रह सकता है। कुछ लोग कांग्रेस की पूर्वकालीन घोषणाओं के आधार पर, राष्ट्रमंडल की सदस्यता को अनुचित

समझते हैं और कुछ यह कहते हैं कि नये संबंध के कारण, भारत ने तटस्थता की नीति का परित्याग करके, एंग्लो-अमरीकन गुट्ट को परोक्ष रूप से स्वीकार कर लिया है। मौजूदा सरकार के मतानुकूल ये आलोचनाएँ व्यर्थ हैं। नये संबंध द्वारा भारत-सरकार ने कोई ऐसा काम नहीं किया है, जो उसकी पूर्ण स्वतंत्रता तथा पर-राष्ट्र संबंध में तटस्थता की नीति के अनुकूल न हो।

भारत और दक्षिणी पूर्वी एशिया—स्वतंत्रता के गत चार वर्षों में भारत को दक्षिणी पूर्वी एशिया की राजनीति में काफी दिलचस्पी लेनी पड़ी है। कोरिया से इण्डोनेशिया तक का समस्त प्रदेश उथल-पुथल की अवस्था में है। दो प्रतिद्वन्दी अपनी विचार-धाराओं एवं कार्य-पद्धति के कारण, इसकी अवस्था को और भी अधिक बिगाड़ने में लगे हैं। एंग्लो-अमरीकन गुट्ट के देश इसे अस्त-व्यस्त अवस्था में इस लिये रखना चाहते हैं, कि युरुप के विभिन्न देश, अपनी मौजूदा स्थिति को सुधार कर, इसे पुनः अपने आधिपत्य में रखने के योग्य बन जायँ। साम्यवादियों का प्रभाव भी नित्यप्रति बढ़ता जा रहा है पर संभवतः इतना अधिक नहीं, जितना एंग्लो-अमरीकन गुट्ट के लोग कहते हैं। इन दोनों प्रति-द्वंदियों के बीच में, इस प्रदेश के विभिन्न देशों के देशभक्त हैं, जो अपने देशों को साम्राज्यवादी शक्तियों के पंजे से छुड़ा कर, संसार के अन्य स्वतंत्र राष्ट्रों की भाँति, मर्यादापूर्वक रखना चाहते हैं।

निर्बल जातियों का उभारना, स्वतंत्र भारत की पर-राष्ट्र-नीति का एक मूल मंत्र है। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में उसने इसी नीति को कार्यान्वित करने प्रयत्न किया है। जब हॉलैंड ने इंडोनेशिया की नवनिर्मित रिपब्लिक पर नृशंस अत्याचार आरंभ किये, भारत ने इस समस्या पर विचार करने के लिए एशियायी देशों के

एक सम्मेलन को आमंत्रित किया। इसके पूर्व सन् १९४७ में इस प्रकार का एक गैर-सरकारी सम्मेलन हो चुका था। २० जनवरी सन् १९४९ से नये सम्मेलन के अधिवेशन दिल्ली में आरंभ हुए और इसमें एशिया के १७ विभिन्न देशों ने, जो संयुक्त-राष्ट्र-संघ के भी सदस्य थे, भाग लिया। भारत के कहने पर, विभिन्न एशियायी देशों ने, हालैंड के हवाई जहाजों को अपने प्रदेश के ऊपर से जाने को मना कर दिया। सम्मेलन ने इंडोनेशिया के संबंध में तीन प्रस्ताव पास किये। पहले में संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-परिषद् से यह सिफारिश की गयी थी कि १ जनवरी सन् १९५० तक इंडोनेशिया की प्रभुता उसे हस्तांतरित कर दी जाय। दूसरे में सम्मिलित विभिन्न राज्यों से यह कहा गया था कि वे संयुक्त-राष्ट्र-संघ में अपने प्रतिनिधियों, तथा राजदूतों को इस सम्बन्ध में एक दूसरे के साथ परामर्श करने का आदेश दें। तीसरे में उस व्यवस्था पर जोर दिया गया था जिसके अनुसार सदस्य-राज्य एक दूसरे का परामर्श लें तथा एक दूसरे के साथ सहयोग कर सकें। भारत द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्य से एशियायी सम्मेलन के बुलाये जाने के कारण, कुछ देशों में सनसनी फैली। उसकी आलोचना यह कर की गयी कि वह एशियायी देशों का नेतृत्व करना चाहता था और एक पृथक एशियायी गुट्ट के बनाने के लिए प्रयत्नशील था। इसमें कोई आश्चर्य की बात न थी। स्वार्थपरायण देश साधारणतया इस प्रकार की आलोचना करते हैं। सम्मेलन के आमंत्रित करने में, भारत न तो एक पृथक् गुट्ट के निर्माण का दोषी था और न एशिया के नेतृत्व ग्रहण करने का। पर संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अंतर्गत वह यह अवश्य चाहता था कि अमरीकन पूँजी की सहायता से युरुप के देश, एशियाई देशों के न्यायोचित राष्ट्रीय के उत्थान में अड़चन न डाल सकें।

इंडोचाइना के संबंध में भारत का दृष्टिकोण न्यूनाधिक इसी प्रकार का है। यह प्रदेश फ्रांस के कानूनी आधिपत्य में है, पर यहाँ के निवासियों ने, फ्रांस का विरोध करके, वाइटनाम (Viet Nam) नाम की रिपब्लिक का निर्माण किया है। फ्रांस ने, इसे दबाने के लिए, कंबोडिया के भूतपूर्व सम्राट, बाओ दायी की अध्यक्षता में अपनी कठपुतली सरकार की स्थापना की है। इण्डोचाइना का लगभग नौ-दशांश वाइटनाम रिपब्लिक के अधीन है और एक दशांश बाओ दायी के अधीन। साम्यवादी चीन ने वाइटनाम रिपब्लिक को अभिज्ञात कर लिया है और भारत ने भी यही किया है। श्री जवाहरलाल नेहरू के मतानुकूल भारत उस सरकार के अभिज्ञात करने में असमर्थ था, जो सैनिक बल पर अवलंबित थी और जिसकी रक्षा और पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन का उत्तरदायित्व एक ग़ैर-एशियायी शक्ति के अधीन था।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया की स्थिति पर, १० जनवरी सन् १९५० को बुलाये गये कोलंबो-सम्मेलन में भी, विचार किया गया। इसमें राष्ट्रमंडल के वैदेशिक मंत्री सम्मिलित हुए थे। सम्मेलन के कार्यक्रम में, दक्षिणी-पूर्वी एशिया के संबंध में निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण बातें सम्मिलित की गयी थीं—(१) प्रदेश का आर्थिक सुधार, (२) साम्यवादी प्रचार रोकने की समस्या, (३) प्रदेश की रक्षा की समस्या। सम्मेलन के मतानुकूल दूसरी समस्या के हल के लिए यह आवश्यक था कि इस प्रदेश का आर्थिक विकास किया जाय। अतएव राष्ट्र-मंडल के विभिन्न सदस्यों ने, इस काम की पूर्ति के लिए, इस प्रदेश में अपने हित के अनुपातानुसार सहायता देने का वचन दिया है। रक्षा के लिए राष्ट्र-मंडल के कुछ सदस्य अटलांटिक-पैक्ट की भांति एक पैसीफिक-पैक्ट के पक्ष में थे।

किंतु श्री जवाहरलाल नेहरू इसके पक्ष में न थे। फलस्वरूप ऐसे पैक्ट का निर्माण न हो सका।

भारत और चीन—गत ३५ वर्ष से चीन की अवस्था असंतोषप्रद रही है। इस काल के आरंभ में चीन और जापान में युद्ध चल रहा था और च्यांग-काई-शेक के नेतृत्व में चीन की राष्ट्रीय सरकार जापान से युद्ध करने में संलग्न थी। दूसरे महा-समर के काल में चीन में साम्यवाद का प्रसार हुआ, और जापान की पराजय के पश्चात् उसके आंदोलन ने इतना जोर पकड़ा कि आजकल न्यूनाधिक समस्त चीन साम्यवादी कहा जा सकता है। चीन की राष्ट्रीय सरकार ने इसका भी विरोध किया, किन्तु उसे किसी प्रकार की सफलता न मिली। अन्त में वह फारमूसा के टापू को चली गयी है। फल-स्वरूप लाल चीन और राष्ट्रीय चीन का गृह-युद्ध एक प्रकार से समाप्त सा हो गया है।

चीन के सम्बन्ध में भारत को एक नाजुक परिस्थिति का सामना करना पड़ा। साम्यवादी प्रसार के पूर्व, भारत चीन की राष्ट्रीय सरकार के अनुकूल था। चीन की पीपुल्स रिपब्लिक की घोषणा के पश्चात्, उसके सम्मुख लाल चीन की सरकार के अभिज्ञात करने का प्रश्न आया। आरंभ में इंगलैंड और अमरीका लाल चीन के विरोधी थे। भारत राष्ट्र-मंडल का सदस्य था और कुछ लोगों का अनुमान था, कि वह इस बात में इंगलैंड का साथ देगा। ऐसा करने से वह निश्चित रूप से एंग्लो-अमरीकन गुट्ट के अन्तर्गत आ जाता। लाल चीन के अभिज्ञात करने से इङ्गलैंड और अमरीका के विरोध की आशंका थी। किन्तु भारत ने इस समस्या के हल में किसी भी गुट्ट का साथ न दिया। स्वतंत्र निर्णय के आधार पर उसने लाल चीन की सरकार को

अभिज्ञात कर लिया। कालांतर में आर्थिक जोखिम के कारण, इङ्गलैंड ने भी लाल चीन की सरकार को अभिज्ञात कर लिया है।

भारत और कोरिया—दूसरे महासमर के पूर्व कोरिया जापान के अधीन था। वहाँ के निवासी इसे नापसन्द करते थे और स्वतंत्र कोरिया के निर्माण के पक्ष में थे। फल-स्वरूप महासमर के काल में ही याल्टा (Yalta) और पोट्सडैम (Potsdam) के समझौतों के अनुसार, मित्र-राष्ट्रों ने स्वतंत्र कोरिया के निर्माण का निश्चय किया। मई सन् १९४६ में जापान के आत्म-समर्पण के पश्चात्, ३८ वें अक्षांश द्वारा कोरिया के दो भाग कर दिये गये। इस प्रकार उत्तरी कोरिया सोवियट रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया और दक्षिणी कोरिया अमरीका के प्रभाव-क्षेत्र में। आरंभ ही से कोरिया के उक्त दोनों भागों का संबंध तनातनी का था। उत्तरी भाग ने, समस्त देश के लिए, सोवियट रूस के ढंग का सा एक साम्यवादी संविधान बनाया और इस बात पर जोर दिया कि विदेशी सेनाएँ देश से हटा ली जायँ। दक्षिणी भाग ने भी अपना लोकतंत्रात्मक संविधान बनाया। उसकी राष्ट्रीय असेंबली ने, संयुक्त-राष्ट्र-संघ से, प्रस्ताव पास करके, कहा कि अमरीकी सेनाएँ दक्षिणी कोरिया में बनी रहें। रूस और उसके साथी देशों ने उत्तरी कोरिया की सरकार को अभिज्ञात किया और ब्रिटेन और अमरीका ने दक्षिणी कोरिया की सरकार को। मार्च सन् १९४९ को उत्तरी कोरिया और रूस की सरकारों में एक आर्थिक और सांस्कृतिक समझौता हुआ जिसके कारण उत्तरी कोरिया की आर्थिक स्थिति दक्षिणी कोरिया की अपेक्षा श्रेष्ठतर हो गयी और वह समस्त देश की एकता के लिए प्रयत्नशील हुआ। अगस्त सन् १९४६ में

उत्तरी कोरिया की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया। मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ के विचाराधीन किया गया। उसने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया और उसके सदस्यों ने, संयुक्त-राज्य अमरीका के नेतृत्व में, सैनिक बल द्वारा, उत्तरी कोरिया की पराजय का निश्चय किया।

कोरिया की उक्त स्थिति के कारण, भारत को एक कठिन समस्या का सामना करना पड़ा। सुरक्षा-परिषद् के निर्णय के अनुसार उसने यह तो स्वीकार कर लिया कि उत्तरी कोरिया आक्रमण का दोषी है, पर परंपरागत शांति-प्रियता के कारण, वह इसलिए तैयार न था कि अन्य देशों की भाँति भारतीय सेनाएँ भी उत्तरी कोरिया के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हों। उसके उक्त निर्णय की संयुक्त-राज्य अमरीका और ब्रिटेन में बड़ी आलोचना हुई, पर वह अपने निश्चय से लेशमात्र भी न डिगा। उत्तरी कोरिया के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने से वह प्रगट रूप से एंगलो-अमरीकन गुट्ट में आ जाता। ऐसा करना उसकी पर-राष्ट्र नीति के आधारभूत सिद्धांतों के विरुद्ध था। कालांतर में चीन की साम्यवादी सरकार ने खुल्लमखुल्ला उत्तरी कोरिया की सहायता करना आरंभ कर दिया। फलस्वरूप यह लड़ाई, जो उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में, गृह-युद्ध के रूप में आरंभ हुई थी, संसार-व्यापी महासमर में परिवर्तित होने की दिशा में अग्रसर दिखलायी पड़ रही है।

इस गंभीर परिस्थिति को रोकने के लिए, भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने, शांति-वाहक बनने की कोशिश की। समस्त संसार को विदित था कि कोरिया की लड़ाई उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में नहीं, वरन् सोवियट रूस और संयुक्त-राज्य अमरीका में थी। साम्यवादी चीन निडर होकर, उत्तरी कोरिया की सहायता इसलिए कर रहा था कि अमरीका की सरकार ने उसे अब

तक अभिज्ञात न किया था। फलस्वरूप १२ जुलाई सन् १९५० को श्री जवाहरलाल नेहरू ने मार्शल स्टैलिन और संयुक्त-राज्य अमरीका के गृह-सचिव डीन एचेसन दोनों के पास निम्नलिखित आशय का एक संदेश भेजा—भारत, कोरिया की लड़ाई को सीमित करने तथा उसके शांतिमय निर्णय के पक्ष में है। इस उद्देश्य से वह चाहता है कि सोवियट रूस के प्रतिनिधि सुरक्षा-परिषद् में पुनः सम्मिलित हों, साम्यवादी चीन को उसमें एक स्थान मिले और संयुक्त-राज्य अमरीका, सोवियट रूस और साम्यवादी चीन की सरकारें, अन्य शांतिप्रिय सरकारों के सहयोग से, कोरिया की लड़ाई बंद करने तथा उसकी समस्या को स्थायी रूप से हल करने के लिए प्रयत्नशील हों। मार्शल स्टैलिन ने उक्त संदेश से सहमति प्रगट की। "मैं शांति स्थापित करनेवाले आपके प्रयत्न का स्वागत करता हूँ। मैं आपके इस विचार से पूर्णतया सहमत हूँ कि सुरक्षा-परिषद् में कोरिया में शांति की समस्या हल की जाय और उसके विचारों में साम्यवादी चीन के सहित पाँचों महाशक्तियाँ भाग लें। शीघ्र निर्णय के लिए मैं यह भी उपयुक्त समझता हूँ कि सुरक्षा-परिषद् कोरिया के निवासियों के प्रतिनिधियों को भी सुने।" डीन एचेसन का उत्तर इससे भिन्न था। संयुक्त-राष्ट्र-संघ के उद्देश्यों की प्रशंसा करने के पश्चात्, उसमें साम्यवादी चीन को सुरक्षा-परिषद् के सदस्य बनाने के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये गये थे—"हमारे विचार में चीन की प्रतिद्वन्द्वी सरकारों में से सुरक्षा-परिषद् का स्थान किसे मिले, इसका निर्णय संयुक्त-राष्ट्र-संघ ही कर सकता है। इस समय, इस संबंध में, सदस्य-राष्ट्रों में, मतभेद है। मैं जानता हूँ कि आप इस बात में मुझसे सहमत होंगे कि इसका निर्णय गैर-कानूनी आक्रमण या किसी अन्य ऐसे आचरण के अनुसार न होना चाहिये जो संयुक्त-

राष्ट्र-संघ को धमका या दबा कर उससे किसी काम को कराना चाहते हो।" अमरीका के गृह-सचिव का उक्त उत्तर शीघ्र हल के अनुकूल न था। फलस्वरूप किंचित काल के लिए शांति स्थापना का प्रयत्न स्थगित कर दिया गया है और प्रतिद्वंदी सेनाओं के रण-क्षेत्र बन जाने के कारण, नित्य प्रति कोरिया का विध्वंस होता जा रहा है।

भारत और जापान—द्वितीय महासमर के पूर्व जापान एशिया का सबसे अधिक उन्नतिशील देश था। भारत के राजनीतिज्ञ उसकी उन्नति के लिए उसकी प्रशंसा तथा चीन में उसकी साम्राज्यवादी नीति के लिए उसकी निंदा करते थे। द्वितीय महासमर में, आत्म-समर्पण के पश्चात् वह एक प्रकार से संयुक्त-राज्य अमरीका के अधीन कर दिया गया है। उसके साथ अभी तक कोई संधि भी नहीं की गयी है। जनवरी सन् १९५० में कोलंबो के सम्मेलन में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया। सम्मेलन में राष्ट्र-मंडल के वैदेशिक सचिव सम्मिलित थे। सम्मेलन के सदस्य इस बात पर सहमत थे कि जापान के साथ शीघ्रता से संधि की जाय, पर संयुक्त-राज्य अमरीका के हितों के कारण, उसने इस संबंध में कुछ भी निश्चय नहीं किया कि संधि किस प्रकार की हो। भारत कोलंबो सम्मेलन के उक्त निर्णय से सहमत है। वह एशियायी देशों को युरुप और अमरीका के आधिपत्य से मुक्त करने की नीति को स्वीकार कर चुका है।

भारत और दक्षिणी अफ्रीका—पिछले कुछ बरसों से भारत और दक्षिणी अफ्रीका का संबंध संतोषप्रद नहीं रहा है। इसका मुख्य कारण दक्षिणी अफ्रीका द्वारा प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, बहुत से भारतीय

मजदूर, दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की माँग पर, उस देश को गये थे। उनके परिश्रम के कारण वहाँ का आर्थिक विकास हुआ। मजदूरों के साथ-साथ व्यापारी भी गये और इस प्रकार अनेक भारतीय, दक्षिणी अफ्रीका के अधिवासी बन गये। कालांतर में वहाँ के युरोपीय निवासी उनसे इसलिए भयभीत हुए कि उनके कारण उनके जीवन का स्तर गिर जायगा। भारतीय मितव्ययी थे और परिश्रम अधिक करते थे। अपने इन गुणों के कारण वे अवांछनीय समझे गये और उनके साथ ऐसा व्यवहार किया जाने लगा कि वे दक्षिणी अफ्रीका को छोड़कर अपने देश को चले जायँ। सरकार ने आर्थिक सहायता देकर भी उन्हें दक्षिणी अफ्रीका से चले जाने की नीति अपनायी। पर उसे विशेष सफलता न मिली।

स्वतंत्रता के पूर्व, ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के सदस्य होने के नाते, भारत-सरकार ने दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति सुधारने के कई प्रयत्न किये थे। इसके पूर्व महात्मा गांधी ने इसी उद्देश्य से सत्याग्रह आंदोलन चलाया था। पर छोटी-मोटी बातों के अतिरिक्त, भारतीयों की स्थिति में कोई ऐसा परिवर्तन न हो सका था, जो उनकी स्थिति को संतोषप्रद बना सकता। युनाइटेड पार्टी के नेता फील्ड-मार्शल स्मट्स इस बात पर दृढ़ थे कि दक्षिणी अफ्रीका में रंगीन जातियों को श्वेत जातियों के समकक्ष स्थान नहीं मिल सकता। वे यह भी चाहते थे कि जातीय भेद-भाव के आधार पर भारतीयों के रहने के क्षेत्र निर्धारित कर दिये जायँ। भारत-सरकार तथा दक्षिणी अफ्रीका के अधिवासी भारतीय, दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की उक्त नीति से सहमत न थे।

दूसरे महासमर के अन्त के पश्चात् नव निर्मित संयुक्त राष्ट्र-संघ ने मनुष्य के मानवीय अधिकारों की घोषणा की। इधर

भारत भी स्वतंत्र हो गया। फल-स्वरूप भारत सरकार ने, समस्त प्रवासी भारतीयों और विशेष कर दक्षिणी अफ्रीका के अधिवासी भारतीयों की स्थिति के सुधारने के गुरुतर काम को अपने ऊपर लिया। दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र-संघ में शिकायत की गयी। उसके आरोपों की सत्यता तो स्वीकार कर ली गयी, पर दक्षिणी अफ्रीका ने संयुक्त राष्ट्र-संघ के निर्देशों को मानने से इनकार कर दिया। अंत में साधारण असेंबली ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा भारत, पाकिस्तान और दक्षिणी अफ्रीका को यह परामर्श दिया कि वे इस मामले को संयुक्त राष्ट्र-संघ के चार्टर तथा मानवीय अधिकारों की घोषणा के अंतर्गत एक गोलमेज परिषद् में सुलझा लें।

साधारण असेंबली के उक्त निर्णय के होते हुए भी दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने जातीय भेदभाव की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया। फील्ड मार्शल स्मट्स और उनकी पार्टी के स्थान पर, सन् १९४८ के निर्वाचन में, डाक्टर मेलन (Malan) और उनकी नैशनलिस्ट पार्टी की सरकार बनी। जातीय भेद-भाव की नीति में इसका कार्यक्रम युनाइटेड पार्टी से भी अधिक उग्र है। डाक्टर मेलन के मतानुकूल "अब वह समय आ गया है कि दक्षिणी अफ्रीका के निवासियों की समस्या उनके वर्ण के आधार पर हल कर ली जाय।" फलस्वरूप दक्षिणी अफ्रीका की पार्लमेंट, ग्रुप एरियास बिलों पर विचार कर रही है जिनके अनुसार भारतीयों, अफ्रीकी जातियों, तथा युरोपियनों के ऐसे क्षेत्र निर्धारित कर दिये गये हैं जिनका परस्पर किसी प्रकार का संबंध न होगा। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की उक्त नीति के कारण, जो मानवीय अधिकारों के सिद्धांत के विरुद्ध हैं, भारत-सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रस्तावित गोलमेज-परिषद् के विचारों में भाग लेने

से इनकार कर दिया है। फल-स्वरूप यह समस्या अभी तक हल नहीं हो पायी है। किंतु यह बात निर्विवाद है कि संयुक्त राष्ट्र-संघ के निर्णयानुसार, इस समस्या के संबंध में भारत की नैतिक विजय हो चुकी है। दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के आंदोलन भी चल रहे हैं। संभवतः उन्हीं के त्याग-बल पर इस समस्या का अंतिम हल मिल सकेगा।

भारत में विदेशी क्षेत्र—स्वतंत्र होने के समय भारत में कुछ विदेशी क्षेत्र थे। पांडीचेरी, कारीकल, यनाम, माही और चंद्रनगर नाम के नगर फ्रांस के अधिकार में थे और गोआ, डमन, और ड्यू के नगर पुर्तगाल के अधिकार में। स्वतंत्र भारत की सरकार, विदेशों के इन अधिकारों को अनुचित समझती थी। अतएव उनके भारत में मिलाने की समस्या पर विचार किया जाने लगा। फ्रांस की सरकार ने इस सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है कि यदि जनादेश (Referendum) भारत से मिलने के पक्ष में हुआ तो ये क्षेत्र भारत-सरकार को हस्तांतरित कर दिये जायँगे। चंद्रनगर में इस प्रकार का मत-संग्रह कर लिया गया है और उस नगर का वास्तविक शासन भारत-सरकार के अधीन हो गया है। निकट भविष्य में अन्य नगरों के भाग्य का निर्णय इसी आधार पर किया जायगा। पुर्तगाल को भी इसी नीति के अनुसार अपने क्षेत्रों को भारत-सरकार के अधीन करना पड़ेगा। इस प्रकार निकट भविष्य में भारत में एक भी ऐसा क्षेत्र न रह जायगा, जो किसी विदेशी सरकार के अधीन हो।

भारत और तिब्बत—भारत के उत्तर में हिमालय के उस पार तिब्बत का पहाड़ी प्रदेश है। इसके अधिकांश निवासी बौद्ध धर्म को मानते हैं। अतिकाल से देश में दो सरकारों का

अस्तित्व रहा है; प्रथम पंचन लामा की सरकार और दूसरी डलाई लामा की सरकार। पंचन लामा बुद्ध अमीतव के अवतार समझे जाते हैं और डलाई लामा बोधिसत्व के। आध्यात्मिक दृष्टि से पंचन लामा का स्थान डलाई लामा की अपेक्षा उच्चतर है, पर सांसारिक दृष्टि से डलाई लामा का स्थान उच्चतर समझा जाता है; विशेषतया इसलिए कि १७ वीं शताब्दी में एक मंगोल राजा ने उन्हें तिब्बत का गवर्नर नियुक्त किया था। देश के उक्त राजनीतिक अनैक्य के कारण, विदेशियों को उसके मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला है। साम्यवादी चीन ने भी इसी आधार पर उस पर आक्रमण किया है।

साम्यवादी चीन के आक्रमण तथा भारत पर उसकी प्रतिक्रिया का विवरण देने के पूर्व हमें यह जान लेना चाहिये कि व्यवहार में तिब्बत का चीन के साथ क्या संबंध रहा है। कानूनी दृष्टि से तिब्बत चीन के आधिपत्य को कुछ अंश तक मानता आया है। पर वास्तव में वह न्यूनाधिक स्वतंत्र रहा है। पंचन लामा का पक्ष लेकर भूतकाल में चीन ने इस बात का प्रयत्न अवश्य किया है कि देश पर उसका प्रभाव बना रहे और उसकी राजनीतिक एकता न स्थापित होने पावे। पर डलाई लामा की सरकार ने चीन के आधिपत्य का बिरोध किया है। अंत में पंचन लामा और डलाई लामा का विरोध इतना अधिक बढ़ा कि पंचन लामा को देश छोड़कर भागना पड़ा। सन् १९३७ में उन्होंने तिब्बत में लौटने की कोशिश की, पर उनकी हार हुई और कुछ दिनों के पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया।

तिब्बत में प्रचलित विचार-धारा के अनुसार पंचन लामा और डलाई लामा की मृत्यु के पश्चात् उनका पुनर्जन्म होता है। जिस शिशु के रूप में वे आते हैं उसमें कुछ विशेष गुण होते हैं और खोज द्वारा

उसका पता लगाया जा सकता है। पंचन लामा की मृत्यु के पश्चात् उनका पुनर्जन्म साम्यवादी चीन में हुआ और उसने उनका पक्ष ग्रहण करके, उन्हें पदासीन करने के लिए, तिब्बत पर आक्रमण कर दिया। इसके दो अन्य कारण भी हैं—(१) डलाई लामा की सरकार चीन के आधिपत्य की विरोधिनी है और (२) कोरिया की स्थिति के कारण चीन को विदेशी आक्रमण का भय है। अतएव अपनी रक्षा के लिए वह तिब्बत में अपनी स्थिति को अधिक से अधिक दृढ़ बनाना चाहता है।

तिब्बत, भारत का पड़ोसी देश है। अतएव भारत-सरकार चाहती है कि उस देश में कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न न हो जिससे उसकी शांति और व्यवस्था में बाधा पहुँचे और उसका कुप्रभाव भारत पर भी पड़े। वह तिब्बत की समस्या को शांतिपूर्ण तरीकों से हल करना चाहती है। अतएव जब साम्यवादी सेनाओं ने तिब्बत पर आक्रमण किया और डलाई लामा को अपनी राजधानी छोड़कर भागना पड़ा, उसने आक्रमण के विरुद्ध आपत्ति की और यहाँ तक स्पष्ट कर दिया कि जब तक चीन की सेनाएँ न रुकेंगी, तिब्बत का शिष्टमंडल पीकिंग को शांतिपूर्ण समझौते के लिए न रवाना होगा और ज्ञास्टे में ठहरी हुई सैनिक टुकड़ी वापस न बुलाई जायगी। भारत के इस रुख के कारण कुछ लोगों को आश्चर्य हुआ। एक ओर तो वह साम्यवादी चीन को सुरक्षा-समिति का सदस्य बनाना चाहता था और दूसरी ओर तिब्बत में उसका विरोध कर रहा था। भारत की आपत्ति के उत्तर में चीन की सरकार ने इस बात पर जोर दिया है कि तिब्बत की समस्या चीन की आंतरिक समस्या थी और भारत-सरकार की आपत्ति दूसरे राज्यों के प्रभाव पर आधारित थी। समस्या का हल अभी

तक नहीं हो पाया है। किंतु स्थिति पहले की अपेक्षा अधिक सुलझी हुई दिखलायी पड़ती है।

भारत और नैपाल—तिब्बत की भांति भारत के उत्तर में नैपाल का पहाड़ी देश है। भारत से इसका संबंध सदा घनिष्ठता का रहा है। इसका मूल आधार सन् १८१६ की संधि थी, जो नैपाल की लड़ाई के पश्चात् की गयी थी। सन् १९२३ में उस संधि के स्थान पर मित्रता की दूसरी संधि की गयी। जब भारत स्वतंत्र हुआ, भारत-सरकार ने नैपाल से पहले तो यथास्थिति-समझौता किया और तत्पश्चात् ३१ जुलाई सन् १९५० को उसके साथ एक नयी संधि की। राजदूतों की नियुक्ति, दोनों देशों के नागरिकों के आर्थिक अधिकारों आदि बातों के साथ-साथ इस संधि द्वारा यह निश्चित किया गया है कि भारत-सरकार और नैपाल की सरकार में सदा मित्रता और घनिष्ठता रहेगी और दोनों देश एक दूसरे की प्रभुता, प्रादेशिक स्थिरता तथा स्वतंत्रता को स्वीकार तथा उसका आदर करेंगे। दोनों सरकारों ने यह भी वादा किया कि वे एक दूसरे को ऐसी भ्रांतियों और संघर्षों की सूचना देती रहेंगी जिनका दोनों सरकारों में मित्रता के संबंध पर कुप्रभाव पड़ता हो। इस संधि द्वारा समस्त पूर्वकालीन संधियाँ समाप्त समझी गयी हैं और इसके एक अनुच्छेद द्वारा यह भी निर्धारित किया गया है कि यह संधि तब तक लागू रहेगी जब तक किसी सरकार के द्वारा, एक बरस की नोटिस के पश्चात्, वह समाप्त न की जाय।

भारत और नैपाल की उक्त संधि के पश्चात् नैपाल में आंतरिक विप्लव हुआ। पिछले कुछ बरसों से नैपाल के अनेक निवासी शासन-सुधार पर जोर दे रहे थे। महाराजा की उनके साथ सहानु-

भूति थी। किंतु वे देश के केवल नाममात्र के शासक थे। वास्तविक शासनाधिकार प्रधान मंत्री को थे। यह पद भी सन् १८४६ के पश्चात् आनुवंशिक हो गया था। नवंबर सन् १९५० में नैपाल की स्थिति सहसा गंभीर हो गयी। सपरिवार महाराजा ने पहले तो अपना महल छोड़कर नैपाल के भारतीय राजदूतावास में शरण ली और तत्पश्चात् वे भारत चले आये। उधर नैपाली कांग्रेस की अध्यक्षता में शासन-सुधार का जन-आंदोलन चला और समानांतर सरकारी संस्थाएँ स्थापित की जाने लगीं। नैपाल-सरकार ने महाराजा के तीन बरस के पोते को महाराजा घोषित किया किंतु भारत-सरकार ने उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इस प्रकार परिस्थिति और भी जटिल हो गयी। अंत में भारत-सरकार के हस्तक्षेप के कारण, एक समझौता हुआ जिसके द्वारा महाराजा त्रिभुवन वीर विक्रम शाह, जिन्होंने भारत में शरण ली थी, पुनः नैपाल के महाराजा स्वीकार किये गये। साथ ही साथ शासन-सुधार की दो घोषणाएँ की गयीं। पहली के अनुसार, प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर निर्वाचित एक संविधान-सभा स्वीकृत की गयी। यह यथासंभव सन् १९५२ तक नैपाल का संविधान बनाने को है। दूसरी के अनुसार १४ मंत्रियों के एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था की गयी, जिसके सात सदस्य जनता के प्रतिनिधि होने को थे और जो संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धांत के अनुसार देश का केंद्रीय शासन संचालित करने को थी। नैपाल का शासन आजकल इसी समझौते के अनुसार हो रहा है।

भारत और पाकिस्तान—स्वतंत्रता के पश्चात् भारत और पाकिस्तान का परस्पर संबंध ऐसा है कि सुगमता से समझ में नहीं आता। एक ओर तो दोनों देशों ने लगभग एक दर्जन ऐसे समझौते किये हैं कि उनका परस्पर संबंध अच्छा हो जाय। ये समझौते

साधारणतया दो मुख्य विषयों के हैं—(१) सरकारी, अर्द्ध-सरकारी, तथा स्थानीय संस्थाओं के भुगतान और पावने के संबंध में (२) यातायात के साधनों और व्यापार के संबंध में। दूसरी ओर दोनों देशों में इतना अधिक मतभेद है कि उनकी दो समस्याएँ संयुक्त राष्ट्र-संघ के विचाराधीन हैं और कभी-कभी लड़ाई छिड़ जाती अथवा लड़ाई की चर्चा होने लगती है। मतभेद की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) **शरणार्थियों की संपत्ति**—देश के विभाजन के कारण, पाकिस्तान के अधिकांश हिंदू भारत को और पूर्वी पंजाब के अधिकांश मुसलमान पाकिस्तान को चले गये थे। चूंकि विभाजन बड़ी शीघ्रता से किया गया था और उसके साथ सांप्रदायिक बर्बरता के अत्याचार हो रहे थे, इसलिए जितने लोग एक देश से दूसरे देश को गये, वे अपनी अधिकांश संपत्ति को अपने मूल देश में ही छोड़ गये। इस संपत्ति के कारण, दोनों देशों में मतभेद है। जनवरी सन् १९४९ में इस संबंध में एक समझौता अवश्य हुआ था जिसके अनुसार शहरों की अचल संपत्ति की बिक्री या उसके विनिमय और चल संपत्ति के एक देश से दूसरे देश में ले जाने के निरीक्षण के लिए संयुक्त कमीशनों की व्यवस्था की गयी थी। कालांतर में ऐसा विदित हुआ कि इस समझौते के अनुसार संतोषपूर्वक कार्रवाई नहीं की गयी है वरन् शरणार्थियों की संपत्ति पूर्ववत् अधिकृत की गयी है। २६ जुलाई सन् १९४९ को पाकिस्तान की सरकार ने, एक ऑर्डीनेंस द्वारा इस प्रकार की संपत्ति की बिक्री बंद कर दी और इसके कुछ दिनों पश्चात्, सर जफरुल्ला खाँ ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ में दिये गये एक भाषण में एक ऐसे निष्पक्ष न्यायालय की माँग पेश की जो शरणार्थियों की संपत्ति का सर्वमान्य

निर्णय कर सके। इतनी बात-चीत के होते हुए भी शरणार्थियों की संपत्ति का कोई ऐसा निर्णय नहीं हो सका है जो दोनों देशों को मान्य हो। अतएव इसके कारण दोनों देशों में मतभेद का अस्तित्व है।

(२) **आर्थिक बातें**—आर्थिक प्रश्नों के संबंध में भी दोनों देशों में मतभेद है। स्वतंत्रता के पूर्व देश का आर्थिक विकास समस्त देश को एक इकाई मान कर किया गया था। अतएव विभाजन के कारण कुछ ऐसे प्रश्नों का उठना अनिवार्य था जिनके कारण दोनों देशों में मतभेद हो। रेलवे, सड़कें, बैंकों में जमा धन, नहरें आदि ऐसी बातें थीं जिनके संबंध में सर्वमान्य समझौता एकदम से न हो सकता था। सीमा संबंधी झगड़े भी अनिवार्य थे। तिस पर विभाजन के कारण कच्चा माल उत्पादन करने वाले कुछ प्रदेश पाकिस्तान को चले गये थे, पर उनकी मीलें भारत में थीं। खाद्यान्न की दृष्टि से भारत स्वपर्याप्त न रह गया था पर पाकिस्तान के पास आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न था। मतभेद की उक्त बातों के निराकरण के लिए कई समझौते किये गये हैं। कुछ बातें हल भी हो चुकी हैं और कालांतर में दूसरी बातें भी हल हो जायँगी। पर आजकल आर्थिक बातों के कारण दोनों देशों में मतभेद का अस्तित्व है।

(३) **काश्मीर की समस्या**—काश्मीर के प्रश्न पर भी दोनों देशों में मतभेद है। भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात काश्मीर के महाराजा ने भारत और पाकिस्तान दोनों डोमोनियनों से यथास्थिति समझौते किये थे। कालांतर में उक्त समझौते के होते हुए भी, कबाइली जातियों ने, पाकिस्तान की सहायता से, रियासत पर हमले आरंभ किये जिनका रोकना महाराजा के लिए असंभव

हो गया। ऐसा विदित होने लगा कि रियासत उक्त चाल द्वारा, जबरदस्ती पाकिस्तान में मिला ली जायगी। ऐसी संकटग्रस्त परिस्थिति में महाराजा ने भारतीय संघ में सम्मिलित होने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गयी। इस प्रकार काश्मीर भारत का अंग बन गया और उसकी रक्षा के लिए भारतीय सेनाएँ श्रीनगर को भेजी गयीं और वह नगर बचा लिया गया। कबाइली और पाकिस्तानी सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। चूँकि अब काश्मीर भारत का अंग था और निश्चित रूप से यह कहा जा सकता था कि पाकिस्तानी सेनाएँ उस पर आक्रमण कर रही हैं, इसलिए भारत सरकार ने काश्मीर के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा निर्णीत होने के लिए उसके विचाराधीन कर दिया। उसने जाँच के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जिसने १३ अगस्त सन् १९४८ को अपना निम्नलिखित निर्णय दिया—(१) काश्मीर की लड़ाई बंद कर दी जाय। यह बात १ जनवरी सन् १९४९ से कार्यान्वित की गयी। २७ जुलाई सन् १९४९ को वे सीमाएँ भी निर्धारित कर दी गयीं जहाँ तक पाकिस्तान और भारत की सेनाएँ रह सकती थीं। (२) दोनों देशों में एक विराम-संधि की जाय जिसके अनुसार पाकिस्तानी सेनाएँ काश्मीर से हटा ली जायँ और तत्पश्चात भारतीय सेनाएँ भी रियासत की रक्षा के अतिरिक्त, वहाँ से हटा ली जायँ। (३) ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाय कि स्वतंत्रतापूर्वक जनानुमति द्वारा रियासत के भविष्य का निपटारा कर दिया जाय। एडमिरल चेस्टर निमिट्ज (Nimitz) जनानुमति के अधिकारी नियुक्त हुए। किंतु इस निर्णय की दूसरी बात के संबंध में मतभेद हो गया। पाकिस्तान ने काश्मीर से अपनी सेनाओं को हटाने में आनाकानी की। कुछ दिनों तक और बातचीत होती रही। अंत में कमीशन ने अपने

निर्णय को वापस कर लिया और काश्मीर का प्रश्न पुनः संयुक्त राष्ट्र संघ के विचाराधीन हो गया।

कुछ दिनों के पश्चात सुरक्षा-परिषद ने काश्मीर के प्रश्न को पुनः उठाया। १७ दिसम्बर सन् १९४९ को उसने अपने सभापति, जनरल मेकनाटन को दोनों देशों के प्रतिनिधियों के परामर्श से इस प्रश्न के हल का अधिकार दिया। उन्होंने दोनों देशों के प्रतिनिधियों से बातचीत की और तत्पश्चात हल की एक योजना बनायी जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं—(१) काश्मीर का प्रश्न निष्पक्ष जनानुमति के लोकतंत्रात्मक ढंग से शीघ्र से शीघ्र हल किया जाय। (२) दोनों राज्य एकमत से 'लड़ाई बंद करो' लाइन के दोनों ओर से अपनी सेनाएँ इस प्रकार हटालें कि किसी भी पक्ष को किसी प्रकार की आशंका न रह जाय। (३) 'लड़ाई बंद करो' लाइन के दोनों ओर की काश्मीरी सेनाएँ इतनी कम कर दी जायँ जितनी शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए आवश्यक हों। (४) दोनों राज्य एकमत होकर यह स्वीकार करें कि उनकी अनुमति से संयुक्त राष्ट्र-संघ का मंत्री जिस व्यक्ति को संयुक्त राष्ट्र-संघ का प्रतिनिधि नियुक्त करे वह लोकतंत्रात्मक ढंग से इस समस्या के हल का निरीक्षण करे।

यह योजना भारत को स्वीकार न थी। जिस बात की जाँच के लिये, भारत ने काश्मीर के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र-संघ के विचाराधीन किया था उसकी ओर लेशमात्र भी ध्यान न देकर वह काश्मीर की समस्या को जटिलतर बना रहा था। प्रश्न तो यह था कि कौन राज्य आक्रमण का दोषी था। संयुक्त-राष्ट्र-संघ इस बात पर विचार कर रहा था कि अंत में काश्मीर का प्रश्न किस प्रकार हल किया जाय।

१४ मार्च सन् १९५० को सुरक्षा-परिषद ने काश्मीर की

समस्या के हल के लिये एक निर्णायक की नियुक्ति का प्रस्ताव पास किया। पाँच महीने के भीतर भारत और पाकिस्तान अपनी सेनाओं को हटाने को थे और तत्पाश्चत् निर्णायक महोदय जनानुमति के लोकतंत्रात्मक ढंग से काश्मीर के प्रश्न को हल करने को थे। सर ओवेन डिक्सन (Sir Owen Dixon) जो आस्ट्रेलिया के न्यायाधीश थे, इस प्रश्न के लिए निर्णायक नियुक्त हुए। उन्होंने काश्मीर के प्रश्न की जाँच करके अपनी रिपोर्ट तैयार की और यह स्वीकार किया कि पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण किया है। किंतु उन्हें इस बात की न तो जाँच करने का अधिकार था और न घोषणा करने का। सुरक्षा-परिषद् का प्रस्ताव इस संबंध में चुप था। अतएव उन्होंने सुरक्षा-परिषद् से यह सिफारिश की कि काश्मीर की समस्या का हल परस्पर वार्तालाप द्वारा भारत और पाकिस्तान पर छोड़ दिया जाय, और जब तक समझौता न हो जाय, 'लड़ाई बंद करो' की रेखा के अनुसार काश्मीर का प्रदेश पाकिस्तान और भारत के अधीन रहे। भारत को यह निर्णय भी अमान्य था। इसके संबंध में सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह थी कि पाकिस्तान को आक्रमणकारी मानते हुए भी संयुक्त-राष्ट्र-संघ उसके विरुद्ध वह कार्रवाई करने में हिचकिचाता था, जो साधारणतया इस प्रकार के राज्यों के साथ की जाती तथा उसके चार्टर के अनुसार की जानी चाहिए थी।

इसके पश्चात् सुरक्षा-परिषद् ने इस समस्या के हल के दो और प्रयत्न किये। दोनों का उद्देश्य निर्णायक द्वारा इसका हल करना था। पर भारत को इनमें से एक भी मान्य न था। ऐसा विदित होता है कि सुरक्षा-परिषद् काश्मीर के विभाजन की ओर देख रही है। किंतु भारत समस्त काश्मीर को अपना अंग समझता है। वह जनानुमति द्वारा इस प्रश्न के हल के लिए तैयार है, पर उसी

अवस्था में जब आक्रमणकारी सेनाएँ उसके प्रदेश से हट जायँ। आक्रमणकारियों की उपस्थिति में, जनानुमति का पता लगाना एक भयंकर पाखंड के समान होगा। फलस्वरूप काश्मीर की समस्या का हल अभी तक नहीं हो पाया है और इसके कारण भारत और पाकिस्तान में मनोमालिन्य का अस्तित्व है।

(४) हैदराबाद की समस्या—हैदराबाद और जूनागढ़ के कारण भी भारत और पाकिस्तान में मतभेद है। इन रियासतों के शासक तो मुसलमान थे, पर अधिकतर निवासी हिंदू थे। ब्रिटेन की सार्वभौम सत्ता के हटने पर, भौगोलिक अनिवार्यता की अवहेलना करके, जूनागढ़ के नवाब ने अपनी रियासत को पाकिस्तान में मिलाना चाहा और निजाम ने यह जानते हुए भी कि रियासतें स्वतंत्र न हो सकती थीं, स्वतंत्र होने का विचार किया। इस संबंध में भारत-सरकार की नीति जनानुमति के अनुसार आचरण की थी। जूनागढ़ के नवाब के पाकिस्तान चले जाने पर, जनानुमति के निर्णय के अनुसार, वह रियासत भारत में मिला ली गयी। पाकिस्तान को यह बात नापसंद थी। हैदराबाद के साथ पहले तो यथास्थिति समझौता किया गया। पर निज़ाम की सरकार उसके अनुसार न चलती थी। उसे कई बार चेतावनी दी गयी, पर परिणाम कुछ भी न निकला। रियासत में, इत्तिहादुल मुसलमीन की सहायता से सैयद कासिम रिज़वी और उसके रज़ाकार साथी, उत्पात मचा रहे थे। हिंदू जनता, तथा उन मुसलमानों पर भी जो रियासत के भारत के मिलने के पक्ष में थे, भयंकर अत्याचार हो रहे थे, और निजाम की सरकार उनके दमन के संबंध में निष्क्रिय थी। अंत में भारत-सरकार ने हैदराबाद के संबंध में एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया, जिसमें स्पष्ट रूप

से यह कहा गया था कि 'भारत-सरकार हैदराबाद के कुशासन को अकर्मण्य हो कर नहीं देख सकती। भारत और हैदराबाद के संबंध-निर्धारण का एकमात्र तरीका यह है कि रियासत भारतीय संघ में मिल जाय और उसका लोकतंत्रीकरण किया जाय।" निजाम ने इसे अस्वीकार किया। फलस्वरूप हैदराबाद के विरुद्ध पुलिस कार्रवाई की गयी और अंत में निजाम ने यह स्वीकार कर लिया कि हैदराबाद की रियासत भारतीय संघ में मिल जायगी और उसका शासन-प्रबंध लोकतंत्रात्मक प्रणाली के अनुसार किया जायगा। कालांतर में निजाम ने भारत के लोकतंत्रात्मक गण-राज्य के संविधान को स्वीकार करके, अपनी रियासत को संघांतरित राज्य में परिवर्तित कर दिया है। राष्ट्रपति ने उन्हें अपनी रियासत का राजप्रमुख नियुक्त किया है।

हैदराबाद को उक्त गतिविधि पाकिस्तान को नापसंद थी। उसने हैदराबाद की पुलिस कार्रवाई को संयुक्त राष्ट्र-संघ के विचारार्थ उसके सम्मुख रखा। पर कुछ परिणाम न निकला। हैदराबाद की समस्या भारत की आंतरिक समस्या है और इसके संबंध में संयुक्त राष्ट्र-संघ को किसी प्रकार के हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। इस स्पष्ट बात के होते हुए भी, पाकिस्तान को हैदराबाद के संबंध में जबरदस्ती का आभास होता है। फलस्वरूप हैदराबाद और जूनागढ़ के विषय में भी, दोनों राज्यों में मनोमालिन्य का अस्तित्व है।

(५) विदेशी राज्यों का प्रभाव—विदेशी राज्यों की नीति के कारण भी भारत और पाकिस्तान में मनोमालिन्य है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि द्वितीय महासमर के पश्चात संसार के

अधिकांश देश दो गुट्टों में विभाजित हो गये हैं और भारत ने उन दोनों के प्रति तटस्थ रहने का निर्णय किया है। यह बात हृदय से न तो अमरीकी गुट्ट पसंद करता है और न रूसी गुट्ट। यदि भारत और पाकिस्तान का मनोमालिन्य दूर हो जाय और दोनों देश एक दूसरे का साथ देने लगें, तो यह आशंका निर्मूल नहीं कि वे एशियायी राज्यों का नेतृत्व करके एक तीसरे गुट्ट का निर्माण करेंगे जो अमरीकी और रूसी गुट्ट को निर्धारित सीमा में रहने के लिए बाध्य करेगा। संसार के विभिन्न देश भारत और पाकिस्तान के इस प्राधान्य के अनुकूल नहीं हैं। फलस्वरूप वे भारत और पाकिस्तान के मामलों पर निष्पक्षता से विचार न करके, अपने स्वार्थ के अनुसार उन पर विचार करते हैं और कभी-कभी ऐसी बातें कह डालते हैं जिनके कारण एक देश दूसरे देश के अधिक निकट आने की अपेक्षा, उसके विरुद्ध भड़क तथा उससे दूर हो जाता है।

(६) **सांप्रदायिक वैमनस्य**—भारत और पाकिस्तान के मनोमालिन्य का सर्वप्रधान कारण सांप्रदायिक वैमनस्य है। रक्तपात और नर-संहार के जिस दूषित वातावरण में देश का विभाजन हुआ था उसकी दुखद स्मृतियाँ आज भी संबद्ध व्यक्तियों को सता रही हैं। तिसपर स्वतंत्रता के पश्चात् भी उसी प्रकार के नृशंस कार्य होते जा रहे हैं जिनके कारण लाखों की संख्या में एक देश के निवासी दूसरे देश की ओर जाने लगते हैं और शरणार्थियों की विकट समस्या दोनों देशों के सम्मुख उपस्थित हो जाती है। जनवरी सन् १९५० से इस प्रकार के अनेक अत्याचार विशेषतया पाकिस्तान में हुए और लाखों की संख्या में सताये गये अथवा भयभीत हिंदू भारत को आने लगे। प्रतिक्रिया स्वरूप

पश्चिमी बंगाल के मुसलमान भी पाकिस्तान की ओर जाने लगे। वातावरण इतना अधिक क्षुब्ध हुआ कि दोनों देशों में युद्ध की चर्चा होने लगी। इसे रोकने के लिए ८ अप्रैल सन् १९५० को नेहरू-लियाकत अली समझौता हुआ। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) दोनों देशों की सरकारें इस बात पर सहमत हैं कि वे अपने समस्त क्षेत्राधिकार में, धर्म के आधार पर विभेद किये बिना, अल्पसंख्यकों को समान नागरिकता तथा कानून और नीति के अंतर्गत उनको जीवन, संस्कृति, संपत्ति और व्यक्तिगत मान-मर्यादा, समस्त क्षेत्राधिकार में आने-जाने, काम करने, विचार-अभिव्यक्ति एवं पूजापाठ की स्वतंत्रता की सुरक्षा का विश्वास दिलावेंगी। बहुसंख्यकों के समान ही अल्प-संख्यकों को अपने देश के सार्वजनिक जीवन में भाग लेने, राजनीतिक या अन्य पदों पर नियुक्त होने तथा देश के सैनिक और असैनिक दलों में सम्मिलित होकर उसकी सेवा का अधिकार होगा। दोनों सरकारें उक्त अधिकारों को नागरिकों के मूल अधिकार घोषित करती हैं और उन्हें प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित करने के लिए वचनबद्ध होती हैं। भारत के प्रधान मंत्री ने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि भारत के संविधान द्वारा अल्प-संख्यकों के लिए उक्त अधिकारों की गारंटी की गयी है। पाकिस्तान के प्रधान मंत्री ने भी यह बतलाया कि ध्येय-संबंधी प्रस्ताव में पाकिस्तान की संविधान-सभा ने उक्त अधिकारों को स्वीकार कर लिया है। दोनों सरकारों की यह नीति है कि उनके समस्त नागरिकों को, किसी प्रकार के भेद-भाव के बिना, उक्त लोक-तंत्रात्मक अधिकारों की गारंटी की जाय। दोनों सरकारों ने इस बात पर भी जोर दिया कि अल्प-संख्यकों की राजभक्ति और

निष्ठा उस राज्य के साथ है जिसके वे नागरिक हैं और उन्हें अपने कष्ट-निवारण के लिए अपने ही राज्य की ओर देखना चाहिये। (२) पूर्वी बंगाल, आसाम और त्रिपुरा, जहाँ हाल ही में सांप्रदायिक उत्पात हुआ है, से गये हुए व्यक्तियों के विषय में दोनों सरकारें यह समझौता करती हैं कि (अ) उन्हें आने-जाने की स्वतंत्रता होगी और रास्ते में उनकी रक्षा का प्रबंध किया जायगा। (ब) प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ उतनी चल एवं घरेलू संपत्ति ले जाने के लिए स्वतंत्र होगा जितनी वह चाहे। चल संपत्ति के अंतर्गत गहनों आदि की भी गणना होगी। प्रत्येक वयस्क व्यक्ति अपने लिए १५०) रुपये और प्रत्येक बच्चे के लिए ७५) नगद ले जा सकेगा। (स) प्रत्येक जाने वाला व्यक्ति अपने शेष रुपयों और गहनों को बैंक में जमा कर सकेगा। इसके बदले उसे रसीद मिलेगी। मांग पर इस प्रकार की संपत्ति के स्थानांतरण की व्यवस्था की जायगी। (द) बहिःशुल्क कार्यालयों में लोगों को सताया न जायगा। प्रत्येक इस प्रकार के स्वीकृत कार्यालय में दूसरे देश के अधिकारी रहेंगे जिससे लोगों को इस संबंध में असुविधा न हो। (य) अचल संपत्ति के स्वामित्व में किसी प्रकार की गड़बड़ी न की जायगी। यदि मालिक की अनुपस्थिति में ऐसी संपत्ति किसी अन्य व्यक्ति के अधीन हो गयी हो, तो ३१ दिसंबर सन् १९५० तक, उसके मालिक के वापस आने पर, वह उसे लौटा दी जायगी। यदि ऐसा संभव न हो तो संबंधित सरकार उसके पुनर्वास की व्यवस्था करेगी। (र) यदि किसी अचल संपत्ति का मालिक वापस न आवे, तो उसके मालिकाना अधिकार में किसी प्रकार का अतिक्रमण न किया जायगा और वह उसे बिक्री या विनिमय द्वारा किसी दूसरे शरणार्थी या अन्य व्यक्ति को दे सकेगा। अल्पसंख्यकों के तीन प्रतिनिधियों तथा सरकार के एक

प्रतिनिधि की कमेटी ऐसी संपत्ति की ट्रस्टी की भाँति काम करेगी। कानून के अंतर्गत कमेटी ऐसी संपत्ति का किराया वसूल कर सकेगी।

(३) पूर्वी बंगाल तथा पश्चिमी बंगाल, आसाम और त्रिपुरा के राज्यों के संबंध में दोनों सरकारें इस बात में एकमत हैं कि वे (अ) सामान्य अवस्था के पुनस्संस्थापन के लिए अपने प्रयत्न जारी रखेंगी और अव्यवस्था को पुनः आने से रोकने के लिए उपयुक्त कार्रवाई करेंगी। (ब) उन सब लोगों को दंड देंगी जो किसी व्यक्ति के शरीर और संपत्ति के प्रति अपराध या किसी अन्य फौजदारी अपराध के दोषी हों। अव्यवस्था को रोकने के लिए जहाँ आवश्यक हो, सामूहिक जुर्माने किये जायँगे। यदि आवश्यक हो तो अव्यवस्था करने वालों को शीघ्राति-शीघ्र दंड देने के लिए विशेष न्यायालय नियुक्त किये जायँगे। (स) लूटी गयी संपत्ति के पकड़ने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करेंगी। (द) ऐसे साधन अपनावेंगी जो अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों के सहयोग से भगाई गयी स्त्रियों का पता लगाने में सहायता देंगे। (य) जबरदस्ती किये गये धर्म-परिवर्तन को अभिज्ञात न करेंगी। अव्यवस्था की अवधि में किये गये धर्म-परिवर्तन जबरदस्ती किये गये धर्म-परिवर्तन समझे जायँगे। जिन व्यक्तियों ने जबरदस्ती दूसरों का धर्म-परिवर्तन किया है वे दंडनीय समझे जायँगे। (र) हाल की अव्यवस्था के कारणों की जाँच तथा भविष्य में उसके रोकने के लिए सिफारिश करने को एक जाँच कमीशन नियुक्त करेंगी। कमीशन का सभापतित्व हाई-कोर्ट का कोई न्यायाधीश करेगा और उसके सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिनमें लोगों को विश्वास हो। (ल) शीघ्रातिशीघ्र ऐसी कार्रवाई करेंगी कि सांप्रदायिक वैमनस्य को बढ़ाने वाली बातों का

प्रचार न हो। जो इस अपराध के दोषी हों उन्हें कठोर दंड दिया जायगा। (व) इस प्रकार का प्रचार-कार्य न होने देंगी जिससे दूसरे देश के प्रदेश पर अतिक्रमण होता हो या लड़ाई छिड़ने की आशंका उत्पन्न हो। जो व्यक्ति ऐसे अपराध के दोषी हों उनके विरुद्ध कार्रवाई की जायगी।

(४) लोगों में विश्वास उत्पन्न करने की दृष्टि से, जिससे शरणार्थी अपने घरों को लौट जायँ, दोनों सरकारों ने अव्यवस्थित प्रदेशों में, आवश्यक अवधि तक, अपने एक-एक मंत्री को रखने तथा पूर्वी बंगाल, पश्चिमी बंगाल और आसाम के मंत्रि-परिषदों में अल्प-संख्यकों के एक प्रतिनिधि सम्मिलित करने का निश्चय किया है। आसाम के मंत्रि-परिषद् में पहले ही से ऐसा मंत्री है। पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल के मंत्रि-परिषदों में शीघ्र ही एक ऐसा मंत्री नियुक्त किया जायगा।

(५) इस समझौते के कार्यान्वित करने में सहायता पहुँचाने के लिए दोनों सरकारों ने निश्चित किया है, कि उपर्युक्त (४) में सांकेतित मंत्रियों के अतिरिक्त वे आसाम, पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल के लिए अलग-अलग एक अल्प-संख्यक कमीशन नियुक्त करेंगी। कमीशन इस बात की जाँच करेगा कि समझौता किस सीमा तक कार्यान्वित किया गया है। वह उसके संबंध में सिफारिशें भी कर सकेगा।

नेहरू-लियाकतअली समझौता अपने काल का एक महत्वपूर्ण समझौता है। कुछ लोगों के मतानुकूल उसके कारण भारत और पाकिस्तान के परस्पर संबंध का एक नया अध्याय आरंभ हुआ है। दूसरे लोग उसे व्यर्थ समझते हैं। उनके मतानुकूल समझौते में एक भी ऐसी बात नहीं है जिसके संबंध में पहले से ही समझौता न हो गया हो। समझौता करने से ही सब कुछ नहीं

हो जाता। उसके कार्यान्वित करने की इच्छा, समझौता करने की इच्छा से अधिक आवश्यक है। इस प्रतिकूल मत के होते हुए भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि समझौते के पश्चात् दोनों देशों में सांप्रदायिक उत्पात कम हो गया है और बहुत से शरणार्थी अपने-अपने घरों को लौट गये है। इस समझौते के पश्चात् कुछ व्यापारिक समझौते भी हुए हैं, जिनसे दोनों देशों का परस्पर संबंध पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर हो गया है।

भारत और पाकिस्तान में मनोमालिन्य के उक्त कारणों की समीक्षा के पश्चात् हमें यह जान लेना चाहिये कि उक्त मनोमालिन्य चिरकालीन नहीं हो सकता। दोनों देश अतिकाल से एक ही देश के अंग रहे हैं। उनकी अनेक बातें दोनों देशों को एक इकाई मानकर की गयी हैं। कालांतर में जैसे-जैसे नयी समस्याएँ उपस्थित होंगी, उन्हें एक दूसरे की ओर खिचना पड़ेगा। विभाजन-जनित समस्याओं के कारण इस समय उनमें मतभेद है। किंतु ये समस्याएँ क्रमशः हल होती जा रही हैं। अब काश्मीर की समस्या ही एक ऐसी महत्वपूर्ण समस्या है जिसके विषय में दोनों देशों में मतभेद है। नेहरू-लियाकत अली समझौते के पश्चात् कुछ लोगों का यह विचार है कि परस्पर वार्तालाप द्वारा यह समस्या भी हल की जा सकती है। भारत की ओर से जनवरी सन् १९५० में एक ऐसे समझौते की भी बातचीत आरंभ हुई थी कि कोई भी देश दूसरे पर आक्रमण न करेगा। काश्मीर के समस्या के हल के बिना, पाकिस्तान ऐसे समझौते के लिए तैयार न था। फिर भी ऐसे समझौते की इच्छा दोनों देशों में समान रूप से विद्यमान है। संसार की समस्याएँ भी नित्यप्रति जटिलतर होती जा रही हैं। यह आशंका सर्वथा निर्मूल नहीं कि किसी भी समय संसार संकटग्रस्त हो जाय। ऐसी अवस्था में दोनों देशों की

रक्षा के लिए यह आवश्यक होगा कि वे मिलकर अपनी नीति को निर्धारित करें। सारांश यह कि भारत और पाकिस्तान का मौजूदा मनोमालिन्य अस्थायी है और कालांतर में दोनों देशों की मित्रता और घनिष्ठता अवश्यंभावी है।

भारत और संयुक्त राष्ट्र-संघ—अपने पर-राष्ट्र-संबंध के संचालन में, भारत जब कभी जिस किसी ढंग से संभव हो, संसार की शांति को बढ़ाना चाहता है। वह उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, संयुक्त राष्ट्र-संघ का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहता है जिनके लिए वह स्थापित किया गया है। अतएव भारत संयुक्त-राष्ट्र-संघ का सदस्य है। उसके प्रतिनिधियों ने उसकी विभिन्न संस्थाओं के विचारों में भाग लिया तथा उनके हल में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। उसने अपनी भी दो समस्याएँ, उसके द्वारा निर्णय के लिए, उसके समक्ष रखी हैं—(१) दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के प्रति बर्ताव की समस्या और (२) पाकिस्तान द्वारा काश्मीर पर आक्रमण की समस्या। पहली समस्या के सैद्धांतिक सत्य को संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने स्वीकार कर लिया है, पर वह उसके संबंध में कोई ऐसी कार्रवाई के करने में असमर्थ है जो दक्षिणी अफ्रीका की सरकार को भारतीयों के प्रति अच्छे बर्ताव के लिए बाध्य कर सके। भारत में संयुक्त-राष्ट्र-संघ की उक्त मनोवृत्ति के कारण कुछ असंतोष है। यही बात पाकिस्तान की समस्या के विषय में भी कही जा सकती है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ पाकिस्तान को आक्रमण-कर्ता घोषित न करके, अंतर्राष्ट्रीय गुत्थियों के कारण, उस समस्या पर ऐसे दृष्टि-कोण से विचार कर रहा है, जो भारतीयों को मान्य नहीं है। फिर भी भारत संयुक्त-राष्ट्र-संघ से सहयोग कर रहा है। उसने एशियायी सम्मेलन, संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अंतर्गत, किं

हैं। संयुक्त-राज्य-अमरीका के अत्यधिक प्रभाव के कारण कुछ लोगों की यह धारणा है कि संयुक्त राष्ट्र-संघ की आत्मा का हनन हो गया है। भारत-सरकार अभी तक सर्वथा इस मत के अनुकूल नहीं कही जा सकती, किंतु भारत के कुछ लोगों में इस प्रकार की मनोवृत्ति का उदय हो रहा है, विशेषकर इसलिए कि उसने भारत की समस्याओं पर उस दृढ़ता से विचार नहीं किया है, जो कोरिया के विषय में दिखलायी गयी है।

पर-राष्ट्र-संबंध के मूल सिद्धांतों का व्यावहारिक स्वरूप— भारत की पर-राष्ट्र-नीति के मूल तत्वों का विवरण हम इस अध्याय के आरंभ में दे चुके हैं। ऊपर पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन की महत्व पूर्ण बातों का भी विवरण हो चुका है। क्या इन दोनों में सामंजस्य है? बहुत अंश तक अवश्य है। भारत संसार की शांति बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है। कोरिया के संबंध में उसके प्रयत्न इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वह संयुक्त-राष्ट्र-संघ की भी उसके उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता कर रहा है। उसने अपने दो मामले उसके विचाराधीन कर रखे हैं। भारतीय प्रतिनिधि उसकी विभिन्न कमेटियों के विचारों में भाग लेते हैं। भारत ने अटलांटिक या पैसीफिक पैक्ट की भाँति अलग संस्थाओं के निर्माण द्वारा संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रभाव को घटाने का प्रयत्न नहीं किया है। वह एशिया की निर्बल जातियों को ऊपर उठाने में प्रयत्नशील है। इंडोनेशिया और वाइटनाम रिपब्लिक के संबंध में किये गये उसके काम इस संबंध में उल्लेखनाम हैं। उसने फ्रांस और हालैंड की नाखुशी का ख्याल न करके इन देशों की खुल्लम-खुल्ला सहायता की है। वह यह नहीं चाहता कि एशियायी देशों में ऐसी सरकारें हों जो विदेशी सेना के बल पर देश पर शासन करें। इसी उद्देश्य से

वह कोरिया की लड़ाई को शांतिपूर्ण तरीकों से हल करना और स्वयं अपने क्षेत्राधिकार से, जनानुमति के आधार पर, फ्रांसीसियों और पुर्तगाल वालों को निकालना चाहता है। उसने अपने पर-राष्ट्र-संबंध भी स्थापित कर लिये हैं। पर क्या वह तटस्थता की नीति में सफल हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर भी हमें 'हां' में ही देना पड़ेगा। भारत ने दो गुट्टों में से अब तक किसी का साथ इस प्रकार नहीं दिया है कि वह एक पक्षीय समझ लिया जाय। यदि एक ओर वह संयुक्त राष्ट्र-संघ के साथ है तो दूसरी ओर, अपनी सेनाओं को कोरिया की लड़ाई में सम्मिलित करके, उसने अमरीकी कैंप में पदार्पण नहीं किया है। यदि एक ओर वह लाल चीन को अभिज्ञात करके सुरक्षा-परिषद् में उसे स्थान दिलाना चाहता है तो दूसरी ओर तिब्बत में उसके सैनिक आक्रमण को गलत बतलाने के कारण वह साम्यवादी रूस का साथी नहीं कहा जा सकता। सारांश यह कि वह प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न पर न्याय की दृष्टि से विचार करता है, किसी एक पक्ष के सदस्य की भांति नहीं।

पर-राष्ट्र-नीति की आलोचना—पर-राष्ट्र-नीति के विषय में आजकल भारत में तीन विभिन्न वर्गों के लोग पाये जाते हैं। पहले वर्ग वाले आदर्शवादी कहे जा सकते हैं। ये मनुष्य के अधिकतम नैतिक विकास के पक्ष में हैं। फलस्वरूप ये सेना, युद्ध, पर-राष्ट्र-नीति आदि सभी बातों को अनावश्यक समझते हैं। भारत की मौजूदा स्थिति में ऐसे लोगों का कोई स्थान नहीं। व्यावहारिक जीवन में आदर्शवाद कपोल कल्पना के समान है। दूसरे वर्ग वाले फासिस्टवाद की ओर झुके हुए हैं। वे छोटी-छोटी बातों से क्रुद्ध हो लड़ाई या बदले की चर्चा करने लगते हैं। पर-

राष्ट्र-संबंध संचालन में वे अधिक उत्साही हो भारत के खोये हुए प्रदेशों को पुनः अधिकृत करना चाहते हैं। भारत की मौजूदा स्थिति में इन लोगों का भी कोई स्थान नहीं है। तीसरे वर्ग के लोग यथार्थवादी कहे जा सकते हैं। ये कल्पना के संसार में न रह कर वास्तविक संसार के अनुसार पर-राष्ट्र-नीति निर्धारित करना चाहते हैं। यदि एक ओर ये मनुष्य के नैतिक विकास पर जोर देते हैं तो दूसरी ओर सेना और युद्ध की आवश्यकता को स्वीकार करते तथा युद्ध के लिए तत्पर रहने पर भी जोर देते हैं। भारत की मौजूदा सरकार यथार्थवादी दृष्टि-कोण की है और इसीके अनुसार अपनी पर-राष्ट्र-नीति को निर्धारित तथा पर-राष्ट्र-संबंध का संचालन कर रही है।

कुछ यथार्थवादियों के मतानुकूल स्वतंत्र भारत का पर-राष्ट्र-संबंध संचालन उतने अच्छे ढंग से नहीं किया गया है, जितने अच्छे ढंग से वह अन्यथा किया जा सकता था। उनके विचारानुकूल भारतीय राजनीतिज्ञों में दूर-दर्शिता का अभाव तथा वक्तव्य निकालने और भाषण देने की अनुपम चाह है। फलस्वरूप वे कभी-कभी ऐसी बातें कह डालते हैं जिनके विरुद्ध कुछ ही दिनों में उन्हें आचरण करना पड़ता है। उदाहरण के लिए राष्ट्र-मंडल में भारत के स्थान का उल्लेख किया जा सकता है। जब संविधान सभा में, ध्येय संबंधी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था, उसी समय भारतीय राजनीतिज्ञों को, राष्ट्र-मंडल की सदस्यता की आवश्यकता पर विचार कर लेना चाहिये था। किंतु ध्येय संबंधी प्रस्ताव को स्वीकार तथा भारत को सर्व प्रभुत्व-संपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य घोषित करके राष्ट्रमंडल की रियायतों तथा लाभों के लिए उसकी सदस्यता को स्वीकार करना कुछ ठीक नहीं प्रतीत होता है। यह सच है कि व्यवहार में स्वतंत्र भारत और राष्ट्र-मंडल के सदस्य

भारत में कुछ भी अंतर नहीं है। किंतु अंतर्राष्ट्रीय जगत में साधारणतया वास्तविकता पर उतना जोर नहीं दिया जाता जितना कानूनी बारीकियों पर और इस दृष्टि से यह स्वीकार करना अनिवार्य है कि सर्वप्रभुत्व संपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य और राष्ट्र-मंडल के सदस्य में कुछ अंतर अवश्य है।

दूसरी बात जिसके संबंध में भारत के पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन की आलोचना की जाती है वह काश्मीर की समस्या है। इसमें संदेह नहीं कि पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया था और भारतीय और पाकिस्तानी सेनाएँ एक दूसरे के सामने थीं। युद्ध छिड़ जाने की भी आशंका थी। इसका प्रभाव पाकिस्तान पर उतना ही अधिक पड़ता जितना भारत पर। फिर भारत, अति व्यग्रता से परस्पर वार्तालाप किये बिना, इस समस्या को संयुक्त राष्ट्र-संघ के समक्ष क्यों ले गया ? क्या उसने इस बात पर विचार किया था कि पाकिस्तान का रुख इसके संबंध में क्या होगा ? क्या उसका इस बात में विश्वास था कि संयुक्त-राष्ट्र-संघ के सदस्य अपने हित का ध्यान न करके नितांत सत्य के पक्ष में अपना मत प्रकाश करेंगे। गत सौ बरसों का अंतर्राष्ट्रीय इतिहास इस निष्कर्ष-के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रीय स्वार्थ-साधन उसका मूलमंत्र रहा है। काश्मीर की समस्या को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के विचारार्थ, उसके समक्ष रखने के पूर्व, भारत को इन बातों पर विचार कर लेना चाहिये था। उसे विपक्षियों की दलीलों तथा अंतर्राष्ट्रीय जगत के रवैये के अनुसार ही अपने सब कामों को करना चाहिये था। ऐसा न करने के कारण काश्मीर की समस्या राज्यों के गोरखधंधे में उलझ गयी है और उसका ऐसा निर्णय-दृष्टिगोचर नहीं होता, जो भारत की मान-मर्यादा तथा सत्य के अनुकूल हो।

तीसरी बात जिसके संबंध में भारत की पर-राष्ट्र-नीति की कड़ी आलोचना की जा रही हैं, वह मुद्रा-अवमूल्यन की है । १३ सितंबर सन् १६४६ को भारत ने इंगलैंड के साथ-साथ अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया । इस संबंध में विशेषज्ञों का परामर्श लिया गया या नहीं और यदि लिया गया तो उनके परामर्श के अनुसार काम किया गया या नहीं, ये विवादास्पद प्रश्न हैं । किंतु यह निश्चित है कि पाकिस्तान का परामर्श नहीं लिया गया । अब तक भारत और पाकिस्तान के रुपये के मूल्य में किसी प्रकार का अंतर न था । किंतु इस तिथि के पश्चात् हो गया । पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया । फलस्वरूप भारत के लगभग १५०) पाकिस्तान के १००) रुपये के बराबर हो गये । उन दिनों पाकिस्तान की नीति की कड़ी आलोचना की गयी । यहाँ तक कह डाला गया कि पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति कुछ ही दिनों में डाँवाडोल हो जायगी । किंतु वास्तविक स्थिति इसके भिन्न निकली । खाद्यान्न के संकट के कारण सन् १६५१ के आरंभ में भारत ने पाकिस्तान के साथ एक व्यापारिक समझौता किया जिसमें उसे पाकिस्तान के रुपये की विनिमय की दर को उसकी ही शर्तों पर स्वीकार करना पड़ा । पता नहीं कि इस संबंध में भी विशेषज्ञों का परामर्श लिया गया था या नहीं, और यदि उनके परामर्श के अनुसार सब बातें की गयी थीं, तो उनके विचारों में इतना अधिक परिवर्तन इतने अल्पकाल में किन आधारभूत कारणों की वजह से हो गया था ।

तटस्थता की नीति की भी कड़ी आलोचना की जा रही है । संसार की मौजूदा स्थिति में या तो निर्बल शक्तियाँ तटस्थ रह सकती हैं या महाशक्तियाँ । भारत ऐसा राज्य, जो एशिया के मध्य में स्थित है और जिसके चारों ओर ऐसी स्थिति है कि किसी भी समय आग उभड़ सकती है, तटस्थ रह सकता है अथवा नहीं,

यह एक विवादास्पद बात है। तटस्थता की नीति के कारण, संसार के विभिन्न राज्य, भारत के प्रति वह सहानुभूति नहीं दिखला रहे हैं जिसका वह वास्तव में अधिकारी है। भारत में खाद्यान्न-संकट है। दुर्भिक्ष उसके सामने नाच रहा है। संयुक्त-राज्य अमरीका, सोवियट रूस और लाल चीन तीनों के पास अतिरिक्त खाद्यान्न है। भारत उसे मोल लेना चाहता है, पर इस काम में भी उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। संयुक्त राष्ट्र-संघ में आज उसका प्रभाव इतना अधिक नहीं जितना पहले था। वह संस्था ही अपने उच्चादर्शों से गिरती हुई दिखलायी पड़ रही है। सारांश यह कि तटस्थता की नीति के कारण अंतर्राष्ट्रीय जगत में भारत का स्थान उतना ऊँचा नहीं है जितना वास्तव में होना चाहिए।

पर-राष्ट्र-नीति के मूल आधार—क्या भारत को अपनी पर-राष्ट्र-नीति में परिवर्तन करना चाहिये। इस दिशा में पहला पग उठाया जा चुका है। तटस्थता की नयी व्याख्या की गयी है। यदि भारत के हितों पर आघात होता हो या उसकी सुरक्षा खतरे में हो, तो वह तटस्थता की आड़ में ऐसी बातों को सहन न करेगा। संभवतः भारत को अपनी पर-राष्ट्र-नीति में कुछ अन्य परिवर्तन भी करने पड़ेंगे। उसकी पर-राष्ट्र-नीति का उद्देश्य यह होना चाहिए कि अंतर्राष्ट्रीय जगत में उसका वह स्थान हो जाय जिसका वह अधिकारी है। इसके दो आधार हो सकते हैं—(१) सामूहिक सुरक्षा का आधार और (२) प्रादेशिक पैक्ट का आधार। सामूहिक सुरक्षा संयुक्त राष्ट्र-संघ की सफलता पर निर्भर करती है। यह संस्था शक्तिशाली तो है पर इतनी शक्तिशाली नहीं कि उस पर पूर्णतया विश्वास किया जा सके। भारत ने अभी तक किसी प्रादेशिक पैक्ट का निर्माण नहीं किया है।

उसने अपने निकटवर्ती देशों से व्यापारिक संधियाँ अवश्य की हैं, पर वे संधियाँ इस प्रकार की नहीं हैं कि उनके आधार पर भारत की सुरक्षा आधारित की जा सके। इन दोनों से भी अधिक महत्वपूर्ण बात आंतरिक दृढ़ता है। सफल पर-राष्ट्र-संबंध के लिए यह आवश्यक है कि आंतरिक बातों में देश को किसी का मुँह न ताकना पड़े। भारत की स्थिति आजकल ऐसी नहीं है। आंतरिक विकास के लिए वह दूसरे देशों पर निर्भर है। स्वतंत्रता के पश्चात् उसे खाद्यान्न तक के संकट का सामना करना पड़ रहा है। ऐसी अवस्था में किसी देश का अंतर्राष्ट्रीय स्थान बहुत ऊँचा नहीं हो सकता। सारांश यह कि अपने अंतर्राष्ट्रीय स्थान को ऊँचा करने के लिए यह आवश्यक है कि भारत में आंतरिक दृढ़ता हो। तभी वह प्रादेशिक पैक्टों और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांतों के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय जगत में अपने प्रभाव को बढ़ाने में सफल हो सकेगा।

मुद्रक—वासुदेव आर्यभूषण प्रेस, ब्रह्माघाट, बनारस।